भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मंदिर

अध्यात्मसहस्री प्रवचन

अष्टम, नवम भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रबंध सम्पादक—

खेमचन्द जैन सर्राफ, सदर मेरठ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला एवं भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मंदिर

प्रकाशक :—
सुमेरचंद जैन, १५, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)
(प्रधानमंत्री भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिर)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमे।

संस्करण] १०००

[मूल्य ७

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरके आजीवन प्रवर्तक

श्री सेठ चादमल गणपतराय जी जैन, गोहाटी

वार्षिक संरक्षक

राची निवासी सर्वश्री हरकचदजी पाण्ड्या, श्री शान्तिकुमार जी जैन, श्री सूरजमल जी सरावगी, झूमरीतिलैया निवासी सर्वश्री भवरीलाल जी पाण्ड्या, श्री जगन्नाथ जी पण्ड्या, गिरीडिह निवासी श्री सी एल. सरावगी, श्री शिखरचद जी जैन खरखरी, श्री पुष्पादेवी झरिया, श्री नथमल जी जैन लालगोला, श्री हरकचद जी जैन लालगोला, श्री मातेश्वरी सोहनलाल जी जियागज, श्री सगुनचद जी जैन गनकर, श्री वेगराज जी जैन गनकर, श्री भंवरीलाल जी पाटनी जगीपुर, श्री रतनलाल जी सेठी जगीपुर, श्री मोहनलाल जी सेठी सन्मतिनगर, श्री धरमचद जी सेठी सन्मतिनगर, श्री सीकरीलाल जी पाटनी कानकी, श्री मागीलाल जी दीनहटा।

वार्षिक प्रवर्तक

सर्वश्री कालूरामजी मोदी गिरिडीह, जैन जूट सप्लाई, प्रो० कन्हैयालाल जैन लालगोला, श्री दानमल जी जैन सरावगी लालगोला, श्री चम्पालाल जी पाटोदी गनकर, श्री मोतीलाल नेमिचद जी कानकी, श्री भवरीलाल नेमिचद जी पाटनी वारसोई, पाटनी जूट सप्लाई वारसोई, श्री प्रेमसुख जी पाण्ड्या किशनगंज, श्री प्रेमसुख रतनलाल जी पाण्ड्या किशनगंज, श्री चम्पालाल जी सरावगी वड़पेटारोड, श्री सागरमल जी चूडीवाल, श्री घीसालाल जी जैन गोमिया, श्री गुलाबी देवी जैन साढम,

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मंदिरके आजीवन संयोजक

१	श्री नेमिचद जी पाण्ड्या एम्पर आसाम	गोहाटी
२	,, गुलाबचन्द मन्नालाल जी	,,
३	,, छोगमल मदनलाल जी	,,
४	,, रामदेव सतोषकुमार जी पाटनी	,,
५	,, चादमल गुलाबचद जी गगवाल	,,
६	,, केशरी देवी ध० प० श्री लक्ष्मीचद जी छाबड़ा	,,
७	,, रामप्रताप मूलचद जी छाबड़ा	बलवाड़ी
८	,, मोतीलाल जी रारा	,,
९	,, सचालिका दि० जैन महिला समाज	बलवाड़ी

१० श्री चुन्नीलाल बहादुर एण्ड संस	जोरहाट
११ ,, गणेशमल खेवरचंद जी बड़जात्या	डिब्रूगढ़
१२ ,, बैजनाथ कैलाशचन्द जी बड़जात्या	नई मंडी, मुजफ्फरनगर
१३ ,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी जैन	नई मंडी, मुजफ्फरनगर
१४ ,, भागचंद जी पाटनी फर्म गोपालराय श्रीराम जी	,,
१५ ,, हजारीलाल जी जैन	ईसरी बाजार
१६ ,, फूलचंद त्रिलोकचंद जी पाटनी	इम्फाल
१७ ,, मोतीलाल छगनमलाल जी पाटनी	इम्फाल
१८ ,, मगलचंद मेघराज जी पाटनी	,,
१९ ,, भंवरीलाल बाकलीवाल एण्ड कम्पनी	,,
२० ,, शान्तिदेवी ध० प० श्री प्रेमचंद जी जैन	,,
२१ ,, जादोबाई द्वारा श्री केशरीमल जी छाबड़ा	,,
२२ ,, किस्तूरचंद जौहरीमल जी पाटनी	,,

वार्षिक संयोजक

१ श्री राजमल जैन भारत माइका इण्डस्ट्रीज	गिरिडीह	(हजारी बाग)	१२०)
२ ,, गिरनरीलाल जैन सर्राफ	,,	,,	,,
३ ,, सूरजमल प्रभूलाल गंगवाल	,,	,,	,,
४ ,, ब्रजलाल जी सरावगी	,,	,,	,,
५ ,, लक्ष्मीनारायन जी सरावगी	,,	,,	,,
६ ,, खिल्लो देवी ध० प० शम्भूदयाल जैन	झरिया	(धनबाद)	,,
७ ,, धर्मपत्नी पूरनमल जैन	,,	,,	,,
८ ,, मिनारो देवी ध० प० शान्तिप्रसाद जैन	,,	,,	,,
९ ,, मातेश्वरी श्रीगोपाल जी	,,	,,	,,
१० ,, बदरीप्रसाद जैन सरावगी	पटना		,,
११ ,, चांदकुमारी मातेश्वरी सुरेश बाबू	गया		,,
१२ ,, सोहनी बाई ध० प० श्री तारा बाबू	,,		,,
१३ ,, रतन बाई जी मातेश्वरी श्री जयकुमार	,,		,,
१४ ,, गुमनचन्द जैन मारवाड़ी	,,		,,
१५ ,, गुलाबचंद जैकुमार जैन	लालगोला	(मुर्शिदाबाद)	२००)
१६ ,, जयनारायन मोहरीलाल छाबड़ा	,,	,,	१२०)
१७ ,, कन्हैयालाल जी काला	जीयागंज	,,	,,
१८ ,, चन्दनमल प्रेमकुमार जी	,,	,,	,,
१९ ,, सनतकुमार जी छाबड़ा	मिर्जापुर पो० गनकर	(मुर्शिदाबाद)	,,
२० ,, कुञ्जलाल ज्ञानचन्द जी पाटनी	जंगीपुर	,,	,,
२१ ,, कन्हैयालाल दिलीपकुमार सेठी	औरंगाबाद	,,	,,

२२	श्री कालूराम रतनलाल सेठी	औरंगाबाद (मुर्शिदाबाद)	१२०)
२३	,, बन्शीधर ज्ञानचन्द जी	धूलियान ,,	,,
२४	,, धन्नालाल मोहनलाल	,, ,,	,,
२५	,, रिद्धकरण जी सोहनलाल	कानकी (वेस्ट दीनाजपुर)	,,
२६	,, पारसमल जी सरावगी	,, ,,	,,
२७	,, हुलासी देवी	,, ,,	,,
२८	,, कवरीलाल पाटनी विनोदकुमार पाटनी	,, ,,	१५०)
२९	,, दि० जैन महिला समाज	,, ,,	१२०)
३०	,, रामकुमार रामजीलाल	,, ,,	२६०)
		वारसोई हाट (पूर्णिया)	१२०)
३१	,, दि० जन महिला समाज	,, ,,	२०४)
३२	,, हरकचन्द कुन्तीप्रसाद चाँदबाड़ मालरा पाड़ा, किशनगंज	,,	१२०)
३३	,, घीसूलाल जी छोगानी	,, (पूर्णिया)	२४०)
३४	,, महिला समाज	किशनगंज ,,	२५५)
३५	,, जयचन्दलाल जी पाटनी	किशनगंज ,,	१२०)
३६	,, कन्हैयालाल कस्तूरचन्द जी	दिनहटा (कूच बिहार)	१५१)
३७	,, गणेशमल मोहनलाल जैन	,,	,,
३८	,, मदनलाल जी जैन	बड़पेटा रोड कामरूप	,,
३९	,, मुन्नीलाल जी रामावतार जी जैन	डालटनगंज	,,
४०	,, ताराचन्द एण्ड ब्रदर्स	गोमिया (हजारीबाग)	,,
४१	,, हिन्द जूट सफाई	धुबड़ी	२०१)
४२	,, दि० जैन समाज	,,	२०६)
४३	,, हुकमचन्द मोतीचन्द जैन	सुलतानपुर (सहारनपुर)	१२०)
४४	,, त्रिलोकचन्द जैन रईस	चिलकाना ,,	,,
४५	,, महेन्द्रकुमार जैन	,, ,,	,,
४६	,, आदीश्वर प्रसाद, राकेश कुमार जैन	,, ,,	,,
४७	,, श्रीयांसप्रसाद जैन वकील	,,	,,
४८	,, अरहदास विजयकुमार जैन	यादगार बड़तला सहारनपुर	,,
४९	,, सुकौशलप्रसाद विजयकुमार जैन बजाज	,,	,,
५०	,, बैजनाथ अशोककुमार जैन	मालीगेट ,,	,,
५१	,, कैलाशचन्द जैन बैङ्क वाले	चीरनगर ,,	,,
५२	,, देवराज जैन ज्वैलर्स	अम्बाला कैन्ट	,,
५३	,, विशालचन्द जैन रईस	सहारनपुर	,,
५४	,, नाहरसिंह एण्ड सन्स	मुजफ्फरनगर	,,
५५	,, फूलमाला जी धर्मपत्नी श्री महावीरप्रसाद जैन बैंकर्स	सदर मेरठ	,,
५६	,, चन्द्रशेखर जी जैन	थापरनगर, मेरठ	,,
५७	,, दीपचन्द्र जी जैन	विष्णु पुरी, कानपुर	,,
५८	,, इन्द्रजीत जी जैन एडवोकेट	,,	,,

५९ श्री मुनसुमरतदास जी जैन	अशोकनगर	कानपुर	१२०)
६० " प्रेमकुमार जी जैन	गांधीनगर	"	"
६१ " सकेलचन्द जैन	पी० रोड	"	"
६२ " जगदीशप्रसाद जी जैन	पंजाब नेशनल बैंक तीतरों (सहारनपुर)		"
६३ " बनारसीदास जैन	जैन मण्डी, मवाना (मेरठ)		"
६४ " बनारसीलाल जैन	पलटन बाजार, देहरादून		१५१)
६५ " प्रीतमदास जैन सर्राफ	राजा रोड	"	१२०)
६६ " चमनलाल जैन बरतन वाले	तिलक रोड देहरादून		"
६७ " हरीचन्द जैन रामपुर वाले		देहरादून	"
६८ " मातेश्वरी सुशीलचन्द जी रईस	तिलक रोड देहरादून		"
६९ " आनन्दप्रकाश जी जैन लोहे वाले		"	"
७० " रमेशचन्द जी जैन बल्ब फैक्टरी		"	"
७१ " शान्तिप्रसाद जैन खजांची स्टेट बैंक	शिमला		"
७२ " बालचन्द जैन खजांची पंजाब नेशनल बैंक	"		"
७३ " अजितप्रसाद जी जैन जनरल मैनेजर को ओपरेटिव बैंक, शिमला			"
७४ " दि० जैन सभा	मिडिल बाजार	"	"
७५ " बाबूराम जैन	वजीरपुर कालोनी	दिल्ली–७	१२०)
७६ " पूरनचन्द कैलाशचन्द जैन	शक्तिनगर	"	"
७७ " जयचन्द राय जैन	वीरनगर गुड़ मंडी	"	"
७८ " रिषभचन्द प्रेमचन्द जैन	युसुफसराय न्यू देहली-१६		"
७९ " रामगोपाल जैन ग्लास स्टोर	जुमा मसजिद देहली–६		"
८० " शिखर चन्द जैन	ग्रीन पार्क न्यू देहली–१६		"
८१ " प्रकाशचन्द जैन	"	"	"

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।। टेक ।।

मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।।५।।

—०—

[धर्मप्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नाकित अवसरो पर निम्नाकित पद्धतियो मे भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१ – शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमे ।

२ – जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमे छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

अध्यात्मसहस्री प्रवचन अष्टम भाग

प्रवक्ता——
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

विविध दार्शनिकोंके दर्शनकी आधारभूत दृष्टियोंके समझनेका संकेत——तेरहवे परिच्छेदमे आध्यात्मिक शक्ति और पर्यायगुणसे सम्बंधित वर्णन था। अब कुछ एक साधारणजनोके लिये रूखा-सा विषय आ रहा है, लेकिन तत्त्वको स्पर्श करते हुए कोई रूखासे भी रूखा विषय हो तो उससे भी हितकी शिक्षा मिलनेकी गुजाइश होती है। अब इस परिच्छेदमे यह बताया जायगा कि किन-किन मतोका किन दृष्टियोके बलपर आविर्भाव हुआ है? जिन दार्शनिकों ने जो भी अपना मत बनाया है तो जो घर छोडकर गए थे, अपनी बुद्धिके अनुसार तपश्चरण मे लगे थे और जिनको आत्मकल्याणकी वाञ्छा थी ऐसे ही वे सब साधु लोग थे, उन्होने किसीको भी जानबूझकर परेशानीमे, विडम्बनामे डालनेके लिए या मायाकी बात सोचकर भ्रममे डालनेके लिए अपने दर्शन बनाये हो, ऐसा उनका प्रयोजन न था। चले थे वे सब साधु संन्यासी आत्मकल्याणकी वाञ्छासे और उस शुद्ध तत्त्वके दर्शनके लिए, लेकिन हुआ क्या, उसको अगर संक्षेपमे कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि वे स्याद्वादका आश्रय लेना भूल गए। दृष्टियाँ तो सबमे उत्पन्न होती ही है। उन दार्शनिकोकी भी दृष्टियाँ हुईं और उन दृष्टियोमे जिनकी बुद्धि हो उनसे ऐसे अभिप्राय बनना, मत बनना, दर्शन बनना प्राकृतिक ही बात है। तो जब हम उन सभी सन्यासी साधुवोके एक भीतरी भावको सोचते है तो वे सभी कल्याणकी वाञ्छा करनेवाले लोग थे। कल्याण क्या है, किस ढगसे होता है? चाहे उनकी यह गुत्थी नही सुलझी हो, लेकिन जानबूझकर वे कोई बेईमामी या किसीको परेशानीमे डालनेका काम नही करना चाहते थे। अथवा यो समझिये कि जैसे निर्जन स्थानमे सभी तरहके साधु सन्यासी थे, स्याद्वादी साधु भी थे और और भी थे, परस्परकी समता व सङ्गति रहती थी तो मानो एक कोई जैनाचार्य स्याद्वादका आश्रय रखनेवाला बडे तत्त्वकी बात भाषणमे कह रहा था, सभी दार्शनिक उसकी बात सुन रहे थे। अब जब वर्णन होता है तो उसी वर्णनको सुनकर चूंकि सभी लोगोकी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न होती है, दृष्टियाँ भी भिन्न होती है. और उन दृष्टियोके उतार चढाव सग्रह करनेकी प्रकृति भी भिन्न भिन्न होती

है, तो किसीने किसी दृष्टिको मुख्य रखकर बात सुना, किसीने अन्य दृष्टिको मुख्य रखकर सुना, तो वहाँ पर भी लोगोंके विभिन्न अभिप्राय बन गए, ऐसे ही समझिये कि उन ही दृष्टियोंके बलसे उन्होंने अपने-अपने एक दर्शनकी रचना की, उसका प्रवाह चलाया।

दृष्टियोंमें दृष्टिके अनुरूप दर्शन—यहाँ यह बतलाते हैं कि उन मतोंकी उत्पत्ति किन दृष्टियोंपर हुई, उनके रचनेवाले लोग किस मूड मे थे, किस आशयमे थे, जिससे उन्हे वही बात सूझती थी। जैसे किसीने यह दृष्टि मुख्य बना ली कि हमे सब कुछ विनश्वर दिख रहा है, जो पहिले था अब नही रहता, पहिले कुछ विचारा अब कुछ। देखो—बिल्कुल ही बदल गया। और, लोग कहते भी हैं कि देखो—अमुक व्यक्ति पहिले तो मेरा शत्रु था और अब तो बिल्कुल ही बदल गया याने मेरा मित्र हो गया, अथवा देखो जो पहिले मेरा मित्र था वह अब बिल्कुल ही बदल गया याने मेरा शत्रु हो गया। या देखो अमुक व्यक्ति पहिले कितना क्रोधी था, अब शान्त हो गया, या देखो पहिले अमुक व्यक्ति कितना मोही था, अब विरक्त हो गया। तो ऐसी बात देखकर लोग कहते है कि देखो यह तो अब दूसरा ही हो गया है। ऐसे ही पर्यायकी मुख्यता रखकर जब निरखा तो वहाँ क्या आया कि यह जीव पहिले दूसरा था अब दूसरा जीव आया। तो उस दृष्टिके मूडमे रहे जब यो देखा तो इसमे कोई भीतरमे क्या उनके बेईमानी करने या धोखा देनेकी बात थी? अरे उनके अन्दर एक चूक थी। देखिये—बेईमानी और चूक इन दोनोमे अन्तर है। बेईमानीमे तो यह बात चित्तमे बसी होती है कि लोगोको भ्रम हो जाय, ये विडम्बनामे पड जायें, दु खमे पड जायें , पर चूकमे ये बातें उनके चित्तमे नही होती। वे तो अपने हितकी वाञ्छासे ही वैसा आशय बना लेते है। उन दार्शनिकोंके चित्तमे बेईमानी करने की बात आयी हो, यह बात उनमे असंभव प्रतीत होती है क्योकि उनके अन्दर बेईमानी करनेका भाव (आशय) न था। यहाँ इसी बातका वर्णन चलेगा कि किसी दार्शनिक ने जैन दर्शनकी बात कही तो उसको सुनकर किन किन लोगोंका कैसा कैसा मूड बना, कैसा आशय बना तथा किन-किन दृष्टियोंके आधार पर वे अनेक मत (दर्शन) बन गए।

मतोद्भवकी आधारभूत सग्रहदृष्टि व नैगमनयका अपदेश—उक्त बातको समझनेके लिए पहिले कुछ उन दृष्टियोंके नाम भी समझ लेना चाहिए कि जिनका प्रयोग, जिनका उपयोग उन दार्शनिकोंके हुआ है। जैसे सग्रह दृष्टि याने सबका सग्रह करके फिर जो उस मे एकान्त बनाना वह सग्रहदृष्टि है। सामान्य दृष्टिने देखा सबको, पर उन सबको एक सामान्यरूपसे निरखा तो वे अनेक व्यक्तियाँ थी। उन व्यक्तियोको व्यक्तित्व न देकर एक सामान्यरूपमे एकता उत्पन्न कर दे, एक यह भी दृष्टि होती है। ये सब दृष्टियाँ स्याद्वादसे अलग नही है और तत्त्वका ही प्रतिपादन करनेवाली हैं, लेकिन जब आग्रह हो जाता है

एकान्त हो जाता है तो इसको चूक कहा करते है। विशेषदृष्टि— जहाँ कुछ भी फर्क दीखे वहाँ विल्कुल भिन्नता और पार्थक्य लाना, यह एक विशेषदृष्टिके एकान्तका परिणाम है। जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष अलग अलग है। ब्राह्मण अलग चीज है, ब्राह्मणत्व अलग चीज है और आत्मा अलग चीज है। वहाँ विशेष समझमे आया, ऐसा वर्णन तो स्याद्वादमे भी आता है। इस आत्मामे अनन्त शक्तियाँ है। जो ज्ञानशक्तिका स्वरूप है क्या वही दर्शनशक्तिका स्वरूप है अथवा सुखादिक शक्तिका स्वरूप है ? भिन्न-भिन्न स्वरूप है। अब भिन्न-भिन्न स्वरूप है तो ये भिन्न-भिन्न ही है, बस आग्रह बन गया। तो उसी विशेषका एकान्त हो जाय ऐसा भी कोई आशय होता है और ऐसे आशयमे रहनेवाले दार्शनिककी जो कलम चलेगी वह उसका ही अनुमोदन करेगी। ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि— ऋजुसूत्रनय भी नय है, पर इस नयका काम व्यवहार कराना नही है, केवल एक तत्त्व-विषयक परिज्ञान कराना है। लेकिन ऋजुसूत्रनयमे कहे हुए तत्त्वको बताना कि बस तत्त्व इतना ही है, यही वास्तविक है, ऐसा कहकर व्यावहारिक रूप भी देवे तो यह भी एक आग्रह हो जाता है और इस आग्रहमे भी कुछ दर्शनोकी रचना हुई है। नैगमनय एक संकल्प-ग्राही नय कहलाता है और इसी कारणसे नैगमनयका इतना बडा पेटा है कि इसके विषय सत् और असत् दोनो हो जाते है। याने कितने अचम्भेवाली बात है कि असत् भी क्या प्रमेय हुआ करता है ? असत् प्रमेय नही माना गया है क्योकि प्रमेयत्व गुण सत्मे माना गया है। नही है प्रमेय, मगर नैगमका इतना बडा पेटा है कि सत् असत् दोनोका परिचय देता है उसे कहते हैं नैगमनय। और इस नैगमनयके अभिमतका जो लोग एकान्त कर दे हो उनका यह अवस्तुस्वरूप होगा। हाँ, जहाँ नय अन्यनयसापेक्ष रहे वहाँ नय सुनय हैं।

मतोद्भवकी आधारभूत निमित्तदृष्टि, स्वभावदृष्टि व क्रियादृष्टिका अपदेश---निमित्त-दृष्टि—निमित्त क्या है नही, उसको कोई न माने, अटपट माने तो बात कैसे बनेगी ? निमित्तके अपरिचयमे कोई खाना न खा सकेगा भूखा रहेगा, वह चल भी न पायगा, कुछ व्यवहार ही न हो सकेगा। लेकिन भोजन करानेवाला तो रोज-रोज निःशक होकर भोजन बनाता है। उसे यह शका नही है कि कल तो इस पद्धतिसे रोटी बन गई थी, आज पता नही बनेगी या नही, आप सभी समझ रहे हैं ये सारे विषमपरिणमन सहेतुक है। तो निमित्त कुछ नही है ऐसा कहना भी ठीक नही, पर निमित्त दृष्टिका ही इतना एकान्त बना लिया जाय कि वह ही उपादानका रूप रख ले तब तो फिर यह एकान्त कहलायगा। जैसे निमित्त दृष्टिसे अमुक कर्ता है तो ठीक है, पर उसका अर्थ तो इतना ही है कि इस निमित्तका उसमे अत्यन्ताभाव है। चतुष्टय निराला-निराला है। परिणममान उपादानका निमित्तके किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सम्बन्ध नही है, लेकिन अन्वयव्यतिरेककी व्याप्ति लग रही है,

उसके होनेपर हुआ है, नहीं होनेपर नहीं हुआ है, इस कारणसे निमित्तकी बात सही है। फिर भी निमित्त शब्दका प्रयोग ही यह बात बतला देता है कि उपादानका उसमे अत्यन्ताभाव है। लेकिन उस निमित्त दृष्टिका कोई इतना एकान्त कर ले कि यही करनेवाला है और यही उसका स्वामी है तो वह निमित्तदृष्टिका एकान्त है। इस आशय (मूड) मे भी किसी दर्शनकी उत्पत्ति हुई है, यह बताया जायगा। स्वभावदृष्टि—स्वभाव पदार्थोंमे पाया जाता है। आत्मामें भी स्वभाव है, अब उस स्वभावका एकान्त कर लेना कि वही है शाश्वत, इसके विपरीत कुछ होता ही नही है, याने इस दृष्टिमे रागद्वेष विषयकषाय आदिकका निषेध हो जाता है, और उसका निषेध एक व्यावहारिक रूपताको लेकर कोई करने बैठे तो वह स्वभावदृष्टिका एकान्त है। थोडा इन दृष्टियोका मामूली परिचय देकर बताया। आगे क्या गया कि यदि कोई दार्शनिक यह कह रहा है तो उसमे किन-किन दृष्टियोका उपयोग होता है, उन दृष्टियोसे परखनेपर उनकी बात सत्य साबित होती है कि हाँ ठीक कह रहा है, यदि कोई ऐसी दृष्टि रखे, इस मुद्रामे हो, इस आशयमे हो तो उससे आशा की जानी चाहिए जैसा कि उसने रचा है। क्रियादृष्टि—एक क्रिया, काम, इसकी ही दृष्टिका एकान्त रखकर आन्तरिक निर्णयकी बात बता देना यह एक एकान्त है, जैसे थोडी देरके लिए पूजा, पाठ, दया, दान, तपश्चरण आदिक क्रियाओमे रहता हुआ जीव सुपात्र रहता रहता है, उसमे पात्रता रहती है कि वह अपना अन्तर्बल सम्हाले तो अपने आपमे स्पष्ट बन जायगा, लेकिन बात तो इस ढगमे है और कोई वहाँ ही एकान्त कर ले कि ऐसा करने मे ही मुक्ति है, यही सब कुछ कर देगा। तो वह एक आग्रह बन जायगा। इसी तरह किन्ही दृष्टियोमे क्रियादृष्टिका आग्रह हुआ।

मतोद्भवकी आधारभूत विज्ञानदृष्टि व ज्ञानाकारदृष्टिका अपदेश— विज्ञानदृष्टि— कोई सब जगह एक ज्ञानात्मकताकी ही दृष्टि निरखे तो उस आशयमे उसे सारा लोक ज्ञानमय ही तो दिखेगा। ज्ञानसम्बन्ध बना यह चीज कहाँसे बन गई ? इतने आकारोसे कैसे बन गई ? तो एक विज्ञानदृष्टिका एकान्त होना यही है विज्ञानदृष्टि। ज्ञानाकारदृष्टि—ज्ञानमे ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार दो ढगोकी बात है। जैसे कहा सामान्य और विशेष। जैसे कहा गया है निराकार और साकार, दर्शन और ज्ञान, इन सबकी जोडी लगा लीजिए, दर्शनका क्या स्वरूप है इसके विषयमे यद्यपि कई परिभाषायें आजकल भी दृष्टिगत हैं। कोई कहता है कि सामान्यग्रहण दर्शन है, कोई कहता है कि आत्मप्रकाशन दर्शन है। कही लिखा हुआ है कि केवल आत्माका वही ज्ञानाकार प्रतिभास दर्शन है। लेकिन सभी सभी परिभाषाओका ज्ञानाकार ग्रहणमे अन्तर्भाव हो जाता है, उस पर यदि बहुत निर्णयदृष्टिसे विचार करें तो यह सबमे साबित होगा कि ज्ञानाकार ग्रहण हुआ, निराकार ग्रहण हुआ, सामान्य स्व-

भाव ग्रहण वह सब दर्शन है। और जहाँ यह बात आती है कि दर्शन इसे भी कहते है और लिखा भी है कि जैसे घटको कोई जान रहा था, अब घटका जानना छोडकर पटको जानने चला कपडेको जानने चला तो घटका जानना छूटा, पटका जानना हो नही पाया, बीचमे जो इसकी स्थिति है वह दर्शनकी स्थिति है। अब उस दर्शनकी स्थितिमे विचार करे तो जिसने जो परिभाषा दर्शनके विषयमे कही है वह सब घटित हो जाती है, हुआ क्या उस स्थितिमे कि पट ज्ञान करनेके लिये यह सचेष्ट हो रहा है। तो पटविषयक बोधके लिए जो इसके सचेष्टता है उसमे तद्विषयक सामान्य ग्रहण किया गया। हो क्या रहा है वहाँ कि उस बीचकी स्थितिमे न तो घटाकार ग्रहण है, न पटाकार ग्रहण है, किन्तु है क्या वहा ग्रहणमे ? चेष्टारूपमे यह ही दूसरा। दूसरा आकार अभी यहाँ नही बना है। लो चलो—आत्मप्रकाशन दर्शन है यह भी बात बन गई और ज्ञानाकार ग्रहण है यह भी बात बन गई, लेकिन ज्ञानाकार ग्रहण होकर भी यह मैं हू, यह निर्णीति मोहियोमे नही जगती। हो रहा है ज्ञानाकार ग्रहण, पर हो रहा है जैसे कि सोये हुए पुरुषके हाथ चल गये, पर वहाँ निर्णय नही है कि यह मै हाथ चला रहा हूँ, ऐसे ही दर्शनोपयोग अनेको बार यहाँ अनिवार्यत हो रहा है, किन्तु वह मेरा स्वरूप है, इस रूपमे दर्शनका दर्शन नही हो पाया और वह सम्यक्त्व की पद्धतिमे नही आ पाया, लेकिन सभी जीवोके यहाँ छद्मस्थ जीवोको भी समय-समयपर ज्ञानाकारग्रहण, सामान्यग्रहण, आत्मप्रकाशन, परग्रहणके लिए सचेष्टता–ये स्थितियाँ आया करती है। तो कोई ज्ञानाकारका ही एकान्त कर ले तो उस एकान्तमे किन्ही दर्शनोकी रचना हो जाती है, इसका वर्णन चलेगा।

मतोद्भवकी आधारभूत सांव्यवहारिक दृष्टि व स्वानुकूलित सर्वज्ञत्वदृष्टिका प्रतिबोधन-- साव्यवहारिक दृष्टि--जो व्यवहारमे है, रुढिमे है बस उसके आधारसे ही तत्त्वनिर्णय करना, यह व्यवहारिक दृष्टियोका एकान्त है, और इस एकान्तमे अनेक विडम्बनाये भी बन जाती है। उसमे तत्त्व भी बन जाता है, लेकिन साव्यवहारिक दृष्टिका निर्णय इन्ही वाच्योसे सर्वथा सत्य हो, सो बात नही, पर एकान्तमे क्या क्या बात हो जाती है ?इसका वर्णन किया जायगा। स्वानुकूलित सर्वज्ञत्वदृष्टि—बहुतसे दर्शनोकी सिद्धि इस आधारपर की गई है कि जैसी उनकी बुद्धि है, जैसा उनके ज्ञानमे है उस ज्ञानके अनुसार बडे से बडे भगवान तकमे सबमे उसी बातको खोजना। ऐसी प्रकृति होती है मनुष्योमे कि दूसरेमे जो कुछ घटा पायगा वह अपनी बुद्धिके अनुसार घटा पायगा। और यह खोज अन्त तक चलायी गई तो यह अपेक्षित बुद्धिमे स्थित हो गया। जैसे जो सर्वज्ञके ज्ञानमे आया तो क्या आया ? जो हो सो आया। तो जो ज्ञात है सो हुआ। इस बातको हम इस रूपसे अगर कह बैठे कि जो भगवान की मर्जीमे आया सो हुआ, भगवानकी मर्जी बिना पत्ता नही हिलता, तो हम भी यहा देख

रहे है कि हमारे ज्ञान के माथ मर्जी लगी है और मर्जीके अनुसार बात चलती है तो अपनी बुद्धिके माफिक अपने परिणमनके अनुकूल हम बाहरमे भी निर्णय करके एकान्त बनायें, इस तरह भी कुछ दार्शनिकोने अपने दर्शनकी रचना की है याने दार्शनिकोने जो रचना की है उसमे उनकी दृष्टि क्या रहती थी, इस बातका वर्णन इस परिच्छेदमे चलेगा।

मतोद्भवकी आधारभूत सामान्य सर्वपरिणमनदृष्टि व सामान्य सर्वनिमित्तदृष्टिका प्रतिबोध—एक है सामान्यसर्वपरिणमनदृष्टि–परिणमन सबको दीखे, और सब दिख गए सामान्यरूपसे, तो देखिये किसीकी बात कुछ और बनकर क्या रूप रख लेती है, यह बताया जायेगा सामान्य सर्वपरिणमनदृष्टिके विवेचनमे। जो इनका एकान्त कर लेते है उनका क्या सिद्धान्त बन जाता है? जैसे उदाहरणके लिये ये परिणमन जितने चल रहे है इनमे एक जीवकी, ज्ञानकी मुख्यता है और जीवके सम्बन्धमे ही ये पत्थर आदिक जो सकलमे आये है ये भी जीवके सम्बन्धसे आये है। आज नही है सम्बन्ध मगर पृथ्वी-कायिक जीव न होता तो ये पत्थर सकल कहाँसे आ पाते? ये जीवके सम्बन्ध बिना हुए क्या? तो ये सब जीवकी बातें है, जीवकी रचनाये है, और ये है भिन्न-भिन्न जीवोकी बाते, लेकिन चूंकि सभी जीवोके वह चीज चल रही है और वह सब है एक सामान्य रूपसे एक समान। तो यो सबका परिणमन देखें, सामान्यको देखे तो इस दृष्टिसे बढ बढकर यह बात समझमे आती है कि वह सब कुछ एक जीवकी एक ईश्वरकी एक ब्रह्मकी माया है, तो यो संयुक्त हो होकर ऐसे नयोके आधारपर इन दार्शनिकोंकी रचना बनी हुई है। एक दृष्टि है सामान्यसर्वनिमित्तदृष्टि—जीवके निमित्त बिना यहाँ कुछ नही होता। यह चटाई है, यह पत्थर है, यह आदमी है, यह कीडा है , जो जो भी चीजें आँखोसे दिख रही है उन सबमे जीव निमित्त है। बिना जीवके निमित्तके ये चीजे ऐसी नही हुई है। यह भी तो एक परख है ना। इस परखमे आगे इतना बढे कि वह निमित्तनैमित्तिक रूप न रहा, क्योकि सर्वस्व बना डाला। सब उसीकी करामात है। वह न हो तो कुछ न हो। तो सब उसीने बना डाला, और चूंकि ऐसे निमित्त है सभी जीव और उनको सामान्यतया देखा तो उस दृष्टिमे यह बात आ जाती है कि क्या है कुछ? यह सब ईश्वरने किया है जो कुछ किया है। वह ईश्वर क्या है? वह एक स्वरूप। वह स्वरूप सब जीवोमे है, समान है और सभी जीव इस सारी रचनाके निमित्तभूत हुए है। तो इस तरहसे थोडा अंश पकडकर कुछ और ग्रहण कर, कुछ और ग्रहण कर ऐसी दृष्टियाँ बनती है कि जिनसे यह ही सूझता है, बात ऐसी ही है, तो कोई सर्वसामान्यनिमित्तदृष्टिका आधार लेकर दर्शन रचना कर सके हैं। ऐसी अनेक दृष्टियाँ आयी। उन सब दृष्टियोको जोड करके यह दिखाया जायगा कि किन मतो की किन-किन भावोकी उत्पत्ति किन दृष्टियोमे हुई है?

मतोद्भवकी आधारभूत निजपरिणमनानुभवदृष्टिका प्रतिबोध— लोगोकी प्रकृति होती है अपने आपमे जो परिणमन होता है उसमे जो अपनेको अनुभव मिलता है उस अनुभवके आधारपर बाहरमे भी उसका निर्णय बनाना। इसे कहते है निजपरिणमनानुभवदृष्टि। जैसे कोई दु खी है तो उसे सारा जगत दु खी दिखता है। और जो कुछ सुखी है वह सभी लोगो को देखता है। सुखी पुरुष जो बडे मौजमे है वह किसी जगह अगर किसीको रोता हुआ देखे तो उसका दु खका वह अनुभव नही कर सकता, वह तो यही जानता है कि इसको वास्तवमे दु ख है नही, यह तो ऊपरी-ऊपरी दु खी बन रहा है। ऐसे ही कोई दु खी जीव भी किसी सुखी पुरुषका अन्त परिचय नही पा सकता। वह तो यही जानता है कि इसका यह सुखीपन ऊपरी-ऊपरी दिख रहा है, वास्तवमे यह सुखी नही है। सभीमे प्राय ऐसी एक प्रकृति होती है कि अपने अनुभवके आधारपर बाहरमे दृष्टि लगाते है। जैसे लोग एक चुटकुलेमे कहते है कि कोई एक नाई था। वह बादशाहकी हजामत बनानेके लिए जाया करता था। तो नाई लोगोकी एक ऐसी आदत होती है कि जब वे हजामत किसीकी बनाते है तो उस समय बाते बहुत करते हैं। कोई अगर हाँ मे हाँ मिलावे तो फिर उस नाईकी बाते ही न खतम हो। एक दिन बादशाहने पूछा—कहिये खवास जी ! आजकल हमारी प्रजाका क्या हाल है ? तो खवास बोला—महाराज ! आजकल तो आपकी प्रजा बहुत सुखी है। घी दूधकी तो आजकल नदियाँ ही बहती है। बादशाहने समझ लिया कि इस खवासके घर आजकल घी दूध खूब होता है और सुखी है इसीलिए यह सबको सुखी समझ रहा है। तो बादशाहने क्या उपाय किया कि अपने सिपाहियोको ऐसा आदेश दिया कि इस खवासपर कोई आरोप लगाकर इसके यहाँके सारे जानवर गिरफ्तार करवा लो और काँजीहौजमे बन्द करा दो। अब सिपाहियोको क्या था, कोई झूठा मूठा आरोप लगाकर उस खवासके सारे जानवर खुलवा लिए और काँजीहौजमे बन्द करवा दिये। उसके पास कोई १०–१२ गाय भैंसे थी। अब दो चार दिनके बादमे फिर खवास बादशाहके पास हजामत बनाने आया—तो बादशाहने उसी तरह फिर पूछा। तो खवास बोला—महाराज ! आपकी प्रजामे त्राहि त्राहि मची है, बड दु खी हैं। किसीको घी दूधके तो दर्शन ही नही होते। तो देखिये—जिसकी जैसी दृष्टि है उसको बाहरमे सर्वत्र वैसा ही दिखता है तो जिन दार्शनिकोकी जैसी दृष्टि थी वैसा ही उन्होने अपना निर्णय दिया। इसका वर्णन इसी परिच्छेदमे आगे होगा।

मताविर्भावकी आधारभूत अवक्तव्यदृष्टि, निजबुद्धिदृष्टि, अन्तर्जल्पदृष्टि, पर्यायदृष्टि व पारिणामिक दृष्टिका प्रतिबोध—अवक्तव्यदृष्टि—तत्त्व वचनागोचर है इस ही का एकान्त करना है। जैसे मानो अनेकान्तका आश्रय रखनेवाले महंत अपने भाषणोमे तत्त्वका वर्णन

करते जा रहे हो तो जो समझदार श्रोता बैठे हो तो वहाँ यह आवश्यक नही है कि पद पद पर नय और दृष्टिका नाम ले लेकर खुलासा किया जाय। जानते है, समझदार है, वे समझ लेते है कि इस दृष्टिसे इस नयसे बोला जा रहा है। वहाँ बारबार दृष्टि और नयका नाम देनेकी आवश्यक्ता नही होती है। हाँ, जहाँ एक प्रथम ही काम हो रहा हो, प्रथम ही समझाया जा रहा हो तो वहाँ दृष्टि और नयोके ही नाम कुछ बाहर बाहरसे बोलकर चेतावनेकी आवश्यकता होती है। अब चले वर्णन करने तो ऐसा भी तो वर्णन आयगा ना, जैसे यहाँ आत्मामे रागद्वेष रहता है, यह ज्ञेयाकारसे रहित है, ज्ञानमे जो प्रतिक्षण ज्ञानपरिणमन होते उनसे भी बाहर है, ऐसा ही एक सहज चैतन्यमात्र है, और-और खीचकर भाषण हुआ, कोई इसका एकान्त करके बाहरमे बात चलाये तो यह किन्हीकी पकडमे आ सकता है कि वह तो शून्य है। है कुछ नही वहाँ, केवल शून्य शून्य मिला वहाँ। जैसे पुरुषका चैतन्यस्वरूप है, अब उसका स्वरूप क्या है ? उसमे ज्ञान नही है, दर्शन नही है। जानना देखना ये सब औपाधिक बातें है वहाँ केवल एक चैतन्य सहजभाव है और भी भीतरमे चलो तो ६ पदार्थोंमे गत होकर भी वह तो सबसे निराला केवल शुद्ध है। पहुचना है उस शुद्ध तत्त्व पर, मगर ऐसा सुन सुनकर भिन्न भिन्न दृष्टियोके लोग तो होते ही है उन सबको जिसने छोड दिया, ६ पदार्थोंको छोड दिया, व्यावहारिक रूपको छोड दिया और एकान्त बन गया उसका, तो उस एकान्तिक मुद्रामे जब रह भी न सके, विकल्पोमे आ गए और विकल्पोमे आकर भी उस एकान्तकी रटन लेकर बात कही जाय, उसके लिए लोकका यह सब कुछ शून्य है। है कुछ नही, बात ही बात किया है, इस तरह दृष्टियोके आधारसे किन-किन मतोका आविर्भाव हुआ ? यह अब वर्णन चलेगा। निजबुद्धिदृष्टि—अपनी बुद्धिमे जो स्वरूप जचा उसे ही उतना ही परिपूर्ण तत्त्व मान लेना निजबुद्धिदृष्टिका परिणाम है। जैसे ज्ञान अपनेको जैसा हो रहा है बस ऐसा ही ज्ञानस्वरूप है, अन्य प्रकार ज्ञान होता ही नही है आदि। निजबुद्धिके एकान्तमे क्या दर्शन बनता है, इसका वर्णन भी इस परिच्छेदमे आवेगा। इसी प्रकार और भी अनेक दृष्टियाँ है। उन सब दृष्टियोमे कैसा दर्शन होता है ? इसका भी वर्णन होगा। जैसे अन्तर्जल्प दृष्टिमे सर्व सत् जल्पात्मक विदित होना, पर्यायदृष्टिमे सब अध्रुव विदित होना पारिणामिक दृष्टिमे सर्व एक एक ध्रुव विदित होना। यो दृष्टियोके एकान्त जो स्वरूप अवगत हुआ इसका वर्णन अब होगा।

ब्रह्म सर्वव्यापी एक है—इस मतके आविर्भावकी आधारभूत आगृहीत दृष्टिका प्रकाशन—विविध दार्शनिकोमे एक दार्शनिकका यह सिद्धान्त भी प्राय प्रसिद्ध हो रहा है कि ब्रह्म सर्वव्यापी एक है। इस सम्बन्धमे सर्वप्रथम मीमासा कर रहे है कि यह किस नयसे कहा गया है, ऐसे दर्शनका अभिप्राय मूलमे क्या था ? ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, पहिले इसका

अर्थ समझिये । इस दर्शनका यह आशय है कि सारा विश्व जो कुछ भी दिख रहा है—चर अचर, चेतन अचेतन, जितना जो कुछ भी सत् है वह सब एक ब्रह्म है और वह है सर्वव्यापी तथा एक ही है । इस सिद्धान्तमे यह प्रश्न किया जानेपर कि फिर आखिर ये सुख दुःख भिन्न-भिन्न जीव जो कुछ यहाँ नजर आ रहा है यह तो एक नही मालूम होता, ये तो अनेक प्रतीत होते है । तो उसका समाधान यो किया गया कि ये सब उसके आराम है, पर्याय है, बगीचा है, उसको कोई नही देखता । और कोई देखता है तो वह अज्ञ प्राणी है, मायाग्रस्त है । इस सिद्धान्तके लिए पूछा जा रहा है कि यह सिद्धान्त किस नयपर आधारित हुआ है ? तो सुनो—यह सिद्धान्त सामान्य दृष्टिका परिणाम है । सामान्यका अर्थ क्या है ? समाने भव सामान्य अर्थात् जो समानमे होनेवाला भाव है उसको सामान्य कहते है और उस सामान्यकी दृष्टि रखना और उसका आग्रह रखना कि यही मात्र है असलमे, बस इस दृष्टिका परिणाम है जो यह अभिप्राय बना कि सर्वव्यापी एक ब्रह्म ही है, और कुछ भी नही । ये नाना कुछ नही है, वही एक मात्र है । यह बात कैसे सामान्य दृष्टिसे निरखी ? सो सुनो—तो कहीसे भी शुरू कीजिए—जीवको शुरू कीजिए जीव है यद्यपि अनन्त, मगर जीवके तथ्यभूत स्वरूपपर दृष्टि जब करने लगते है तो वहाँ व्यक्तियाँ नानापन कुछ अनुभव मे न आयगा । जरा जीवके उस असली स्वरूपको निरखिये जो जीवमे शाश्वत है, जीवका प्राणभूत है, जो स्वभाव है उसपर दृष्टि तो दीजिए—जब कभी किसी जीवको आश्रयभूत करके वहाँ उसके स्वरूपको निरखने चलेगे तो वह स्वरूप ही रह जायगा उपयोगमे, वह जीव न रहेगा, और ऐसा जब उपयोग हो और वहाँ उस सामान्य स्वभावका परिचय हो तो उसके बाद विकल्प अवस्थामे भी आये कोई, वहा भी यह आग्रह करके रहे कि बस सत् तो वही मात्र है, और कुछ सत् है ही नही । लो अब इस दृष्टिमे यह बात आयी कि वह सत् है, ब्रह्म है और एक है । उसे कितना बडा बताया जाय ? छोटा तो वह था नही, केन्द्रमे तो वह आया नही और आया अपने उपयोगमे तो उपयोगमे आये और कुछ बाहर ध्यानमे न आये तो वह असीम कहा जायगा, सर्वव्यापी, उस ब्रह्मकी कोई सीमा नही है । तो यह बात मिलती है सामान्यदृष्टिके आधारपर, इस दृष्टिमे आवान्तर सत्ता नही रही, याने पृथक् पृथक् सत्त्वकी ओर अभिप्राय नही जाता ।

ब्रह्मकी सर्वव्यापिता माननेका मौका दिलानेवाला विचार—अब जरा सर्वव्यापित्व का विश्लेषण करके देखे तो इस तरह देख सकते है कि देखो लोकमे अनन्त जीव हैं, हां अभी तो स्वभावदृष्टिसे एक बताया था कि हा एक है, और सर्वव्यापी किस तरह है ? चूंकि अपने उपयोगमे आया वह, तो उपयोगमे आया हुआ असीम ही रहता है, यो सर्वव्यापी है । और बाह्य क्षेत्रकी दृष्टिसे देखो तो इस लोकमे ऐसा कोई प्रदेश नही बचा जहाँ जीव न

हो। अनन्त जीव है और लोकमे सर्वत्र व्यापक हैं। तो अनन्त जीव हुए ना और सर्वव्यापक है, ठसाठस भरे है। लोकमे कोई भी प्रदेश रिक्त ऐसा नही है जहाँ जीव न हो, तो देखो लोकमे जीव सर्वत्र भरे है। सो देख लो—सर्वत्र जीव व्यापक है ना, और उन सब जीवोको छोडो—सामान्यदृष्टिसे एक मालूम हो तो वह एक जीव है सर्वजीव। सो एक ही है। भिन्न-भिन्न तो ये भ्रममे लग रहे हैं। उस एक सामान्य सहज स्वभावसे हटकर जो कुछ दिखे वह सब भ्रम बताया गया है इस सिद्धान्तमे। तो यो भ्रमसे नाना मालूम होते है, परमार्थत तो सब एक है, वह ब्रह्म है, सर्वव्यापी है, एक है, इस तरह यह जो परिणाम निकला वह सामान्यदृष्टिमे निकला।

ब्रह्माद्वैतकी मान्यतामें श्रेय व अश्रेयका विचार—अब थोडा इस बात पर भी विचार करिये कि यदि ऐसा ही मान लें तो इसमे बुराई तो कुछ आती नही, भलाई ही कुछ मिलेगी। जैसे इसपर डटकर रह जायें कि वह तो ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, वचनके अगोचर है, उसका यह सब आराम दिखता है, वह तो एक है तो ऐसी दृष्टि रखनेमे बुराई क्या आयगी? चलो सामान्य दृष्टिका आग्रह ही सही, पर इसमे अनर्थ क्या होनेका है? बात तो यह भली है, और जब ऐसा उपयोग हो गुप्त, आभ्यतर कि जहाँ केवल एक चैतन्यमात्र उपयोग हो वहाँ तो न सर्वव्यापीका विकल्प रहता है और न एकका। वहाँ तो जो उपयोग मे है, सो ज्ञान जान रहा और ज्ञान ही रूपसे जान रहा तो अभेद हो जायगा। वहाँ तो अन्य कुछ नजर नही आता, लेकिन जब इस उपयोगसे हटे और बाहरमे इन पदार्थोको निरखा और वहाँ भी उस एकका ही आग्रह किया गया तो इस दृष्टिमे बन्ध मोक्ष व्यवस्था या कुशल अकुशल कर्म या सुख दु खका भोगना या ससार व मुक्त अवस्था ये सब सिद्ध नही होते। और चूंकि तथ्यके विरुद्ध जाता है तो ऐसे तथ्यविरुद्ध विकल्पकी स्थितिमे किए गए सस्कारपूर्वक कोई ऐसे ब्रह्मकी भी बात भीतरमे विचारे तब भी वह असत्य हो जाता है। यहाँ सामान्यपना तो सविधि तब था कि इस व्यवस्थासे चलते कि जगतमे जीव तो अनन्त है, क्योकि प्रत्येकका परिणमन उन ही मे होता है, उससे बाहर नही होता, और किसी द्रव्यको यह है द्रव्य, स्वीकार करनेका प्रमाण ही यह होता है कि एक परिणमन जितनेमे हो उतना वह एक द्रव्य है। वह सब परिणमन जितनेमे हुआ उतने जीव प्रदेश हैं, ऐसे ऐसे अनन्त जीवद्रव्य है, लेकिन उन अनन्त जीवद्रव्योमे सहजस्वभाव क्या है, सहजस्वरूप क्या है? इसको जब निरखने चले तो वहाँ दीखा कि वह सहजस्वरूप, वह स्वभाव एक है, असीम है। किन्तु यहा तो सर्वव्यापी एक व्यवहारत कहा जा रहा है।

ब्रह्मस्वरूप की सकल परभावविविक्तता—इस अन्त परिचयमे भीतरी तत्त्व यह है कि वह स्वभाव, वह स्वरूप, ज्ञायकभाव एक है, इस सकल्प निकल्पसे भी रहित वह है, और

हो । अनन्त जीव है और लोकमे सर्वत्र व्यापक हैं । तो अनन्त जीव हुए ना और सर्वव्यापक है, ठसाठस भरे है । लोकमे कोई भी प्रदेश रिक्त ऐसा नही है जहाँ जीव न हो, तो देखो लोकमे जीव सर्वत्र भरे है । सो देख लो--सर्वत्र जीव व्यापक हैं ना, और उन सब जीवोको छोडो--सामान्यदृष्टिसे एक मालूम हो तो वह एक जीव है सर्वजीव । सो एक ही है । भिन्न-भिन्न तो ये भ्रममे लग रहे है । उस एक सामान्य सहज स्वभावसे हटकर जो कुछ दिखे वह सब भ्रम बताया गया है इस सिद्धान्तमे । तो यो भ्रमसे नाना मालूम होते है, परमार्थत· तो सब एक है, वह ब्रह्म है, सर्वव्यापी है, एक है, इस तरह यह जो परिणाम निकला वह सामान्यदृष्टिमे निकला ।

ब्रह्माद्वैतकी मान्यतामें श्रेय व अश्रेयका विचार--अब थोडा इस बात पर भी विचार करिये कि यदि ऐसा ही मान लें तो इसमे बुराई तो कुछ आती नही, भलाई ही कुछ मिलेगी । जैसे इसपर डटकर रह जाये कि वह तो ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, वचनके अगोचर है, उसका यह सब आराम दिखता है, वह तो एक है तो ऐसी दृष्टि रखनेमे बुराई क्या आयगी ? चलो सामान्य दृष्टिका आग्रह ही सही, पर इसमे अनर्थ क्या होनेका है ? बात तो यह भली है, और जब ऐसा उपयोग हो गुप्त, आभ्यतर कि जहाँ केवल एक चैतन्यमात्र उपयोग हो वहाँ तो न सर्वव्यापीका विकल्प रहता है और न एकका । वहाँ तो जो उपयोग मे है, सो ज्ञान जान रहा और ज्ञान ही रूपसे जान रहा तो अभेद हो जायगा । वहाँ तो अन्य कुछ नजर नही आता, लेकिन जब इस उपयोगसे हटे और बाहरमे इन पदार्थोको निरखा और वहाँ भी उस एकका ही आग्रह किया गया तो इस दृष्टिमे बन्ध मोक्ष व्यवस्था या कुशल अकुशल कर्म या सुख दु खका भोगना या ससार व मुक्त अवस्था ये सब सिद्ध नही होते । और चूंकि तथ्यके विरुद्ध जाता है तो ऐसे तथ्यविरुद्ध विकल्पकी स्थितिमे किए गए सस्कारपूर्वक कोई ऐसे ब्रह्मकी भी बात भीतरमे विचारे तब भी वह असत्य हो जाता है । यहाँ सामान्यपना तो सविधि तब था कि इस व्यवस्थासे चलते कि जगतमे जीव तो अनन्त है, क्योकि प्रत्येकका परिणमन उन ही मे होता है, उससे बाहर नही होता, और किसी द्रव्यको यह है द्रव्य, स्वीकार करनेका प्रमाण ही यह होता है कि एक परिणमन जितनेमे हो उतना वह एक द्रव्य है । वह सब परिणमन जितनेमे हुआ उतने जीव प्रदेश हैं, ऐसे ऐसे अनन्त जीवद्रव्य हैं, लेकिन उन अनन्त जीवद्रव्योमे सहजस्वभाव क्या है, सहजस्वरूप क्या है ? इसको जब निरखने चले तो वहाँ दीखा कि वह सहजस्वरूप, वह स्वभाव एक है, असीम है । किन्तु यहा तो सर्वव्यापी एक व्यवहारत कहा जा रहा है ।

ब्रह्मस्वरूप की सकल परभावविविक्तता—इस अन्त परिचयमे भीतरी तत्त्व यह है कि वह स्वभाव, वह स्वरूप, ज्ञायकभाव एक है, इस सकल्प विकल्पसे भी रहित वह है, और

इसके तथ्य तक पहुंचनेकी श्रेणिया यो है कि सर्वप्रथम तो पहिले यह जानना होगा कि यह मैं इन बाहरी पदार्थोंसे निराला हू, ये बाहरी पदार्थ, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव उनमे है सो यह बात तो लोगोको बडी सुगमता से स्पष्ट विदित हो जाती है कि मैं घर, मकान, बाहरी चीजे, इन सबसे न्यारा हू, और फिर सोचें कि मै इस देहसे भी न्यारा हू। देह भी परद्रव्यमे आया, लेकिन यह देह भी एक क्षेत्रावगाही है, सो इसको परद्रव्य रूपसे जानना मुश्किल पडता है इन बाहरी चीजोके जानने की अपेक्षा।

तो यहाँ निर्णय करो कि मैं इस देहसे निराला हू। अब और भीतर चलें तो मैं ज्ञानावरणादिक कर्मोसे निराला हू, इसमे ज्यादह दिमाग लगानेकी जरूरत नही है। उससे भी निराला है यह प्रधानतया यहाँ यह चर्चा नही रखना है, यह चर्चा यहा यो नही रख रहे कि साधारण जन इस सम्बन्धमे विकल्प नही करते, वे तो बाह्य अर्थोमे व अपनी गुनगुनाहटमे विकल्प करते। यह द्रव्यकर्म न तो स्वसम्वेदन से जाना जाता है और न इन्द्रिय प्रत्यक्षसे। यह देह, ये बाह्यपदार्थ इन्द्रियसे ही तो जाने जाते है। सो कर्म एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है कि न इन्द्रियसे जाना जाय, न सम्वेदन से। इसका तो युक्ति और आगमसे परिज्ञान होता है। युक्तियोसे जान लीजिए, आगमसे मान लीजिये। यह एक आध्यात्मिक सरल चिकित्साके लिए कहा जा रहा है। अत स्वसवेदनगम्य व साव्यवहारिकप्रत्यक्षगम्य वस्तुकी विशेष चर्चा होती है। कर्मको युक्तियोसे स्वीकार कर लीजिए कि अगर कोई ऐसा पदार्थ साथमे बंधा न होता तो फिर ये रागादिक कैसे होते ? तो जो आयगा वह सब सहेतुक है। इन रागादिकके आनेमे कारण है कर्म। कर्मका स्वरूप स्वीकार करके और आगे बढो—परद्रव्य मैं नही हू, देह मैं नही हू, कर्म मैं नही हू और जो रागादिक विकार होते है वे भी मैं नही हू। इनसे भी निराला हू, इन समस्त परभावोसे मैं जुदा हू, ये तो परभाव है, मेरी ही शक्तिके आश्रय रहनेवाले भाव ये नही है। यद्यपि हुए मुझमे है, लेकिन उनपर मेरा अधिकार नही है। मेरे स्वभावसे मेरी शक्तिके आश्रयसे मात्र हो सो नही, किन्तु कर्मविपाक जब हुआ करता है तो अधिकार किसका रहा ? जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक हो। जो ना करे तो न हो, हा करे तो हा हो, ऐसा जिसके नाचपर विकार नच रहा है, अधिकार उसका मानना चाहिए। कर्मविपाक होनेपर ही विकार होते है, नही होनेपर नही होते। तो ये रागादिक कैसे पैदा हुए ? उन कर्मोके विपाकसे तो विभाव परभाव कहलाये। देखिये—करनी है अपने आपके स्वभावकी रक्षा, अपनी यह चिकित्सा। इस चिकित्सामे जो जो भी उपचार करना हो वह करना होता है, परहेज भी करना होता है। तो अभी हम परहेजकी बात कर रहे कि अगर आत्मस्वभावका स्वास्थ्य पाना है तो किन-किन चीजोका परहेज करना चाहिए ? फिर कौन-सी औषधिका पान करना चाहिए ? औषधिका पान करने-

बात पीछे बतायेंगे, पहिले तो परहेज करनेकी बात कही जा रही है। कोई रोग हो, उसकी चिकित्सा करनी हो तो तत्काल औषधिके लिए कोई वैद्य नही है तो अधीर मत होओ— उसके लिए सबसे पहिले परहेजकी बात बतलाते हैं क्योकि वह जान रहा है कि औषधिपान कराया, परहेज न कराया तो उसका कोई असर नही होता। अगर परहेज कर लिया तो फिर औषधिपान करनेमे विलम्ब हो जाय तो भी कोई बात नही, कुछ विशेष बिगाड नही होनेका। तो यह मैं इस देहसे निराला हू, इन कर्मोसे निराला हू। तो ये कर्म हटें, यह देह हटे, ये सब परहेज हैं, परिहेय है। परहेजमे इन रागादिविकारोका, परभावोका भली प्रकार छोडना योग्य है। इनसे भी मैं निराला हू। इस जीवको कह रहे हैं, उस ब्रह्मको उस ब्रह्मस्वभावको जैसे कोई दार्शनिक सर्वव्यापी एक मान रहे हैं। उसे अगर विधिपूर्वक निरखा जाय तो वहाँ न सर्वव्यापीका पता रहेगा, न एकका, किन्तु अनुभव रहेगा। तो ऐसा मैं सर्व परभावोसे भी निराला हू।

ब्रह्मस्वभावकी आपूर्णता व आद्यन्तविमुक्तता—मैं सर्व परभावोसे निराला हूँ, ऐसा परखनेवालेको यहाँ तक ही सन्तोष नही करना है। अभी वह शुद्ध औषधि नही मिल सकी। इसके जो एक छुटपुट ज्ञान पैदा होता है— इसे जाना, उसे जाना, यह समझा, ऐसे जो भिन्न-भिन्न ज्ञान चल रहे हैं इनसे मैं निराला हू, क्योकि मैं छुटपुट हूँ क्या ? मैं अधूरा हू क्या ? मैं तो जो हू सो पूर्ण हू। जो मेरा पूर्ण भाव हो वह मेरी चीज है। यह छोटा मोटा ज्ञान, सावरण ज्ञान जिसमे कितनी ही पराधीनतायें हैं, कैसी उत्पत्ति होती है तो यह भी मैं नही हू, इससे मै निराला हूँ। बात सुनते सुनते कोई जिज्ञासु बोला— महाराज, अब हम पूरी तरहसे समझे। आप उस केवलज्ञानकी बात कर रहे हो कि वह केवलज्ञान तत्त्व परद्रव्यसे भी भिन्न है, देहसे भी निराला है, कर्म से भी निराला है, रागादिक विकारोसे भी निराला है और इन छुटपुट ज्ञानोसे भी निराला है और परिपूर्ण है, वह केवलज्ञान है सो ही ब्रह्म है। ब्रह्मस्वरूपकी चर्चा रखनेवाले सत यह कहते हैं कि केवलज्ञानमे भी न अटको, हम तो उस सहज भावकी चर्चा कर रहे है जो आपूर्ण है, साथ ही आदि अन्तसे रहित है, जिसकी न आदि है, न अन्त। तुमने केवलज्ञानको ब्रह्मस्वभाव समझा है, उसकी आदि भी है और अन्त भी है, लेकिन केवलज्ञान केवल ज्ञान ही होता रहता है इस दृष्टिसे अनन्त है, पर आदि तो तब भी माननी होगी। जब कर्म छूट गए, घातियाकर्म दूर हुए तब ही ना वह केवलज्ञान प्रकट हुआ। तो यहाँ इस आदि वालेकी बात नही कह रहे है। वहाँ अभी कोई शुद्ध तरग तो है। तो जो आदि अन्तसे भी रहित हो वह है ब्रह्म वरूप, वह है स्वभाव। लो बहुत समझदार कोई जिज्ञासु बोला कि महाराज ! यह भी बात हम समझे। क्या समझे ? आप उस एक ज्ञानस्वभाव की

चर्चा कर रहे है जो ९ पदार्थोमे जाकर भी एक रहता है, अपनी एकताको नही छोडता है।

ब्रह्मस्वरूपकी विलीन संकल्प-विकल्पजालता—अब यहाँ एक स्वभावकी बात कही जा रही है, एक है वह इस सीमामे बाँधकर कोई जिज्ञासु अपनी बात रख रहा है कि ब्रह्मस्वभाव परभावभिन्न है, आपूर्ण है; आद्यन्तरहित है और एक है। यहाँ "एक है" यह सुनकर मानो कोई आध्यात्मिक सत ज्ञानभरी झुंझलाहट करके कहता हो कि हे वत्स! तुम्हारा कहना तो ठीक है लेकिन कसर है। वह ब्रह्मस्वभाव इस तरह नही जाना जाता जिस तरह तुम इस एकको जान रहे हो, किन्तु जिस समय उस एकका भी विकल्प न रहेगा, उस एक सम्बन्धी सकल्प विकल्प भी दूर हो जायेंगे ऐसी स्थितिमे तुम असलमे समझ पाओगे कि यह है ब्रह्मस्वरूप। जैसे कोई मिश्री, हलुवा, पकवानकी बडी चर्चा करे कि ऐसा मीठा था, इतना स्वादिष्ट था, तो उससे कही स्वादकी सही समझ नही आ सकती। जिसने खा कर कभी स्वादका अनुभव किया हो, वह सही रूपमे समझ सकता है या जिसके मुखमे उस मिश्री हलुवा आदिकको रख दिया जाय तो वह उसका सही स्वाद समझ सकता है। ऐसे ही आत्मस्वरूपकी कितनी ही चर्चा कर ली जाय, पर उसका सही अनुभव केवल ऊपरी ऊपरी शब्दोसे नही किया जा सकता। उसे तो कोई ज्ञानानुभवी सत कर सकता है, जिसको अपने पर्यायकी बुद्धि ही नही है। अज्ञानमे अभी जिसका वर्तन चल रहा है, उसको आत्मस्वरूपका सही निर्णय कैसे हो सकता है? आत्मस्वरूपका सही निर्णय तो होता है ज्ञानी जीव को। वही उसका सही ढगसे अनुभवन कर सकता है।

स्याद्वादके अनाश्रयी होकर भी बुद्धिगत कल्याणके लिये हार्दिक उल्लास—सामान्य दृष्टिसे जिसको यह तत्त्व समझाया जाता है वह इसी पद्धतिसे समझाया जाता है। अब इसी पद्धतिको जिसे सामान्य दृष्टिके प्रतापसे समझा है इसका ही कोई आग्रह करले, यही मात्र है और उसका आग्रहका ही व्यावहारिकरूप ले ले तो वह व्यावहारिकरूप भी असत्य हो गया और जो उस रूपमे अन्त स्वरूप समझ रहा था वह भी असत्य हो गया। तो ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, ऐसा जिन दार्शनिकोने कहा है वे अपनी बुद्धिके माफिक सच्चे थे, उन्होने बेईमानीसे नही कहा है, किन्तु कहा है कल्याणबुद्धिसे प्रवेश करके, समझ समझ कर, बहुत भीतरी बुद्धि लगाकर, किन्तु हो क्या गया? एक स्याद्वादका आश्रयभर न लेने से यह चूक इतनी बडी चूक हो गई।

यहाँ समझा होगा कि ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, इस प्रकारका अभिप्राय सामान्यदृष्टि के आग्रहका परिणाम है। इस परिच्छेदमे आद्योपान्त ये चर्चाये चलेंगी कि विभिन्न दार्शनिकोने जो अपने दर्शन गढे वे किस दृष्टिसे आविर्भूत हुए है, उनको क्या बुद्धि मिली थी? देखिये—जंगलोकी राख छानना, निर्जन स्थानमे रहना, अनेक तरहके कष्ट भोगना, राज्य

वैभव भी त्याग दिया, इतनी बडी बात जिन सन्यासियोने की और इतना ही नही सन्यासी होकर मौनसे रहना, बहुत कम बोलना, अल्प आहार लेना, आहारकी ओर उनकी रुचि भी न रहना, इतना बडा आशय रखनेवाले सन्यासी जन जिन्होने अपने दर्शन रचे हैं, उन्होंने एक चूक यही की कि स्याद्वादका आश्रय उन्होने नही लिया, उनका वेईमानी करनेका, किसी को हैरानीमे डालनेका आशय न था। यह तो हमारा आशय है, और फिर इतिहास जो कुछ कहता हो उसका हमे परिचय करनेकी रुचि नही है, लेकिन इस आधारपर कि तत्त्वको छूनेवाली बात तो वे कह ही रहे हैं और उस ही तत्त्वमे रमनेका वे अपने आपमे एक आराम भी समझ रहे हैं। और इसीसे मुक्ति होगी, ऐसा मार्ग भी समझ रहे हैं। तो यो समझो कि जैसे कोई ११ अग ९ पूर्वका पाठी विद्वान् साधु जो कुछ कह रहा है वह भीतरी खोटे अभिप्रायसे नही कह रहा है मिथ्यात्वके होते हुए भी। (किसीके किसीके मिथ्यात्व भी पाया जाता है ११ अग ९ पूर्वका वेत्ता होकर भी) तो बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिका जहा तक समाधान दिया जायगा यह कहा जायगा कि बडा शुद्ध आशय था, तब ही तो उनके उपदेश मे इतनी विशेषता है कि अनेक जीव सम्यक्त्व पा लेते है तो कहा न जायगा कि ये मिथ्या आशयसे बोल रहे हैं। उनकी समझमे नही आया, उनकी गुत्थी नही सुलझी। उस सहज स्वरूपका दर्शन हो जाय, इस तरहका उनके अन्त सयम नही बन पाया, इतना कन्ट्रोल नही हो सका जो इस उपयोगको सकरी गलीसे ले जाकर दिखा देवे कि यह है तेरा परमात्म-तत्त्व। सब कुछ ज्ञान करके भी उपयोगको पहुचानेको बाह्यगलीसे ही यह ले जाता रहा, उस केन्द्रित गलीसे नही ले जा पाया कि जहासे उपयोगको ले जाकर यह अपने उस परमात्मतत्त्वका दर्शन करा दे। बात यह हुई किन्तु ज्ञान तो उनका सही कहा जायगा, उपदेश सही कहा जायगा। जो कुछ उन्होने रचना किया वह सही कहा जायगा। यह तो यहाकी बात बतलायी गई, लेकिन उन सन्यासी जनोकी बात कह रहे हैं कि वहा दो चूक हुई हैं। यहा तो एक ही चूक है। ११ अग ९ पूर्वके ज्ञाता मिथ्यादृष्टि साधुजनकी चूक एक है जिस-पर कोई वश नही चलता, उनकी गुत्थी नही सुलझी, उन्होने उस कारण समयसारका अनुभव नही कर पाया, लेकिन वहा उनकी दो चूक हो गयी, इस कारण समयसारका दर्शन नही कर पाया और दूसरे—उन्होने स्याद्वादका आश्रय भी न ले पाया। इन दो चूकोके अतिरिक्त और बात उनमे क्या कही जाय ?

दर्शन, मत व मजहबमें अन्तर—अब बतला रहे हैं कि ब्रह्म सर्वव्यापी एक है। इस बातकी मान्यता भी विभिन्न दृष्टियोपर आधारित है। इसीलिए दर्शन, मत और मजहब इन तीनोमे फर्क है। जैसे हम सभी धर्मसम्प्रदायोमे नाना प्रकारके दर्शन कहते हैं, वे दर्शन नही, किन्तु मत है, वे मानी हुई चीजें हैं, कल्पनामे आयी हुई चीजे है। दर्शनमे आयी हुई

वे चीजें हो ऐसी बात नही है। दर्शनमे तो वे चीजें आयेंगी जो कि सहज और यथार्थ है। तो दर्शनमे और मतमे यह अन्तर है। और मजहब की बात तो दर्शन और मत इन दोनोसे परे हैं। मजहब—रूढिके अनुसार हम धर्मकार्य कर रहे है वह है मजहब। वहाँ दर्शन तो कुछ है ही नही। तब इस मजहबके नाम पर ऐसी प्रवृत्तियोका प्रसार हो गया है कि जिनमे जीवोका अहित भी होता है। वैदिकी हिंसाको हिंसा नही बताया है उन हिंसा करनेवाले लोगोने। उनकी इस बातने लोगोको हिंसा करनेके लिए प्रवृत्त किया है। ये जो यज्ञादिककी परिपाटियाँ चली, जिनमे घोर हिंसाये होती थी तो वे क्यो चली? अरे कल्याणके लिए तो केवल एक ब्रह्मज्ञानकी जरूरत है और उसही मे निष्ठित होनेकी जरूरत है, यही तो एक मार्ग है और इसके लिए अपना बाहरी संयम भी होना चाहिए, नही तो वह विकल्पोमे उलझ जायेगा। तो यह निष्परिग्रहता, निरारम्भता इन बातोकी आवश्यकता हुई। तो इनकी वृत्तिमे रहकर भीतरमे ब्रह्मका ज्ञान हो, उस ही मे हम निष्ठ हो। फिर इतना जो बखेडा बाहरी यज्ञादिकका चला है इसका आधार क्या होगा, इसको तो इतिहासवाले जाने, पर सम्भावना यह हो सकती है कि कुछ लोग जो अपनी जातिसे अपनेको धर्मात्मा समझते व कहलाते आये थे और वह धर्मात्मापन जो कि तथ्यभूत था, रहा नही। विषय कषायोमे अधिक बढ गए, उनके साधन चाहे, उनसे मौज लेना चाहा। साथ ही इतनी वृत्ति बढ गई कि उनको मास खाना अच्छा लगने लगा और उस वृत्तिमें भी रहने लगे तो अब यह बात फैल गई कि ये तो माँस खाने पर भी उतारू हो गए। तो सम्भवत उस समयकी ये रचनाये होगी कि कोई यज्ञविधिकी बात और लोगोको कुछ काम करके दिखा दें ताकि लोगोको यह श्रद्धा हो कि यज्ञ करनेसे कितना धर्म होता है। सो घोडा, गाय, भैंस, सूकर, मेढा, बकरी आदिककी बलि यज्ञके नामपर दे देते थे ताकि लोग उनको उस समय अधर्मी न कह सके। फिर उसके बादमे कुछ विवेकियोने शुद्ध रूप बनाया, उस यज्ञको अच्छे रूपमे लाये, मगर बलि होनेकी पृथा यज्ञमे इस आधारपर सम्भव मालूम होती है कि उनका धर्मात्मापन भी लोगोकी दृष्टिमे बना रहे और मासभक्षण करनेको भी मिलता रहे। तो कल्याणके लिए ये बडी विसमतायें है। तो ब्रह्मस्वरूपका बोध कल्याण और उसमे रमण चाहिए और उसके अनुरूप बाह्य संयम चाहिए। उस तत्त्वको निरखने चले, मगर स्याद्वाद का आश्रय न ले सके तो उनकी इस तरहकी वृत्ति हो गयी।

ईश्वर एक है इस मन्तव्यकी आधारभूत् मूल दृष्टिकी जिज्ञासा—नय अनेक प्रकारके होते है और इन नयोंका सम्बन्ध मनुष्यमात्रसे है। कही ऐसी बात नही है कि नय और प्रमाणका वर्णन जैन दर्शनमे किया गया हो और वह केवल जैनोकी ही चीज हो? अरे यह तो आत्माकी चीज है। जो भी समनस्क जीव है उसमे नय और प्रमाणकी पद्धतिका परि-

गमन होता है और नय चूँकि अनेक हैं अतएव व मनुष्योके अभिप्राय भी अनेक हो जाते हैं। जीव सब समान है। इस मनुष्यभवमे आये तो सभी जीव भी, मनुष्य सामान्य भी अन्तर्दृष्टिमे समान होना चाहिए था। सो जिस सीमामे मनुष्यत्व है उस सीमासे तो समान्य है लेकिन नय होते हैं अनेक प्रकारके, उनमे किसीने किसी नयका आग्रह किया, किसीने किसीका। बस इससे मनुष्योके मन्तव्यमे भेद पड जाता है। वहाँ जो कुछ भी विचारोकी उपपत्ति होती है वह तो इन नयोके बलपर होती है। इससे तो एक समानता ज्ञात हुई है लेकिन उनमे किसी किसी नयका आग्रह कर लेनेके कारण यह दार्शनिकता विभिन्न ज्ञात होने लगी है। इसी सम्बन्धमे यहाँ एक यह चर्चा चलायी जा रही है कि बतलावो लोग ऐसा कहते है कि ईश्वर एक है तो यह किस दृष्टिसे कही हुई बात है ? ईश्वरको एक बतानेवाले अनेक लोग हैं। जो दार्शनिक पद्धतिसे विवेचन करते हैं कि उनमे भी अनेक दार्शनिक ऐसे है जो कहते है कि ईश्वर तो एक ही होता है, अनेक नही होते और जो पढ़े लिखे लोग नही हैं, लौकिक पुरुष है वे भी ऐसा स्वीकार करते है कि भगवान ईश्वर कोई एक है। अब इस ईश्वरको एक मानना सबके अपना-अपना अलग-अलग अभिप्राय है। तो उन अलग-अलग अभिप्रायोकी बात यहाँ न कहकर एक उस पद्धतिपर विचार किया जा रहा है कि जिस पद्धतिसे यह बात तथ्यकी ओर भी आगी कि हाँ वास्तवमे परमार्थत ईश्वर क्या है ? उसके लिए सग्रह दृष्टिका आश्रय ले।

संग्रहदृष्टिसे ईश्वरके एकत्वकी निरीक्षा—सग्रहदृष्टिका प्रयोजन है सर्वका सग्रह करना। तो किसका सग्रह करना ? सर्वजनोका ? सर्व आत्माओ का यह भी नही, किन्तु सर्व विशुद्ध आत्माओका सग्रह करना है। अब देख लीजिए कि जो भी विशुद्ध आत्मा है वह सब एक समान होता है। तो प्रथम तो कोषमे बताया गया है कि समान अर्थमे भी 'एक' शब्दका प्रयोग होता है। एकके मायने है समान। यह पर्यायवाची शब्द है। कही "एक" (१) सख्यावाची हो तो उसका अर्थ दूसरा होता है, पर "एक" समानार्थक शब्द भी है। ईश्वर एक है, ऐसा कहनेमे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि ईश्वर सब समान हैं, पर यहा अभी समानताके माध्यमसे एकताकी ओर जानेकी बात कह रहे हैं, वह है सग्रहदृष्टिसे। सग्रहदृष्टिसे समानको न ग्रहण करना किन्तु एकको ग्रहण करना है। तब सर्व विशुद्ध आत्माओ को निरखिये, भगवान वह होता है जो कि विशुद्ध हो। विशुद्ध वह कहलाता है जो कि अकेला हो। विशुद्ध कहो, शुद्ध कहो, अकेला कहो, केवल कहो, ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं, जो केवल आत्मा है, खालिस आत्मा ही आत्मा है उसे कहते है विशुद्ध आत्मा। वही विशुद्ध आत्मा परमात्मा कहा जाता है। परम आत्मा याने जो उत्कृष्ट आत्मा हो सो परमात्मा कहलाता है। उत्कृष्टता आया करती है निर्दोषताके कारण। याने जिस आत्मामे

दोष एक भी न रहा हो उसे कहते हैं परमात्मा। अथवा परमका अर्थ उत्कृष्ट नही है, उत्कृष्ट अर्थ है परका "पर" मायने उत्कृष्ट मा पायने ज्ञानलक्ष्मी अर्थात् जिसके ज्ञान पूर्ण उत्कृष्ट है, विकसित है उसे कहते है परम, ऐसा जो आत्मा हो उसे कहते है परमात्मा। तो जो निर्दोष है उत्कृष्ट ज्ञानमय है ऐसे आत्माको कहते है परमात्मा। परमात्माका नाम भगवान भी कहा जाता है भगका अर्थ ज्ञान है, जो उत्कृष्ट ज्ञानवान हो उसे कहते है भगवान। तो अर्थ निकला कि जो आत्मा विशुद्ध हो, निर्मल हो उसे कहते हैं परमात्मा। उसी का नाम ईश्वर है। ईश्वर उसे कहते हैं जो ऐश्वर्ययुक्त हो। ऐश्वर्य उसे कहते है जहां अपना वैभव पानेमे दूसरेका मुख न तकना पडे। जैसे एक गाँवका मालिक (मुखिया) अथवा जमीदार उसे लोग ईश्वर कहते है। उसे सब प्रकारकी चीजें उसकी जमीनसे ही पैदा हो जाती है। कपडा चाहिए तो कपास खेतोमे बोकर उसका सूत काटकर कपडे बुन लिया, नमक भी खाडी मिट्टीसे तैयार कर लिया, सरसोका तैल चाहिए तो उसे भी सरसो बोकर पैदा कर लिया, यो उसे सभी वस्तुएँ जमीनमे से मिल जाती है। उसको किसी चीजके पानेके लिए किसी दूसरेका मुख तकनेकी जरूरत नही रहती, इसीलिए उसको लोग ग्रामका ईश्वर कहा करते है। तो जो अपने ऐश्वर्यमे स्वतत्र हो, जिसे अपने ऐश्वर्यके लिए परकी प्रतीक्षा नही करनी पडती है, जो केवल आत्मा है, परम आत्मा है, उसका जो ज्ञानानन्द ऐश्वर्य है असीम ऐश्वर्य, उसके पानेके लिए बाहरमे किसकी अपेक्षा करते हो ? अरे यह आत्मा स्वयं सुखमय है, ज्ञानमय है, आनन्दस्वरूप है। तो ऐसा स्वय ऐश्वर्यसम्पन्न जो यह परम आत्मा है, भगवान है वह ईश्वर है। अब इसके स्वरूपको देखो तो इसका स्वरूप समान है, इसका विकास बिल्कुल समान है।

प्रत्येक सत्में केवलताके नाते विशुद्धताका स्वभाव—कोई भी आत्मा हो प्रथम तो यह विचार करें कि क्या आत्मा विशुद्ध हो सकता है ? तो एक इसी विज्ञानदृष्टिसे देखिये कि जो भी पदार्थ होता है वह केवल हुआ करता है। कोई भी पदार्थ अकेवल नही हुआ करता। कोई भी पदार्थ दो मिलकर नही हो सकता। पदार्थ जब सत् है तो वह केवल है। आत्मा भी यदि सत् है तो वह केवल है। जो भी जिस रूप भी सहजस्वभाव है उसका उस रूपमे ही अकेला केवल है। अब ऐसा केवल आत्मा यदि किसी प्रसगमे बन गया द्वैतरूप द्विविधारूप, कर्ममलीमस, विकारी तो बन जाय, इतना सब कुछ होने पर भी वह स्वरूपमे केवल ही है और जो केवल होता है वह कभी प्रकट भी अवश्य हो जाया करता है। यह एक विज्ञानकी रीति है। तो जब आत्मा केवल है, ससारमे भी केवल है, मुक्तिमे भी केवल है, यहा केवलपर आवरण है, वहाँ केवलपर आवरण नही है। तो जो भी सत् होता है वह केवल ही रहकर सत् होता है, केवल ही होता हुआ सत् होता है। मिलकर, अन्य पदार्थोसे

तन्मय होकर कोई भी पदार्थ सत् नही होता, यह अकाट्य नियम है। चाहे परमाणु लो, धर्म अधर्म लो, आकाश काल लो, जो भी द्रव्य लो, जो भी सत् है, यदि कुछ है तो वह नियमसे केवल ही है। अब केवलपर आवरण होना एक दूसरे क्षेत्रकी बात है। तो केवल यह जीव है तो जितना भी यह अकेवल बन रहा है लेकिन इसमे केवलता तो है ही। केवलता नही मिटाई जा सकती। और जो केवलता है वह सब किसी दिन प्रकट हो सकती है, क्योंकि वह स्वरूपत केवल है। तो इससे भी यह सिद्ध होगा कि हाँ हमारा आत्मा विशुद्ध हो सकता है, परम हो सकता है, भगवान हो सकता है, ईश्वर हो सकता है। ऐसे केवलमे केवलको भोगे तो उसमे पराधीनताकी क्या बात है? इस तरह जो भी विशुद्ध आत्मा हैं वे सब ईश्वर हैं। तो अब उन ईश्वरके स्वरूपको देखो, सबमे समानता है, अनन्त आनन्दमय है, अनन्त ज्ञानमय है। परम सूक्ष्म अमूर्त पदार्थ जो कुछ भी सहज बात है वह सब ईश्वरमे आ जाती है, सब भगवन्त समान है, तो ये सब समान हुए, और समान हुए तो वहाँ एक स्वरूप दीखा तब समान माने गए। तो इस सब ईश्वरका जो एक स्वरूप है उस स्वरूपकी दृष्टिसे इन सबका संग्रह हुआ, तब यह कहा जायगा कि ईश्वर एक है।

ईश्वरका एकत्व, अनेकत्व व अनुभयत्व—यहा चर्चा चल रही है उस वादकी कि जो वादी मानता है कि ईश्वर एक है। और दर्शन भी अनेक मानते है और लौकिक जन भी कहा करते है। तो ईश्वर एक है यह किस दृष्टिसे परखा जाता? जिससे विदित होगा कि हाँ ईश्वर एक है। तो वह है संग्रहदृष्टिका परिणाम। क्योंकि इन सबका ईश्वर का स्वरूप समान है और समान भी क्यो है? यो कि यह केवल है, उपाधिरहित है। जो उपाधिरहित होगा वह सब समान होगा। तो व्यवहारके लिए अब ऐसे जीवोको जिन्होने ईश्वरको समान निरखा, एक स्वरूपमे देखा, एक निरखा, जब वह व्यवहारमे आया, तब भी उस एकत्वकी रटन लगाते रहे तब समझिये—वह उस आत्माके आवरणमे है, और उससे भी पूर्व आवरणमे था। वहाँ पर भी इसने संग्रहदृष्टिका एकान्त किया। तो व्यवहार मे भी जब आया तब भी ये दार्शनिक अनेकता नही स्वीकार करते हैं। देखिये—व्यवहार मे आनेपर तो नाना ईश्वर मानना चाहिये थे, क्योंकि एक परिणमन जितनेमे होता है वह एक कहलाता है। तो प्रत्यात्म आनन्दानुभवन होता रहनेसे ऐसे नाना ईश्वर मानना चाहिए थे, लेकिन जो एक संग्रहदृष्टिमे आकर एकपना देखा गया उसका एकान्त अब व्यवहारमे भी लोग करने लगें तो वहाँ भी अनेकता उनके दृष्टिगत नही हो रही। जैसी दृष्टि संग्रहदृष्टि मे बनाया वैसा ही उनको व्यवहारत निरखनेमे भी वैसा जँच रहा। तब उनकी दृष्टिमे आया कि ईश्वर एक है। यो प्रत्यात्म युक्ति होनेसे यद्यपि ईश्वर अनेक है तथापि ईश्वर एक है। यह अभिप्राय संग्रह दृष्टिके परिणाममे बनता है। और हिन्दी स्तुतिमे कहते भी हैं

कि—"एक माँही एक राजे, एक माँहि अनेकनो। एक अनेकनकी नही सख्या, नमो सिद्ध निरञ्जनो।" कोई लोग ऐसा सोचते है कि अनुप्रासकी वजहसे ऐसी बात कही गई है, पर ऐसी बात नही है। इसमे बडा तत्त्व भरा है। "एक माँही एक राजे" अर्थात् एकमे केवल एक ही रह रहा है। जिस सिद्ध भगवानका जो स्वरूप है वही स्वरूप उसमे है, उसमे दूसरा सिद्ध नही है, दूसरा स्वरूप नही है। वे अपने ज्ञानानन्दरूपसे परिणम रहे है। एकमे एक ही है, दूसरा नही है, फिर भी 'एकमाहि अनेकनो'—अर्थात् एकमे अनेक दिख रहे है। अब जरा उस अन्त स्वरूपमे हटे और बाह्यस्वरूपमे आये तो वहाँ देखा कि उस एक मे अनेक बस रहे है, जहाँ एक सिद्ध बिराजमान है वहा अनेक सिद्ध विराजमान है, क्योंकि जीव अनादिकालसे मुक्त होते चले आ रहे है और समझिये कि ढाईद्वीपसे ही है मुक्त होने का नियमित स्थान है और अनन्ते सिद्ध हुए है। तो यह कैसे हो सकता है कि जहा एक सिद्ध हो वहा दूसरा न आये। तो "एक माहि अनेक राजे" यह ठीक है। लेकिन स्वरूपत जरा दृष्टि करो। केवल एक स्वरूपको ही निगाहमे रखो, तो, अरे वहा तो "एक अनेकन की नहि सख्या" अर्थात् वहा एक और अनेककी कुछ सख्या ही नही है। न वहा यह कहा जा सकता कि एक है और न यह कहा जा सकता कि अनेक है। वहा तो यही स्थिति है जो इस निज आत्मद्रव्यके विषयमे है कि वहाँ भी जो जाना गया सो ही है। यदि ऐसे विशुद्ध एकस्वरूपकी दृष्टि करके संग्रह बन गया और उस संग्रहमे यह बात निकली कि ईश्वर एक है। तो यह बात तथ्यभूत भी है, लेकिन इसका एकान्त अगर कर लिया जाय तो यह तथ्यसे अलग हो जाता है। फिर न मुक्तिकी व्यवस्था होती और न संसारकी व्यवस्था होती। फिर तो यहा कोई व्यवस्था ही नही बन सकती है।

प्रत्यात्म भिन्नत्वके परिचयके लिये अन्तर्वृत्तिकी समीक्षा—देखिये—मुख्य बात तो यह है कि सबको अपनी अपनी पडी है। दूसरेका कुछ भी हो, वह इसके चित्तमे नही पडी हुई है। कदाचित् दूसरेपर दया भी आये और दूसरेकी बाधा दूर करनेका यत्न भी यह मन से रखे तो भी दूसरेकी पडी है। इस कारण वह नही कर रहा है, किन्तु स्वयमे उस प्रकार का विचार आया और उस वेदनाको यह नही सह सकता, इसलिए कर रहा है। तो हर जगह सबको अपनी अपनी पडी है। लोग किसीको व्यर्थ दोष देते है—यह तो बडा खुदगर्ज है, यह तो अपनी ही बात रखता है, दूसरेको कुछ समझता ही नही है, दूसरेकी बात सुनता ही नही है। अरे बात सत्य है। दूसरेकी कोई सुन ही नही सकता, दूसरोको कोई कुछ समझ ही नही सकता। हाँ हम कहते है कि आचार्योंने हमपर परम करुणा की जो इतने शास्त्र रच गए है कि जिनके सहारेसे हम आप ज्ञान पाते है और ससारके सकटोसे सुलझनेका हम

मार्ग पा लेते हैं । ठीक है, बात ऐसी कहनी ही चाहिए । उन आचार्योंके प्रति जो कृतघ्न न हो वह अपनी उन्नति कर ही नही सकता है । देखिये—उन आचार्य सतोने वस्तुत क्या किया ? एक द्रव्यकी उस ही द्रव्यमे सारी बात निरखकर उन्होने सोचा । उनको दया भी हम आप लोगोपर आयी होगी । हम आप तो उस समय थे ही नही जब कि इन ग्रन्थोकी रचना आचार्यजनोने की, पर मानो उनके हृदयमे यह भावना आयी थी कि आगे बहुतसे जीव ऐसे होगे जो कि इन ग्रन्थोका आलम्बन लेकर ससार-सकटोसे पार हो सकते हैं और वर्तमान के बहुतसे जीव भी पार हो सकते हैं । तो उन आचार्यजनोने हम आपपर करुणाबुद्धि की । अब कोई कहे कि देखो उन्होने करुणाबुद्धि करके शास्त्र लिखे, उन्होने बडा श्रम किया, पर कहाँ उनके उपदेशका हम आपपर कुछ असर हुआ ? अरे वहा उत्पन्न हुआ जो वास्तविक करुणाभाव है अब ऐसे करुणाभावकी परिणति जिनमे बनेगी वे अवश्य चैनसे रह सकेंगे । उनको परमार्थ करुणामयी चेष्टा उन आचार्योंके उपदेशके अनुरूप करनी पडेगी । निश्चयत वे स्वात्मकरुणामे भीगे थे और भव्य जीव भी तिरे, ऐसी अन्त वेदना थी तो अपनेको अनुकम्पित करनेवाले करुणाभावसे प्रेरित होकर उनको ग्रन्थ रचना करनी पडी । यहा यह बात सुनकर अपनेमे एक ऐसी उद्दण्डता नही लाना है कि मेरा उन्होने क्या किया ? उनको कोई वेदना हुई तो उस वेदना को ही उन्होने मिटाया । इस तरहकी उद्दण्डताका भाव रखनेवाले व्यक्तिको मार्ग-दर्शन न मिलेगा । हम तो उनके प्रति कृतज्ञ होकर यह बात कहेंगे कि उन सतोने (आचार्योंने) हम आप पर करुणा बुद्धि किया था । हम आपको मार्गदर्शन करानेका भाव उनको हुआ था । उनकी इस बातको निरखकर ही तो हम उनके प्रति कृतज्ञ हुए हैं । कृतज्ञ पुरुष ही नम्र होकर, स्वके प्रति भी नम्र होकर शुद्ध मार्गपर चल सकता है । तो बात यहा यह कही जा रही थी कि सब जीवोको निश्चयत अपनी अपनी पडी है ।

प्राकरणिक स्वहितचिन्तनमें ईश्वरके एकत्व व अनेकत्वके निर्णयका प्रभाव—अब जरा सोचो तो सही कि थोडे दिनोके लिए हम इस मनुष्यभवमे आये है, ये शरीर, इन्द्रिया हम आपने पायी है, जिनके लिए सर्व साधारणजन रात दिन परेशान रहते हैं, खाना, पीना सजाना, पोजीशन इज्जत आदिकमे बने रहते है, अरे यह थोडे दिनोके लिए पाया हुआ मूर्तिक मानव शरीर इसकी इतनी इतनी खुशामद करना, इसको बहुत बहुत पुष्ट करना, इसे बहुत बहुत मौजमे रखना यह कोई भली बात है क्या ? इससे इस आत्माका पूरा नही पडनेका । आत्माका पूरा तो पडेगा इसमे कि जन्म मरणसे छुटकारा प्राप्त हो, इन समस्त बाह्य पदार्थोंके सम्पर्कसे छुटकारा प्राप्त हो, एक शुद्ध केवल धर्मादिक द्रव्योकी तरह हम परिणमते रहे । अपने आपमे अपने स्वभावानुरूप बस इससे ही पूरा पडेगा । तो इस पूरा

पाडनेके लिए जब कदम उठायेगे तो हम तब तक पूरा न पाड सकेंगे जब तक यह बात दृष्टिमे न हो कि भगवान अनेक है, भगवान अनन्त है, क्योकि ईश्वर एक है, भगवान एक है। इस ही एकान्तमे हम अपने आपमे कल्याणकी बात पानेके लिए क्यो सोचेंगे ? हम आत्महितके लिए इतने संयम तपश्चरणकी बात क्यो करेगे ? भगवान तो हो ही नही सकते, ईश्वरता तो आ ही नही सकती, ऐश्वर्य प्रकट हो नही सकता, परमता तो आ नही सकती, उत्कृष्टता तो आयगी नही, हम तो कोई प्राणी हैं और किसीके नचाये नाच रहे हैं, चाहे चेतनके नचाये नाचे, चाहे अचेतनके। हम तो कायर हैं..., इस प्रकारकी भावनायें उत्पन्न होगी उसके चित्तमे, जो ईश्वरको व्यवहारत. भी एक मान रहा है तो अब समझिये कि ईश्वर एक है, ऐसी समझमे कितना कल्याणका मार्ग मिल रहा और ईश्वर एक है, इसका ही आग्रह करनेमे हमको कितना अकल्याणमे रहना पड रहा है ?

ईश्वरविषयक तथ्यके परिचायक स्याद्वादका जयवाद—जयवन्त रहो वह स्याद्वाद जिसके प्रतापसे हमारी सब उलझनें समाप्त हो जाती है। हम समझ लेते है कि हाँ ईश्वर तो अनन्त है। लेकिन उनका स्वरूप एक समान है और उसकी ही उस ईश्वरमे आदेयता है, उपादेयता है, पूज्यता है, जब कि वह समान है, एक है। यदि ईश्वर विषम है, तो वहाँ बडी बाधा है। मान लो ईश्वर भी अनेक बन जाय जैसा कि लौकिक जन मानते है कि ब्रह्मा भी ईश्वर हैं, विष्णु भी ईश्वर है, महेश भी ईश्वर है, और और भी ईश्वर हैं, आदिक अनेक ईश्वर हैं, तो अनेक ईश्वर मान ले, इसमे कोई आपत्ति नही, लेकिन उनका स्वरूप तो न्यारा-न्यारा विषमपद्धतिका माना जा रहा है। अरे यदि सब ईश्वर हैं तो उनका स्वरूप भी समान होना चाहिए। उनका समान स्वरूप न मानकर उनका चरित्र न्यारा-न्यारा, उनका स्वरूप न्यारा-न्यारा, उनकी वृत्ति न्यारी-न्यारी समझी हो तो जैसा अनेक कथनोमें आता है कि फलाने देव फलाने देवके पास गए, उस देव पर बडी विपत्ति थी तो उस दूसरे देवने पहुचकर उसकी विपत्ति दूर की। तो पहिले वे देव अपना ही पूरा पाड ले, अपनी ही विडम्बना विपदा मेट लें तब फिर दूसरोका कल्याण करनेकी बात कही जाय। जब वे स्वयं ही जन्म मरणके संकटमे पडे है तो फिर उनके प्रति किसे श्रद्धा हो सकेगी ? ईश्वर अनन्त है और ईश्वर एक है, वह अनन्त एक है और यह एक अनन्त है—इस तरहका जहाँ बोध होगा स्याद्वादके आश्रयसे वहाँ तो हमे मार्गदर्शन मिलेगा, मगर एकान्त आग्रहमे मार्गदर्शन न मिलेगा।

संग्रहदृष्टिसे ईश्वरके एकत्वका नय विवरणपूर्वक उपसंहार कथन—इस दूसरी चर्चामें यह बात बतायी गई है कि जो लोग कहते है कि ईश्वर एक है वह है संग्रह दृष्टिका परिणाम। देखिये यहाँ निगम अर्थात् सकल्पमात्रकी बात नही है। नैगमनय और संग्रहनयमे

अन्तर है, संग्रहनयका भी पेटा विशाल है और नैगमनयका भी। और बताया गया है कि पूर्व पूर्व नय बडे-बडे विषयवाला है और उत्तर उत्तर नय सूक्ष्म विषयवाला है। तो नैगमनयने भी सबका संग्रह किया तभी तो वह नैगमनय कहलायेगा। संग्रहनयमे जो विषय किया गया, उससे बडा विषय तो होना ही चाहिए नैगमनयका, क्योकि युक्ति ही बतला रही है कि पूर्व-पूर्व नय बडे विषयवाले है। उत्तर-उत्तरके नय सूक्ष्म विषयवाले हैं। तो नैगमनय का विषय संग्रहनयसे भी बडा है और बडेका अर्थ यह कहलाता है कि उसके विषयमे वह भी चीज है जो संग्रहनयके विषयमे न थी, तब ही तो नैगमनयको सग्रहनयसे महाविषयवान कहेगे। जैसे व्यवहारनयसे सग्रहनय बडा है, क्यो बड़ा है कि व्यवहारनयने जिस बात को कहा वह तो सग्रहनयमे पडी हुई है, किन्तु संग्रहनयमे ऐसी भी बात और है जो व्यवहार के विषयमे नही पायी जाती। तब संग्रहनयसे नैगमनय बडा है, क्योकि संग्रहनयने जिसे जाना वह विषय तो नैगमनयमे पडा है, पर एक विषय और नैगमनयमे पड़ा है कि जिसे संग्रहनय विषय नही कर सकता। तब ऐसे सग्रहनयकी बात सोचो कि वह क्या है ? तो नैगमनयका विषय तो सत् और असत्का अभेद कर देना है। यद्यपि सुननेमे ऐसा लग रहा होगा कि यह बात अनोखी कैसे हो सकती है ?- एक सत् और एक असत्। असत् मायने यह है कि जो है ही नही। जो है नही उसे और जो है उसे एक जगह मिला देना, अभेद कर देना और इतना बडा रूप बना देना, जो संग्रहनयसे भी बडा रूप हो जाय वह है नैगमनयका विषय। सग्रहनयका विषय क्या था कि सत् सत्का ही उसने सग्रह कर दिया, एक जगह मिला दिया। सग्रहनयमे सत् सत्को ही मिलानेका सामर्थ्य है, उसका ही संग्रह कर सके हैं, लेकिन नैगमगम कहता है कि हम सत्का भी सग्रह कर देंगे और असत्का संग्रह कर देंगे, लो यह बन गया नैगमनयका विषय। जैसे—कहा कि क्या कर रहे हो भाई ? तो वह कहता है कि भात बना रहे हैं। और शोध रहा था वह चावलमात्र, तो हुआ क्या कि चावल तो सत् है और भात असत् है, असत् तो पके हुए भातको अभी कहेगे। अब यहाँ सत् असत् दोनोका अभेद कर डाला, यह हुआ नैगमनयका विषय। तो यह ईश्वर एक है यह नैगमनयसे नही कहा जा रहा है किन्तु संग्रहनयसे कहा जा रहा है। इसका अर्थ यह लेना कि जो वास्तवमे अनन्त ईश्वर है उन अनन्त ईश्वरोका एक सग्रह करके कहते है कि ईश्वर एक है। सग्रह भाव होता है उस धर्मद्वारा जो धर्म सबमे समान रूपसे पाया जाय। तो वह धर्म क्या निकला ? वह विशुद्धपना, कैवल्य, परमात्मत्व, ऐश्वर्य, उसकी दृष्टिसे निरखे तो यह बात तथ्यभूत है कि ईश्वर एक है। कोई व्यक्ति यह आग्रह करे कि व्यक्तिरूपसे ईश्वर एक है तो वहाँ कल्याणका मार्ग नही प्राप्त होता है।

ईश्वर जगतका कर्ता है इस मन्तव्यकी आधारभूत दृष्टिके खोजनेके प्रसङ्गमें अवबोध-

नीय जगतके दो विभाग—अब यहाँ पूछा जा रहा है कि ईश्वर जगतका कर्ता है, ऐसा जो अनेक लोगोका व कुछ दार्शनिकोका मंतव्य है तो वह मंतव्य किस दृष्टिसे युक्त बैठ सकता है ? इस प्रश्नका समाधान पानेके लिए इस जगतको दो भावोमे निरखियेगा—(१) भावजगत, (२) द्रव्यजगत । अथवा कहो—एक तो रागद्वेषादिक जो भाव संसार है उसकी दृष्टि की बात समझना है । और दूसरी समझ बतानी है दृश्यमान भौतिक पदार्थोकी सृष्टिकी । तो संसारको दो भागोमे निरखिये—(१) भावजगत (२) द्रव्यजगत । यहाँ यह पूछा जा रहा है कि ईश्वर जगतका कर्ता है, यह जिनका अभिप्राय बना है वह किस दृष्टिके आधारपर बढ बढकर बनाया गया है, इसके समाधानके लिए सर्वप्रथम जगतका रूप जानना आवश्यक है, अतएव इस जगतके विभाग बताये जा रहे है—एक तो रागद्वेषादिक जो कल्पनाजाल है, विकल्प है, विचार है, विकार हैं इनको भी जगत कहते है । ये कहलाते है भावसंसार और जो दृश्यमान है ये चराचर पदार्थ समूह, ये प्राणी, ये पशुगण, ये पक्षीगण, मनुष्यजन ये कहलाते है द्रव्यजगत् तथा ईंट पत्थर आदिक जो ये पौद्गलिक ठाठ हैं—ये भी है द्रव्यजगत । तो दोनोको करनेवाला कौन है ? इनका ईश्वर सृष्टिकर्ता है यह बात जानने के लिए दो दृष्टियाँ आयी, इस भाव जगतका कर्ता ईश्वर है, इसका आकार तो है सर्व सामान्य परिणमन दृष्टि और द्रव्यजगतका कर्ता ईश्वर है इसका आधार है सर्वसामान्य निमित्तदृष्टि । सामान्य सर्व परिणमन दृष्टिमें क्या बात निरखी जा रही है ? उल्टे क्रमसे इस शब्दका अर्थ लगाओ सर्वसामान्य परिणमनदृष्टि परिणमन तो देखा ही जा रहा है और वह परिणमन सबका देखा जा रहा है तथा वह सबका परिणमन सामान्यतया देखा जा रहा है । तो यो तीन दृष्टियाँ मिलकर जो एक दृष्टि बनी, उस दृष्टिके आधारपर यह सिद्ध होगा कि ईश्वर भावजगतका कर्ता है । तीन दृष्टियाँ मिलकर भी एक दृष्टि होती है क्या ? इसमे भी कोई संदेहकी बात नही है । जब स्याद्वादमें सप्तभङ्गी प्रक्रियामें दो दो तीन तीन दृष्टियाँ मिलाकर एक दृष्टि मानी गई है तो दृष्टियोमे ऐसी महिमा सिद्ध है कि कितनी तरहके अंशोंको, सर्वको नही, किन्तु कुछ सीमित अनेक अंशोको भी एक दृष्टिमें परख सकते हैं ।

सर्वसामान्यपरिणमनदृष्टिसे ईश्वरके भावजगतके कर्तृत्वकी मान्यताका विवरण—यहाँ सर्वप्रथम देखे गये जीवोके रागद्वेषरूप भाव परिणमन और वह परिणमन भी देखा जा रहा है सभीका और सामान्यदृष्टिसे । तो इस दृष्टिसे ही समझ होती है कि भावजगतका कर्ता ईश्वर है । अथवा चलो तीन दृष्टियाँ पृथक् पृथक् भी कह लीजिये । पहिले तो देखा परिणमन, पर्यायभाव, पर्यायविभाव और वह पर्याय सबके ही तो यहाँ हो रही है । अनन्त जीव हैं, उन सब जीवोके ये रागद्वेषरूप परिणमन चल रहे है और वे सब क्या हैं ? जरा सबके अन्दर घुसे तो वहाँ मालूम पडा कि वह एक चैतन्य है, और वह सब है क्या ? तो

सामान्यसर्वपरिणमनदृष्टिका आधार लेकर निरखा जाय तो यह बात कही जा सकती है कि ईश्वर इस जगतका कर्ता है। इसका खुलासा यह है कि ये जो रागद्वेषादिक परिणमन हो रहे है इनका उपादान कारण कौन है ? उपादानको कर्ता जहा बताया जा रहा है उससे बढकर कर्तृत्व और कहाँ बताया जायगा ? तो जितने भी ये रागद्वेषादिक विभाव परिणमन हैं वे सब इस जीवके उपादानसे ही तो हुए है, अन्यत्र तो नही हुए। तो इन विकारोका उपादान है जीव और वे जीव हैं अनन्त, जिनमे ये भाव उत्पन्न हुए हैं, पर उन सारे अनन्त जीवोको जब एक स्वभावदृष्टिसे देखा तो सब एक वही जीव है ऐसा ज्ञात हुआ गेहुंवोका ढेर लगा हो, वहाँ कोई यह ही तो पूछता है कि यह गेहू किस भावमे दिया ? वहाँ कोई ऐसा तो नही कहता कि ये अनगिनते गेहू किन भावोंसे दिये जा रहे हैं वे करोडो अरबो खरबो दाने, लेकिन उन सबको एक सामान्यदृष्टिसे ही निरखा जाता है, क्योकि पूर्ण समानता है। उन दानोमे जैसे पूरी समानता होनेके कारण गेहुओको एक रूपसे निरखा जाता है इसी तरह जगतके अनन्त जीवोमे समानता होने के कारण एक रूपसे निरखा जाता है। तो यो हुई यह सामान्य सर्व परिणमन दृष्टि। इन सब विकारोका उपादानकर्ता है जीव और वे सब जीव एक स्वभावदृष्टिसे दिखे तो ऐसा एक वह चैतन्य वह इस भाव जगतका कर्ता है। इस तरह धीरे-धीरे परिणमन से चले, सर्वको देखा, सबमे देखा सामान्यको। इस तरह स्वभावदृष्टिसे जब सभी जीव समान हो गए और वे हुए ईश्वरके समान; तो कहा जाता है—इन सुख दुख राग द्वेष आदिका कर्ता ईश्वर है।

संभावित दृष्टिको त्यागकर विरुद्धार्थमय भाव बनानेपर अनर्थका विवरण—पहिले यहाँ संसारी जीवकी बात कही जा रही थी कि ये सब जीव भावकर्मके उपादान कर्ता हैं। फिर निरखा जा रहा था कि वे सब जीव क्या हैं ? ईश्वर है, ईश्वरके समान हैं, क्योकि जो शुद्ध आत्मामे मूल बात होती है वह बात तो इन सब जीवोमे है। तो यो इनका कर्ता जीव है यो कह लो या इस भावजगतका कर्ता जीव है यो कह लो या भावजगतका कर्ता ईश्वर है यो कह लो, यह सब सर्वसामान्यपरिणमन दृष्टिसे कहनेमे आता है, पर जहाँ इस दृष्टिका तो परित्याग हो गया है अथवा कुछ समझते भी नही हैं कि इसमे यह दृष्टि होना चाहिए, और मानें यह कि विश्वका कर्ता ईश्वर है तो इसमे आत्मसुधारका विवेकसे खोजा जाय, विचारा जाय तो यह बात निरखना है कि यह आधार हो सकता है, लेकिन यहाँ तो सभी स्वच्छन्द होकर ऐसा ही श्रद्धान किए हुए है कि इस सब भावजगतका कर्ता ये सब रागद्वेष हुए, सुख दुख हुए, पुण्य पाप हुए, इन्हे कौन कराता है ? ईश्वर ही तो कराता है। तो देखिये—इन भावोमे कितना अन्तर हो गया ? उसकी मर्यादा छोड देनेपर कि लो जितने सुख दुख हैं, जितने ये रागद्वेष हैं, पुण्य पाप हैं, इन सबका करनेवाला ईश्वर है।

और स्वच्छन्दता भी कितनी हो गयी ? जो समझदार बनते है उनके लिए कि इन सुख-दु खादिकके हम स्वामी नही है। इनका देनेवाला तो ईश्वर है। और मुझे सुख दु खादिक होते क्यो हैं ? यदि कर्मका कारण, कर्मोका करनेवाला भी ईश्वर है तो इसमे हमारा दोष क्या है ? वह करता है या कराता है और फिर फल दिलाया करता है, यो उनको स्वच्छन्दता है और मनुष्यजनोको यह स्वच्छन्दता है कि सुख दु ख आदिकके पानेमे मेरी कोई कला नही है, वह तो ईश्वरकी कला है। तब वे अपने पौरुषमे दीन हो गए, अन्यथा अर्थात् यदि यह दृष्टिमे रहता कि ये सुख दु खादिक जो होते है वे मेरे पुण्य पापके अनुसार होते है। इन पुण्य पापादिकका करनेवाला यह मैं हू, इसलिए इन सुखादिकका लानेवाला मैं ही हू। इस सही बातका मर्म जाने बिना देखिये क्यासे क्या विडम्बना बन गई ? जैसे एक किम्बदन्ती है कि एक सेठके घर बिल्ली पली हुई थी। उसके घर जब कोई शादी ब्याहका काम होता तो भाँवर पडते समय उस बिल्लीको एक टिपारेमे बन्द कर दिया जाता था। क्योंकि ऐसे अवसरपर बिल्लीका इधर उधर फिरना अशुभ माना जाता है। कुछ दिन बाद बिल्ली भी गुजर गयी, सेठ भी गुजर गया। जब सेठके लडकोंमे से किसीकी लडकी की शादी हुई तो भाँवर पडते समय एक लडका बोल उठा—ठहरो, अभी एक दस्तूर और बाकी है तब भांवर पडेगा। क्या ? एक बिल्लीको टिपारेके अन्दर बन्द करना चाहिए। सो जब कहीसे बडी मुश्किलमे जब बिल्ली पकडकर लायी गई, टिपारेमे बन्द की गई तब भाँवर पडी। अब देखिये—उसके मर्मको न समझकर क्या विडम्बना बनी ?

लोकरूढ धार्मिक कार्योंमें मूलदृष्टिके त्यागनेपर उन्मार्गताका प्रसङ्ग—जितने भी लोकरूढ धार्मिक कार्य होते हैं उनमे भी उनके मर्मको न समझकर रूढिवश करनेसे तो एक विडम्बना ही बनती है। और वे प्रमाण पेश करते है कई जगह तो ऐसे उदाहरण आये है, अथवा हिन्दी स्तुतिकारोने कहा है—द्रोपदीको चीर बढायो, सीता पद कमल रचाओ, तो इसके कहनेका मर्म क्या था कि उस द्रोपदीने अथवा उस सीताने अपना शुद्ध भाव बनाया, धर्मपर अटल रही, उससे हुआ पुण्यका बन्ध। जिसके फलमे वैसी बात बन गयी। अब वहाँ कोई कहे कि किसी भगवानने (ईश्वरने) उनका चीर बढा दिया अथवा उनके अग्निकुण्डमे कमल रचा दिया, तो ऐसी बात नही है। अरे धर्म करनेके फलमे कोई ईश्वर ऐसा कर देना हो सो बात नही, किन्तु धर्म करनेवाले जीवके साथ जो उसके ही पुण्यकर्मका बन्ध हुआ उसके फलमे स्वयमेव ही वैसा हो गया। और भी सोचिये यदि धर्म का फल लौकिक बात मान ली जाय तो फिर बताइये तपस्वी पाण्डवोपर अथवा उन सुकुमाल, सुकौशल जैसे महापुरुषोपर बडे-बडे उपसर्ग क्यो आये, उन्हे उपसर्ग क्यो सहने पडे ? क्या वे अधर्मी थे ? तो बात यह है कि धर्मका फल तो शान्ति है। अर्थात् आत्माका जो

चैतन्यस्वभाव है उस स्वभावपर दृष्टि होना यह धर्म है। ऐसी दृष्टि जिसको है उसको शान्ति नियमत है। अब ऐसा धर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषोके एक ऐसा विशिष्ट पुण्य बन्ध होता जो कि मिथ्यादृष्टियोके भी सम्भव नही है। हो गया पुण्यबन्ध उसका कारण दूसरा है। पुण्यबन्धमे कारण रत्नत्रय नही है, रत्नत्रय भावके साथ रहनेवाले विशुद्ध भावोका फल है पुण्यबध। सूत्र जी मे बताया है कि 'सम्यक्त्व च' यह सूत्र आया है आस्रव वर्णनके प्रकरणमे, जिसका अर्थ है सीधा सम्यक्त्व भी देव आयुके आस्रवका कारण है, तो क्या यह सम्यक्त्व कर्मबन्ध करानेवाला है? अरे उसका यह अर्थ है कि सम्यक्त्व होनेपर यदि आयुबध हो तो देव आयुका बन्ध होता है। और वह कथन है एक मनुष्यकी दृष्टिसे। कोई सम्यग्दृष्टि मनुष्य हो, उसके होनेपर आयुकर्मका बन्ध हो तो देव आयुका बन्ध होगा, अन्यका नही। भले ही किसीने अन्य आयु बाँध ली हो, बादमे सम्यक्त्व हुआ, तो उसका हिसाब दूसरा रहेगा, लेकिन सम्यक्त्व सहित कोई मनुष्य आयुबन्ध करे तो देव आयुका बन्ध करेगा। जैसे दर्शन विशुद्धि भावना तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका कारण है और वर्णन भी प्राय किया जाता है कि सम्यग्दर्शन निर्दोष होना चाहिए, निरतिचार होना चाहिए। तो यह बताये कोई कि उस निर्दोष सम्यक्त्वका क्या तीर्थंकर प्रकृति बन्धका कारण है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जो मोक्ष मार्ग है वह कर्मप्रकृतिके बन्ध का कारण नही होता, पर सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके साथ साथ जो और शुभोपयोगके भाव चलते हैं वे उनकी कर्मप्रकृतिके बन्धके कारण हैं। देखो—संसारके ये जीव जरासे भ्रममे दुखी हो रहे हैं, इनको अपनी दृष्टि नही प्राप्त हो रही है। इनको अपनी दृष्टि मिले, इस प्रकारकी करुणा जगती है तो इस विशुद्धिसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है, मगर सम्यग्दर्शन निर्दोष हो तो उससे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो, सो बात नही है। प्रत्येक बातमे मर्म होता है, उस मर्मको जाने बिना जो कथन है उसका दुरुपयोग हो सकता है।

उपादानदृष्टिके तथ्यको त्यागकर परकर्तृत्वका आशय बनाने पर कल्याणलाभकी अपात्रता—पहिले निरखा गया कि इस भावससारका कर्ता यह जीव है और ये सब जीव एक समान हैं और ये सब ईश्वरके समान हैं, यो चलते-चलते लोग रूढिमे यह कहने लगे कि ईश्वर जगतका कर्ता है। यदि इसे स्पष्ट शब्दोमे वर्णन किया जाता तो भ्रम न होता। यो सामान्यसर्वपरिणमन दृष्टिसे ईश्वर भावजगतका कर्ता है। यहाँ सबके स्व स्वकी उपादान दृष्टि दिलाकर उन्हे सामान्यरूपसे परखनेकी दृष्टि दिलायी गई है। इसको यदि कोई सीधे ही समझ ले तो उसका बडा अनर्थ है। वह पाप करनेमे स्वच्छन्द हो जायेगा और एक सम्यग्ज्ञानका प्रकाश न मिला तो वह अधेरेमे रह जायगा। अरे परम आनन्दकी कारणभूत जो निर्विकल्प समाधि है अर्थात् अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे अपने उपयोगको मग्न कर देना

है, इसकी पात्रता उनके यहाँ हो सकती है जो अन्य कोई ईश्वर है, मुझसे निराला है और वह सब प्राणियोके सुख दुःखादिकका कर्ता है, ऐसी बाहिरी लम्बी दृष्टि लगाये। ऐसे अपने इस उपयोगको अपने स्रोतसे चिगाकर ऐसा लम्बा बढा दिया है जिस प्राणीने, उसे समाधि कहाँसे प्राप्त होगी ?

दृश्यमान जगतका कर्ता ईश्वर है इस मंतव्यकी संभावित आधारदृष्टि—अब इसी विषयसे सम्बधित दूसरा विकल्प परखिये। द्रव्यजगत मायने यह सब द्रव्यरूप। मिट्टी, कोयला, भीत जानवर, मनुष्य आदिक जो जो कुछ भी नजर आ रहे है इनका करनेवाला ईश्वर है। यह किस अभिप्रायसे चल चलकर धीरे-धीरे कुछ चिग चिगकर यह निकला है ? मूलमे क्या आधारभूत दृष्टि उनकी हो सकती थी ? इस बातको अब निरखे तो इसे निमित्त प्रधान दृष्टिसे देखना होगा। इस दृष्टिका नाम है सामान्यसर्वनिमित्तदृष्टि। बात यहाँ यह सीधी है कि जैसे इस रागद्वेष सुख दुःखादिक भावोका कर्ता जीव है यह निरखा गया उपादानदृष्टिसे तो ऐसा यहाँ यह निरखना है कि इन कार्योका कर्ता जीव है, यह है निमित्त दृष्टिसे। जो कुछ भी यहाँ देखा जा रहा है कायके अतिरिक्त और कुछ यहाँ नही है। कोई मृतकाय है, कोई जीवितकाय है। बस इनका समूह ही यहाँ सब कुछ दिख रहा है। यह भीत क्या है ? मृतकाय। यह पहिले पृथ्वी रूपमे थी, फिर उसे पोसकर मिट्टीरूप बनाकर ईंटाकार तैयार कर लिया गया। तो यह मृतकायकी ही तो बात है। जैसे कोई मनुष्य गुजर गया और मनुष्यशरीर पडा रहा, अब उस शरीरको कोई चीथ ले, टुकडे टुकडे कर दे, जला दे, उसे राखरूप बना दे या किसी भी रूपमे बन जाय तो वह मृतकायकी ही तो चीज है। तो जगतमे जो कुछ दिख रहा है वह सब काय काय ही दिख रहा है—कोई मृतकाय है, कोई जीवित काय है। अब इन कायोका करनेवाला निमित्तदृष्टिसे जीव है, सो यहाँ इस तरह बात बनती है कि एक भवसे मरण करके जीव आया और नये शरीरको इसने ग्रहण किया, लो उसका निमित्त पाकर यह शरीर ग्रहणमे होने व बढने लगा, अंगोपाग हुए और जिसका जैसा कर्मोदय है उसका वहाँ शरीर बना। एकेन्द्रियके अगोपाग नही होते। तो शरीरका जो यह आकार बना, पिण्ड बना, इसका निमित्त दृष्टिसे कर्ता यह जीव रहा, अर्थात् जीवका सम्बन्ध पाकर ये सब रचनाये बनी। यद्यपि उन रचनाओमे अन्तरङ्ग निमित्त कारण कर्मोदय है, पर उन कर्मोका निमित्त कारण जीवविभाव है। तो जीव उनका निमित्तभूत हुआ। इस तरहसे यह कहा जा सकता कि जगतमे जो कुछ भी दिख रहा है चाहे जीवितकाय हो, चाहे मृत शरीरका रचनेवाला हो निमित्तदृष्टिसे जीव है। जीवके सम्बन्ध बिना ये कोई सकल नही आ सकते।

सामान्यसर्वनिमित्तदृष्टि व उसके प्रयोगका विवरण—जो सजीव शरीर हैं उनमे तो

किसीको सन्देह नही है कि उनका निमित्त यह जीव है और जो निकले हुए पत्थर आदिक है अथवा ये पिसे हुए सीमेंट आदिक हैं ये क्या चीज है ? जिस किसी चीजको हाथमे लेकर बतायेंगे वह जीवकाय है। सीमेन्ट, चूना, औषधि आदिक कोई भी चीज ले लो वह सब जीवका ही काय मिलेगा और किसीका नही। तो इनमे जीव पहिले था और उसका निमित्त पाकर इसकी काय रचना हुई थी, तो इससे यह सिद्ध है कि ये सब भौतिक पदार्थ ये जीवके निमित्तसे ही निर्मित हुए है और मूलमे सर्वप्रथम जीवने शरीरको ग्रहण किया. फिर जीवके रहते हुए बढे, फिर जीवके द्वारा छूट जाने पर भी जैसा परस्परके निमित्तनैमित्तिक भावमे हो सकता है वह होता जा रहा है। तो यहाँ इतनी बात मूलमे आयी कि इन सब परिणमनोका रचनेवाला निमित्त दृष्टिसे यह जीव हुआ। अब यह तो हुई निमित्त दृष्टिकी बात, पर ऐसे जीव कितने हैं ? क्या एक जीव इन सबको रच रहा है ? नही। सर्व जीव है, जो जिस शरीरको ग्रहण कर रहा है उसके निमित्तसे उस शरीरकी रचना है। जिसका जिससे सम्बन्ध है उसकी वह रचना हो रही है। यो जगतमे अनन्त जीव है अब समझमे आयी होगी सर्वनिमित्त दृष्टि। अब इन सबको निरखना है सामान्यदृष्टिसे तो ये सभीके सभी सामान्यदृष्टिमे एक जीव ही तो हुआ, चेतन ही तो हुआ। एक ज्ञायकने, जीवने उसने ही ये सब रच दिया। निमित्तदृष्टिकी बात कर रहे हैं और उन सब जीवोका स्वरूप ईश्वरके समान ही तो है।

ईश्वर और जीवोंके अन्तःस्वरूपका साम्य व प्रकृत चर्चा शिक्षा व अनर्थका वर्णन करते हुए प्रकृत दो चर्चाओंका उपसंहार—देखिये ईश्वरका कोई कुछ भी स्वरूप माने, जो जैसा माने, पर उस ईश्वरका अन्त क्या स्वरूप है ? तो कहना पडता है कि वह तो रागद्वेषसे रहित है और सबका जाननेवाला है। देखिये—कोई किस ही मतव्यका माननेवाला हो, जो भी ईश्वरको मानता है उसे वीतराग और सर्वज्ञ ये दो बातें माननी ही पडती है। चाहे वे लौकिक जन हो जो कहते हो कि ईश्वर सबको रचता है। उन्हे भी यह कहना पडता है कि वह तो रागद्वेषसे रहित है, नही है रागद्वेषरहित ईश्वर तो ईश्वरकी महिमा नही रहती। उनको नीचा देखना पडेगा, किसीपर राग किया, किसीपर द्वेष किया। तो उन्हे भी कहना पडता है कि वह ईश्वर वीतराग है और वह सर्वज्ञ है, ऐसा न माने तो क्या वह ईश्वर हम आपकी तरह न कुछसा ज्ञानी है ? तो इतनी बातें उन्हे भी माननी पडती है, चाहे मा नेकी पद्धति यथार्थ न बने, पर उन्हे ये दोनो बातें (वीतरागता और सर्वज्ञता) माननी पडती हैं। तो इस अन्त स्वरूपकी समानतासे सब जीव ईश्वरके समान हैं, तब अब धीरे-धीरे चलकर यह बात रूढिमे आ गई कि ईश्वर इस समस्त संसारका रचनेवाला है। यह एक सभावित दृष्टिकी बात कही है। अब देखिये—इस दृष्टिमे शिक्षा क्या है और

अनर्थ क्या है ? शिक्षा तो यह है, यो मान लीजिए कि निमित्तनैमित्तिक भावसे यह जगत हुआ है, इसका रचनेवाला वह विशुद्ध वीतराग सर्वज्ञ नही है इसमे अपना विभाव निमित्त जचेगा। सो इस अश्रेयभावको दूर करनेका प्रयत्न होगा और ऐसा ही सही मानने पर जैसा कि शकाकारकी चर्चा थी कि हम सबका करनेवाला कोई एक ईश्वर है तो अनर्थ यह है कि वे अपनेको कायर अनुभव करेंगे और वे कुछ पौरुष भी न कर सकेंगे तो इस तरह यह तीसरी चर्चामें और चौथी चर्चामे यह बात बतायी कि भावजगतका कर्ता यह ईश्वर है और द्रव्यजगतका कर्ता भी यह ईश्वर है, इस बातकी मान्यताका मूल आधार उनको क्या मिला होगा, उसका यह वर्णन है।

पुरुषके अकर्तृत्व व प्रकृतिके कर्तृत्वके मन्तव्यकी संभावित मूल दृष्टिका संभावन--अब यहा दो चर्चायें अन्य नवीन आ रही है कि प्रकृति तो है सर्वजगतका कर्ता, पुरुष रहता है सदैव अकर्ता। इससे यह जानना है कि जो मंतव्य पुरुषको अकर्ता कह रहा है उसकी मूल आधारभूत दृष्टि क्या थी और जो प्रकृतिको कर्ता कह रहा है उसकी मूल आधारभूत दृष्टि क्या है ? पुरुषका अर्थ है आत्मा और प्रकृतिका अर्थ क्या है--प्रकृतिवादी कुछ भी कहते हो और चाहे उनका कहना इस ढगका हो कि जहाँ कोई सद्भूत पदार्थ दृष्टिमे नही आवे, लेकिन शीघ्र समझनेके लिए यहाँ प्रकृतिको मान लीजिए कर्मप्रकृति। इस सिद्धान्तमे यह कहा गया है कि यह सब प्रकृतिका विकार है, जो दिख रहा है और यहाँ तक कि ज्ञान भी, बुद्धि, अहंकार, शरीर, इन्द्रिय, विषय आदिक सभी चीजें ये प्रकृतिके विकार माने गए है। रागद्वेष सुख दुख आदिक इन सबको करनेवाली प्रकृति है, किन्तु रागद्वेष सुखदुखादिकका भी करनेवाला पुरुष नही है। इस तरहके जो विभाग करके वर्णन है उनमे यह समझाया जा रहा है कि जो पुरुषको अकर्ता कहा है और प्रकृतिको कर्ता कहा है सो यह किन अभिप्रायोसे बात बनती है ? पुरुष भोक्ता है, मात्र वह कर्ता नही है। तो पहिले यह दृष्टि देखो कि पुरुष कर्ता नही है, यह किस नयसे है ? कुछ भी कि विचार करनेपर शीघ्र विदित होगा कि स्वभावदृष्टिसे प्रयोग किया गया है। पुरुष अर्थात् आत्मा याने चेतनमे जो चेतन तत्त्व है, आत्मतत्त्व है सहजभाव जो आत्माका अपनी ओरसे ही केवल सहजस्वभाव है उसमे कर्तृत्व पडा हुआ नही है, वह किसी वस्तुका कर्ता नही है। यद्यपि इस जीवके भावोका निमित्त पाकर शरीररचना आदिक होती है, जिनका वर्णन कलकी दो चर्चाओमे आया था, लेकिन जब स्वभावको निरखते है तो स्वभावत. यह जीव रागादिकका, सुख दुखादिकका, इन बाहरी ठाठोका कर्ता नही है। यह स्वभावदृष्टि यहाँ अपनाई गयी है, लेकिन स्याद्वादका आश्रय किए बिना न तो वह सिद्धान्त व्यवस्थित रह सका और न इसका स्वरूप व्यवस्थित रह सका। सिद्धान्त यो व्यवस्थित न रहा कि एकान्तत जब यह यह मान लिया,

गया कि आत्मा कर्ता नही है, रागद्वेषादिका करने वाली प्रकृति है। जब यह आत्मा कर्ता ही नही है तो यह उनका भोक्ता कैसे बने और जब कर्ता नही है तो ये रागद्वेष किस उपादानमे हुआ करते है ? वह उपादान बतलाओ तो व्यवस्थित नही हो सकता है—यह सिद्धान्त स्याद्वादका आश्रय किए बिना।

पुरुषस्वरूपकी मीमांसा—यहाँ यह भी देखिये कि उन अपरिणामवादियोके पुरुषका स्वरूप भी अनोखा है। यह पुरुष, यह आत्मा ज्ञानशून्य है। ज्ञान इसकी प्रकृति नही है, ज्ञानस्वभाव नही है, ज्ञान कलक है, लाछन है, प्रकृतिका विकार है और जब तक उसका सम्बन्ध है तब तक जीव संसारी है, यह उनका सिद्धान्त है तो तो ज्ञानरहित पुरुष किस स्वरूपमे हुआ ? तो उस सिद्धान्तका यह कथन है। वह मात्र चैतन्यस्वरूप है। उस तत्त्वमे क्या होता है ? चेतता है। चेतना है, उसका क्या अर्थ है ? सो न वह ज्ञानरूपसे जबाब दिया जा सकता और न अन्यरूपसे कहा जा सकता है। साथ ही इस तत्त्वको वे दृष्टाकी तरहसे देख रहे है। जो दर्शनका स्वरूप है, करीब करीब मिलाकर वैसा ही वे पुरुषका स्वरूप कहते हैं। और उस पुरुषको दृष्टा कहते है। ज्ञाता शब्दका प्रयोग नही है पुरुषके लिए, किन्तु दृष्टा शब्दका प्रयोग है उस सिद्धान्तमे। यह पुरुष दृष्टा है, ज्ञाता नही है। प्रकृतिका सम्बन्ध होनेसे यह ज्ञाता कहा जाता है। इस तरहका पुरुषका स्वरूप रख रहे है किन्तु यह स्वरूप भी व्यवस्थित नही रह सकता। कोई भी सत् हो वह सामान्य विशेष बिना नही रह सकता। यहाँसे विशेषको तो उडा दिया और सामान्यका आग्रह किया। इन अद्वैतवादियोकी प्रकृति थी तो भलेके लिए कि ऐसे अद्वैतकी ओर जावें कि अनिर्वचनीय तत्त्व तक दृष्टि पहुचे, जिसका कि कुछ निर्वाचन ही नही हो सकता। यो किया तो सही, मगर विशेष शून्य सामान्य कुछ चीज ही नही हुआ करती है। जहाँ विशेष हटा दिया वहाँ सामान्य क्या है ? यदि वह चित् है, दर्शनस्वरूप है तो उस चितमे चित्त्वके कारण यह अनिवार्य है कि उसमे ज्ञेयाकार हो, जानन हो। ऐसा हुए बिना उसका चित्त्व क्या रहेगा ? यो सामान्य विशेष पुरुषको न मान कर सामान्यका इतना तीव्र आग्रह किया कि जहाँ पुरुषको मात्र चैतन्यस्वरूप ही देखा गया है, ऐसा वह पुरुष कर्ता नही है, यह इस सिद्धान्तका भाव है और यह भाव स्वभावदृष्टिसे सिद्ध होता है। यो सभी आत्मा स्वभावदृष्टिसे अविकार चैतन्यस्वरूप हैं, उनमे विकार नही है, एक चैतन्यस्वरूपमात्र है। यहा इस दृष्टिके रखते हुए उसका जो परिणमन है वह बोधमे उपयुक्त नही है, ज्ञानोपयोगमे युक्त नही है, ज्ञानोपयोग वहाँ पडा नही है। ऐसा ज्ञानरहित केवल चैतन्यस्वरूप मात्र पुरुष कर्ता नही है। ऐसा इसका निरखना सामान्यका तीव्र आग्रह हो और स्वभावकी दृष्टि हो, इसमे यह अभिप्राय निकलता है कि यह आत्मा कर्ता नही है।

पुरुषतत्त्वकी भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मिका सत्तासे अनुस्यूतता— देखिये —स्वभावपर जब दृष्टि दी जाती है तो सिद्धान्त यह बनेगा कि आत्मा कर्ता नही है, लेकिन आत्माका परिणमन भी नही है, कुछ ऐसा यदि करार कर दिया जाता है तब तो उसका सत्त्व ही कुछ न रहेगा। कोई पदार्थ है क्या ऐसा तो मान लिया जाय और वहाँ परिणमन न समझा जाय तो उसका सत्त्व किस तरह रह सकता है ? यो तो कोई कह सकता है कि आकाशके सीग है, आकाशके पत्ते हैं, फूल है, गधेके सीग है। कोई कहे कि मुझे तो ये नही दिख रहे। अरे तो वे दिखें कैसे ? वे तो अपरिणामी हैं, परिणमनवाले नही है। तो वे दिखते नही हैं, पर वे गधेके सीग हैं और आकाशके फूल है, फिर तो कुछ भी कह डालो—यो कहनेसे काम न बनेगा। जो भी सत् है वह नियमसे परिणमेगा। परिणमन ही नही, उसका रूप ही नही, कुछ बात ही नही, उत्पादव्ययध्रौव्य नही तो फिर वह सत् क्या है ? इस दृष्टिसे निरखा जाय तो आत्मा परिणमनशील नही है। परिणमनात्मक आत्मा स्वभावदृष्टिसे कर्ता नही है अथवा स्वयमे कर्तृत्व भी क्या ? "है" और उसमे हो रहा है बस यह बात वहाँ पायी जा रही है। अपनेको करना क्या है और परका कोई कुछ कर सकता नही। इस दृष्टिसे यह आत्मा कर्ता नही है यह बात यहाँ विदित होती है, और ऐसी अन्तरङ्ग दृष्टि जब की गई, उस आत्माका स्वभाव निरखा गया तो इस स्वभावदृष्टिमे प्राप्त अन्तस्तत्त्व न तो अन्तरङ्ग भावका कर्ता है और न बाह्यपदार्थोंका कर्ता है। स्वभावदृष्टि है ना ? तो स्वभावदृष्टिमे यह आत्मा रागद्वेषादिक भावोका कर्ता नही, ज्ञानका भी कर्ता नही। ज्ञान होता है, वस्तु है, हो रहा है। अपने आपमे करनेकी बात क्या ? और परपदार्थका कर्ता किसी प्रकार कुछ हुआ ही नही करता है। व्यवहारदृष्टिसे देखेगे तो निमित्तसे भले ही कोई कह ले, पर व्यवहारदृष्टिमे भी पदार्थ तो पृथक्-पृथक् नजर आयेगे। तब एक दूसरेका कर्ता कहासे हो सकेगा ? तो यह पुरुष बाह्य पदार्थोंका कर्ता नही है, यह तो सही है, पर यह अन्तरङ्ग भावका भी कर्ता नही है, स्वभावदृष्टिमे जब यह अभिप्राय युक्त हो जाता है कि यह पुरुष चैतन्यस्वभावी आत्मा कर्ता नही है, इस सम्बन्धमे थोडा भोक्तापनकी बात भी समझना है, किन्तु यह विषय इससे कुछ अलगका है। इसको आगेकी चर्चामे कहा जायगा।

प्रकृति कर्तृत्व व प्रकृति शब्दार्थपर विचारणा—यहाँ यह निर्णय दिया गया है कि यह पुरुष चेतन ब्रह्म आत्माका कर्ता नही है तब फिर कर्ता कौन है ? बात तो यह सब दिख रही है। भौतिक पदार्थ है। ये जीव फिर रहे हैं, ये इन्द्रियाँ हैं, ये रागद्वेष कषाय होते हैं, बडे-बडे ज्ञानी पुरुष हो रहे है, बडे ऊँचे ज्ञान चलते है तो इनका कर्ता कौन है ? इसका उत्तर दिया गया है कि प्रकृति कर्ता है। तो अब इस दूसरी चर्चाको यहां परखियेगा—ये रागद्वेष, शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान, अहंकार इन सबको करनेवाली प्रकृति है, यह अभिप्राय किस

दृष्टिसे उनका बना होगा ? विचार करनेपर यह सिद्ध होगा कि यह विचार उनका निमित्त दृष्टिमे बना होगा। यद्यपि इस सिद्धान्त वाले लोग प्रकृतिको क्या मानते है, किस तरह मान रहे हैं ? कोई एक मूर्तिमान रूप नही नजर नही आता, लेकिन जरा न्याय बलसे उसका रूप ठीक बैठालकर उनकी शकापर कुछ विचार करे। प्रकृतिका अर्थ है कर्म। जीव के साथ इस अशुद्ध अवस्थामे जो कर्म लगे हुए हैं वे पौद्गलिक है, मूर्तिमान हैं, अत्यन्तसूक्ष्म हैं, ऐसी उन कर्मोमे जो प्रकृति पडी रहती है, स्वभाव पडा रहता है उसे कहते हैं प्रकृति। देखिये—प्रकृति शब्दके अनेक अर्थ हैं—व्याकरण शास्त्रमे प्रकृतिका अर्थ है मौलिक शब्द प्रकृति और प्रत्यय कहलाता है विकार। जैसे 'राम' यह प्रकृति है और इसमे सु प्रत्यय लगाया—राम, यह पद बन गया। "राम" यह प्रकृति है और 'सु' यह प्रत्यय है। तो वहाँ प्रकृतिका अर्थ क्या है कि "प्रथम क्रियते इति प्रकृति," अर्थात् जो पहिलेकी हुई बात हो अर्थात् सहज दशा उसको कहते है प्रकृति। जब प्रत्यय न लगाया तो उस शब्दकी जो मुद्रा है उसका नाम है प्रकृति। तो इससे प्रकृतिका महत्त्व बडा है, वह सबसे पहिली बात है, यह विकार नही है अभी। यह प्रकृति अविकृत है और प्रत्यय उसका विकार है। जब प्रकृतिमे प्रत्ययरूप विकार लग जाता है तो उसका तोड मरोड होता है, प्रयोग होता है और जब उसमे कोई विकार नही लगता तो उस प्रकृतिको बडा आराम रहता है। वह बोला न जायगा, उसका प्रयोग न होगा, तो वह आराममे रहेगा। और जहाँ प्रत्यय लगा तहाँ खुद भी हैरान होता और बोलनेवाला भी हैरान कर दिया जायगा। तो वहाँ व्याकरण शास्त्रमे प्रकृतिका अर्थ विकार है और यहाँ प्रकृतिका अर्थ उन साख्य सिद्धान्तके अनुसार है कुदरत, स्वभाव प्रकृति हो गया, पर जैनसिद्धान्तके अनुसार प्रकृतिका अर्थ है कर्मके फलदानकी जातीय शक्ति। किस प्रकारका यह फल देगा, किस प्रकारके स्वभावसे किस प्रकारके विकारकी बात देगा।

प्रकृतिके वाच्यार्थका निर्णिनीपा—प्रकृतिके वाच्यार्थके निर्णयपर ही कुछ बोला जा रहा है। लोग पहाडोको देखकर कहते है—देखो प्रकृतिका कैसा रग है, कितना सुहावना लग रहा है ? उनसे जरा पूछो तो सही कि हमे प्रकृतिका अर्थ तो बता दो। वह प्रकृति है क्या चीज ? बोलनेको तो प्रकृति प्रकृति हर एक कोई बोलता है पर वह प्रकृति हैं क्या चीज ? यह तो बताओ। दार्शनिक लोग भी वडे-वडे ग्रन्थ रच जायेंगे कि इस प्रकृतिसे महान होना, ज्ञान होना, अहकार होना, ये सब रचनायें पैदा होती हैं, मगर उनसे कहा जाय कि बताओ वह प्रकृति क्या चीज है जिससे कि ये ज्ञान, अहकार आदिक अनेक बन वैठे, ये सुहावने सारे दृश्य बन बैठे ? तो ऐसी क्या प्रकृति बतलायी जाय ? यद्यपि जो तथ्यकी वात है उससे कोई अलग नही हो सकता और उस प्रकृतिका रूप बनानेके लिए सत्त्व, रज, तम

ये तीन गुण मानने भी पडे जो कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यके प्रतीक है, सत्त्व है ध्रौव्य, रज है उत्पाद और तम है व्यय, लेकिन जब प्रकृति कुछ चीज हो और उसमे सत्त्व, रज, तम ये गुण स्थापित किए जाये तब तो उनकी सब व्यवस्था बने, लेकिन गुण बताये बिना काम न चला सो वे बताने तो पडे, लेकिन उनकी व्यवस्था न बन सकी। और व्यवस्था न बनायी गई तो किस तरह ये पदार्थ दिखे ? जब सत्त्व गुणमे आता है पदार्थ तो यह सबके लिए सुहावना और फायदेवान हो जाता है। यह प्रकृति अगर सत्त्व प्रकृतिवाली है तो यह बुराई न रखेगी, किन्तु समतामे रखेगी और श्रेयस्कर होगी। उस समय रज और तम उस पदार्थमे नही रहते। जब यह चीज रजो गुणमे आती है तब उत्पाद होता है, मायामय सुहावना लगता है। जब रजोगुण है तब वहाँ सत्त्व व तम नही है। लो चलो जब तमो-गुण आया, तब उनके इस मतव्यमे उस समय सत्त्व और रज नही है। जब तम हुआ तो विनाश हो गया, इस तरह पृथक्-पृथक् मान लिया गया, किन्तु वस्तु सद्भूत है और उसमे सत्त्व, रज, तम ये तीनो गुण निरन्तर एक साथ रहते है, यह हुई उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी बात। जब गुणका आधारभूत गुणी न मानें और उन गुणोको हम बोले और फिट करें तो कही फिट होगा ही नही। जब गुणी नही है तो गुण किस जगह धरे जायेगे ? जब कोई प्रकृतिकी मुद्रा ही नही है, उसमे क्या गुण है, क्या मुद्रा है, जब ऐसी कोई मुद्रा ही नही है तो फिर इस सम्बन्धमे स्पष्ट क्या कहा जा सकता है ?

प्रकृतिके वाच्यार्थका निर्णयन—प्रकृतिवादी लोगोका यह सिद्धान्त है कि प्रकृतिसे महान हुआ, अहकार हुआ, उससे फिर गण हुआ, इन्द्रियाँ हुईं, फिर पाँच भूत हुए, लो पहिले तो विषय हुआ, उनसे फिर इन्द्रियाँ बनी और प्रलय होता है तब इन्द्रियविषयोमे मग्न हो जाता है, वह सब द्रव्य इन्द्रियमे मग्न हो जाता है और ये सब अहंकार, बुद्धिमे और बुद्धि प्रकृतिमे मग्न हो जाती है, उस समय दुनियामे कुछ नही रहता, खाली प्रकृति रह जाती है। इतना वर्णन करनेके बाद यह पूछा जाय कि तुम्हारे दिमागमे क्या आया ? अरे दिमाग मे आया अथवा नही, बात तो बनी। तो प्रकृतिका पहिले रूपक सोचो कि क्या है प्रकृति ? यो तो कभी-कभी कहते है कि "जाट रे जाट, तेरे सिर पर लाट।" तो वह उत्तर देता है कि "तेली रे तेली, तेरे सिरपर कोल्हू"·· अरे यहाँ तुक कहाँ मिला ? पहिले तो तेली शब्द आया, बादमे कोल्हू शब्द आया, यह तो तुमने तुक नही मिला पायी ?·· अरे नही तुक मिली तो न सही, मगर इस कोल्हूसे तुम दब तो जाओगे, हैरान तो हो जाओगे। तो यह कोई बुद्धिके भरमानेवाली बात नही है। अब जरा देखिये—प्रकृति क्या चीज कहलाती है ? नदी, पहाड, झरने आदि देखकर लोग कह उठते है कि ये तो प्राकृतिक दृश्य हैं, पर वह प्रकृति वास्तवमे है क्या चीज, इसपर भी तो कुछ विचार करो। तो प्रकृतिके मायने

है कर्म। अब देख लीजिए यह सब कर्म प्रकृतिकी लीला है कि नही। ये पहाड भी इस कर्मप्रकृति की लीला है। ये प्रकृतियाँ वैसे तो असख्याते प्रकारकी है पर व्यवहार चलानेके लिये १४८ प्रकारकी प्रकृतियाँ गिनाई गयी है। उनमे यह भी एक प्रकृति है, उन प्रकृतियो के विपाकसे ये सब ऐसे काय बने हैं जो सुहावने लगते है। कितनी अद्‌भुत सुन्दरता है, ऐसा कोई बना भी नहीं सकता। देखिये एक ही पेडमे कितनी-कितनी प्रकारके रग विरगे पत्ते है, फल है, फूल हैं, वे एक एक फूल भी कितनी ही तरहके रगोसे शोभित हैं, तो यह सब क्या है? यह सब इस कर्मप्रकृतिकी लीला है। अच्छा—वह प्रकृति क्या है? वह प्रकृति यद्यपि इतनी सूक्ष्म चीज है कि उसे यो बता नही सकते, लेकिन उनका रूपक बताया तो गया है कि ये मूर्तिक है, पौद्‌गलिक है। तो ऐसी प्रकृतियोका यह सब दृश्य है। यह सारी लीला उस प्रकृतिको लक्ष्यमे लेकर आप सुनो—और जिस प्रकृतिको लक्ष्यमे लेकर सिद्धान्त बनाया हो, वे जानें।

प्रकृतिकर्तृत्वके मन्तव्यकी आधारभूत सभावित मूल दृष्टिके वर्णनका अन्तिम आख्यान—यहाँ कहा जा रहा है कि रागद्वेष, सुख दुःख, अहकार, विडम्बना आदि समस्त चीजोको करनेवाली यह प्रकृति है। वे नाना प्रकृतियाँ, नाम कर्मकी प्रकृतियाँ, अन्य-अन्य प्रकृतिया उदित न हो तो यह लीला कहासे आती है? तो उन कर्मोके विपाक होनेपर ये सब दृश्य बने है। इस कारण निमित्तदृष्टिमे यह कहा जायगा कि इन सबको करनेवाली कर्मप्रकृति है। यह प्रकृति भी कहासे आयी? तो जीवके कषायभावोका निमित्त पाकर जो ये कर्म बँधते है उसका नाम है प्रकृति। और उन कर्मस्पर्धकोमे, उन कर्मप्रकृतियोमे ऐसी प्रकृति पडी हुई है कि यह ज्ञानको आवृत कर दे, यह दर्शनको ढक दे, यह सुख दुःखके साधन मिला दे, यह सुख दुःखका वेदन कराये। इन प्रकृतियोके उदयमे इस इस प्रकारके शरीरोकी रचना बनी इस तरह अनेक प्रकारके काम है, अनेक प्रकृतिया हैं, तो वह प्रकृति कर्ता है, यह बात कही गई है निमित्तदृष्टिसे। उपादानत तो प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है और वह अपने आपके परिणमनसे परिणमता है। निमित्त शब्दका अर्थ है कि जो भली प्रकार अथवा निर्गतरूपसे स्नेहित हो, स्नेह करे, उसे कहते है निमित्त। नि का अर्थ निःशेष भी होता है और नि का अर्थ निकलना भी होता है। जो उपादानसे अलग रहता हुआ निकला रहकर उसीसे स्नेह करे उसे कहते हैं निमित्त और निमित्तमे यह बात पायी जाती है कि उपादानसे दूर रह रहकर केवल उपादानके विषम कार्यके प्रति स्नेह रख रहा है, उनके होनेपर हो और न होनेपर न हो, ऐसा अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध निमित्त-नैमित्तिकमे है। अब उस सिद्धान्तसे मिलान कीजिए। उनका कथन है कि प्रकृतिसे ज्ञान पैदा होता, बुद्धि पैदा होनी। लो देखो, ज्ञानावरण प्रकृतिके क्षयोपशमसे बुद्धि पैदा होती,

अहकार पैदा होता, उस ज्ञानसे तो यद्यपि यह अहंकार नही पैदा हुआ और ज्ञानके कारण-भूत ज्ञानावरणप्रकृतिके क्षयोपशमसे भी नही हुआ, मान प्रकृतिके उदयके निमित्तसे हुआ है लेकिन अहंकारको चेतनेवाला तो ज्ञान है ना, तो ज्ञान द्वारा चेतेके बिना अहकारका स्वरूप नही वनता, इसलिए लो उदित मान कषाय प्रकृति साक्षात् भी निमित्त है और प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुई बुद्धिके द्वारा चेता गया है, इस तरहसे अहकारमें भी ज्ञानावरणका निमित्त पडा हुआ है। वह परम्परया निमित्त हो गया। अब यह निमित्त और निमित्तके निमित्त, निमित्तके निमित्त इस तरहकी दृष्टियोको लगाकर प्रकृतिके ये सब २४ विकार सिद्ध हो जायेंगे। वे किस तरह बन जायेंगे? सो पहिले प्रकृतिवादियोका मन्तव्य देखिये— प्रकृतिसे हुआ महान, महानसे हुआ अहकार, अहकारसे हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध स्वरूप ५ मात्राये व ५ बुद्धीन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रिया व १ मन—इस तरह १६ गुण और उनमे जो ५ विषयमात्राये हैं उनसे हुए आकाश, वायु, आग, जल और पृथिवी। सो इन सबका साक्षात् निमित्तप्रकृति है और अहंकार जिसने चेता ऐसे उस विज्ञानको यहां अपादान कहा, सो उपचारसे। ऐसे ही आगे बढते जाओ, उससे फिर इन्द्रिया हुईं, विषय हुए, फिर भूत हुए। सो यो तो निमित्त पद्धति नही, किन्तु ये सब प्रकृतिके विकार है, अर्थात् प्रकृति जो जीवके साथ लगी हुई कार्माणवर्गणाये है उनका निमित्त पाकर यह सारा जाल फैला हुआ है। इस तरह पुरुष कर्ता नही है। यह पहिली चर्चा तो स्वभावदृष्टिके आधारपर बनी है और इन सबको प्रकृति करनेवाली है। यह चर्चा निमित्त दृष्टिके आधारपर बनी है।

पुरुषाकर्तृत्व व प्रकृतिकर्तृत्वकी चर्चाके बाद पुरुषभोक्तृत्वकी मीमांस्य चर्चा—कल की चर्चामे यह वर्णन था कि पुरुष अर्थात् आत्मा रागद्वेष सुख दुःख और अन्य-अन्य भी सर्व पदार्थ इनका किसीका भी करनेवाला नही है और प्रकृति इनको करनेवाली है। इसका समन्वय स्वभाव दृष्टि और निमित्त दृष्टिसे करनेकी बात कही गई थी। अर्थात् आत्माके स्वभावपर दृष्टि दें तो ऐसा विदित होता है कि यह पुरुष अर्थात् आत्मा इन सब किसीका भी करनेवाला नही है, किन्तु इसके मायने यह न होगा कि यह आत्मा अपरिणामी है, इसमे उत्पाद व्यय होता ही नही है। इसी प्रकार प्रकृति निमित्त रूपसे इन सर्व अन्य बाह्य विभावोका पर्यायोका कर्ता है। उसका अर्थ यह है कि कर्मप्रकृतिके उदय बिना यह सब रचना हो नही सकती थी। यो निमित्त दृष्टिसे ऐसा है, किन्तु प्रकृति तत्त्व कोई द्रव्य, कोई पदार्थ ही न हो, कोई अस्तित्व ही न रखना हो, उसमे कारणकार्यविधान कैसे होगा? जिसमे ६ साधारण गुण और असाधारण गुण न पाये जाये, ऐसी कोई प्रकृति नही है। वह प्रकृति तो है पौद्गलिक कर्मप्रकृति। इन दो चर्चाओके वर्णनके बाद अब यह चर्चा आ रही है कि कुछ सिद्धान्तोके दार्शनिक कहते हैं कि सुख दुःखादिकका भोगनेवाला

पुरुष है, आत्मा है, सो यह किस नयसे अभिप्राय बन जाता है ?

अकर्ता आत्मा (पुरुष) को सुखदुःखादिभोक्ता माननेके मन्तव्यकी संभावित मूल दृष्टिकी जिज्ञासा—यहाँ इस बातकी मीमासा करना है कि पुरुष रागद्वेष सुख दु खादिकका करनेवाला तो नही है, ऐसी पहिली चर्चामे चर्चाकारने कहा था। किन्तु अब यह कहा जा रहा है कि सुखदु खादिकका करनेवाला तो नही है आत्मा, लेकिन उनका भोगने वाला है। सो यह अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम है ? तो समाधानमे यहाँ इतना समझना चाहिए कि यह अभिप्राय निज परिणमनानुभव दृष्टिका है। अपना परिणमन सब जीवोमे हो रहा है और उसका अनुभवन हो रहा है उस दृष्टिसे यहाँ भी यह तका गया है कि आत्मा सुख दु ख आदिकका भोक्ता है। यद्यपि जिस दृष्टिमे आत्माको अकर्ता कहा गया है कि यह रागद्वेष सुख दु खादिकका कर्ता नही है तो उसही दृष्टिमे आत्मा अभोक्ता भी है अर्थात् यह आत्मा उस स्वभावदृष्टिसे देखा जाय तो न कर्ता है, न भोक्ता है, किन्तु यहाँ चर्चाकारने यह बात रखी है कि आत्मा कर्ता तो नही है किन्तु भोक्ता है। तो इसकी विषमताकी बात किस दृष्टिसे हो गयी ? कर्ता न था तो भोक्ता भी न होना चाहिए, पर आत्मा रागद्वेष सुख दु ख आदिकका कर्ता तो नही है किन्तु भोक्ता है। तो यह भोक्ता कैसे बना ? यह भोक्तापन बना है निज परिणमनानुभव दृष्टिसे। चूँकि मान तो लिया है ऐसा कि मैं ब्रह्म हू, आत्मा हूँ, पुरुष हू, पर बीत जो रही है उसे कहाँ टाल दें ? बीत यह रही है कि हम सुख दु खादिकका अनुभव करते है ऐसे ही रागद्वेष, कषायादिकका अनुभव करते हैं तो इस अनुभवनकी बात कहा टाल दी जाय ? सो यह बात माननी पडी चर्चाकारोको कि आत्मा कर्ता तो न रहा, पर भोक्ता तो होता ही है। अब इस सम्बन्धमे थोडा-सा विश्लेषणपूर्वक सोचें। जैसे आत्मामे स्वभावदृष्टिसे अकर्तृत्व है, इसी प्रकार भोक्तृत्व है, फिर भी जब बाहर दृष्टि देते है तो यहा यह बात निरखनेमे आती है कि जीवमे जो रागद्वेष सुख दु खादि होते हैं उनका करनेवाला आत्मा नही है। कर्मके उदय आये हैं तो ये परिणाम हो गए अतएव निमित्त दृष्टिसे कर्मप्रकृतिया इन सुख दु खादिककी कर्ता नही हैं, लेकिन जब भोगनेकी बात सामने रखी गई कि इसका भोक्ता कौन है तो कहा जा सकता है कि इसका भोक्ता प्रकृति है।

मुक्तिमार्गाभावप्रसङ्गभयसे व प्रकृतिमें भोक्तृत्वके आरोपकी गुंजाइश न होनेसे पुरुष को भोक्ता माने जानेके मंतव्यकी मूलदृष्टिकी जिज्ञासाका प्रश्न—यहा एक अडचन यह भी शकाकारने समझी है कि यदि यह कह दिया जाय कि सुख दु खका प्रकृति भोक्ता है तो सारा फैसला हो चुका, करनेवाली भी प्रकृति हुई, भोगनेवाली भी प्रकृति हुई तो पुरुषके ससार कहा रहा ? पुरुषके सुख दु ख कहा रहा ? हो रहा सब प्रकृतिमे, इससे पुरुषको

क्या लेन देन रहा। जैसे यहा जीव सुख दु ख भोगते है तो उनके भोगनेसे इन चौकी, पत्थर आदिकको क्या हानि, लाभ है ? ये तो भोग नही रहे है कुछ, इसी तरह यदि प्रकृति ही जैसा करती है वैसा भोगती है, यह मान लिया जावे तो इसमे पुरुषको फिर क्या हानि रही ? इसलिए फिर मोक्षमार्गमे क्यो चलना चाहिये ? क्यो ज्ञानसाधना करना चाहिये ? यह एक अडचन भी आती थी। इससे शकाकारको यह कहना पडा कि नही, भोगनेवाला पुरुष है। यह भी साथमे देखो कि जैसे रागद्वेष सुख दु खादिक परिणमनोका कर्तापन प्रकृति मे बताया जा सकता, प्रकृति निमित्तमे उसका आरोप किया जा सकता, आरोपका अर्थ है परमार्थत वैसा नही होकर कुछ सम्बन्ध है इस कारणसे उसका आरोप होता है। तो प्रकृति उपादानत चाहे कर्ता नही है सुख दु खादिकका, लेकिन उसके निमित्तसे उत्पन्न हुए है अत-एव सुख दु खादिकके कर्तापनका आरोप बन जाता है। प्रकृतिमे लोग जब यह सोचते है कि सुख दु खादिकके कर्तापनका भी आरोप प्रकृतिमे कर दिया जाय तो ऐसा आरोप किया जानेकी गुंजाइश नही मिल रही। इस कारण शकाकारको यह कहना पडा कि सुखदु खा-दिकको करनेवाली प्रकृति है, किन्तु भोगनेवाला यह पुरुष आत्मा ही है। इस तरह यह आशय किस मूलदृष्टिके आधारपर बनता है ? यह अभिप्राय निजपरिणमनके अनुभवकी दृष्टिसे है, अपने आपमे परिणमन देखा जा रहा है। अनुभव किया जा रहा है उससे विदित होता है कि पुरुष इसका भोक्ता है।

अब इस चर्चाके बाद यह चर्चा आती है कि कुछ लोग ऐसा भी कहने लगे है कि वस्तुमे सभी पर्यायें है और उनका क्रमसे आविर्भाव होता है। पदार्थमे जितनी पर्यायें है वे सब पदार्थमे पडी हुई है और उनका आविर्भाव क्रमश होता है, यह दर्शन कोई नवीन नही है। प्राचीन दार्शनिकोने भी यह बात कही है सत्कार्यवादके नामसे। सत्कार्यवादका अर्थ है कि पदार्थमे वे सब पर्यायें सतत मौजूद रहती है और कारणकूट मिलनेपर उन पर्यायोका आविर्भाव होता है। तो जैसे कारणकूट मिलते है उसके अनुकूल उन पर्यायोका आविर्भाव होता रहता है। इस सिद्धान्तसे यहा तक बात समझनेवाली बन जाती है कि बट के फलका एक दाना कितना छोटा होता है ? जो तिलके दानेसे भी छोटा होता है एक बटके फलमे सैकडोकी सख्यामे दाने हुआ करते है। उनमे से एक दाना तिलके दानेसे भी छोटा है, उस एक दानेमे करोडो तो पेड बसे है और खरबो, अनगिनते फल पड़े हुए है, क्यो पडे हुए है कि देखो उस दानेको जमीनमे बो दिया जायगा तो एक बट वृक्ष पैदा होगा और उस वृक्षमे फिर बहुतसे फल पैदा होगे, और फिर उन फलोके दानोसे और भी वृक्ष उगेंगे, इस तरह जितने भी पेड आगे उगेंगे, जितने भी फल तथा दाने आगे उत्पन्न होगे, वे सब अभीसे उस बट फलके बीजमे (दानेमे) पडे हुए है। अब उनका क्रमसे आविर्भाव होता है।

तो ऐसा जिन दार्शनिकोने कहा है उनके इस कथनका आधारभूत अभिप्राय क्या है ? अर्थात् यह दर्शन चला, जिससे सीखा गया, उन्होने जिससे सीखा आखिर मूलमे जो कोई भी महादार्शनिक हुए हो, इस मतव्यके लिये उनको क्या दृष्टि आयी थी, जिसके आधारपर यह रचना बन गई है ? और यह सम्भव है कि मूलकर्ताने चाहे इस रूपके ढगसे न कहा हो, जैसा कि आज प्रसिद्ध है और कुछ ढग बन गया हो, लेकिन जाति तो वही थी तो वह अभिप्राय उनका किस आधार पर बना ? उसका समाधान मिलेगा नैगमदृष्टिसे अर्थात् यह अभिप्राय नैगमदृष्टिसे सिद्ध होता है ।

वस्तुमें सर्व पर्यायें हैं उनका क्रमसे आविर्भाव होता है, इस मन्तव्यकी संभावित आधार दृष्टि नैगमदृष्टि—नैगमनयका अर्थ है—निगम संकल्प तत्र भव नैगम, नैगमश्चासौ नयश्चेति नैगमनय अर्थात् निगम कहते है सकल्पको । सकल्पमे जो बात आती हो उसे कहते है नैगम । निगम और आगम—इन दोनोका जुदा अर्थ है । जो विधिवत् आये वह आगम कहलाता है । जिसके आगमका स्वागत हो, जिसके आगमका आदर हो, कुछ भी कह लो, जिसका आगम योगीश्वरोको भी प्रिय हो वह है आगम और निगम कहलाता है अपने आपमे से स्वय उत्पन्न हुआ । यहा व्याख्या कर रहे है एक आगम और निगमकी तुलनावाली । यहा निगमका एक साधारण सकल्प अर्थ है, पर जैसे कोई पुरुष अपने आप मे विशुद्ध तत्त्वका अनुभव कर लेता है और उसही तत्त्वको आगममे देखते है तो उसका वर्णन उस ढगसे मिलता है जैसा कि इसने अपने अन्तरङ्गमे अनुभव किया । तो अब यहा देखिये—वे बाते दो जगह मिली—(१) शास्त्रोमे और, (२) अपने आपके अनुभवमे । जो बाते अनुभवमे मिली वह है निगमतत्त्व और जो बाते शास्त्रोमे मिली वह है आगमतत्त्व । और कभी आगमका पहिले आश्रय करके जो भावना बनती है उसके अनुकूल अभ्यास होने से यह प्रकट होता है यो भी निगम बनता है । यहा इतने विशुद्ध निगमकी बात न कह कर यह बतला रहे हैं कि पदार्थमे पर्याये सब मौजूद है, उनका क्रमसे आविर्भाव होता है, यह नैगमनयसे समझा अर्थात् यह तो जाना ही है कि जब पदार्थ है तो यह अनन्त काल तक रहेगा, इसका समूल नाश नही हो सकता और जब यह पदार्थ चिरकाल तक सदा रहेगा तो प्रतिसमय इसमे पर्यायें कुछ न कुछ होगी ही । अब जो पर्याये होगी यदि यह सोच लिया जाय कि बीचमे यह अमुक पर्याय न होगी तो द्रव्य टूट जायगा, उसका फिर तांता न रहेगा । इससे भी यह जाननेमे आता कि ऐसी पर्यायें द्रव्यमे निरन्तर होती रहती हैं । तब पर्यायोको मना नही किया जा सकता है । साथ ही यह भी जानें कि एक साथ सब पर्यायें नही हुआ करती है, जो कल होगा सो कल ही होगा, जो परसो होगा सो परसो ही होगा । भले ही हम न जानें कि क्या होगा, लेकिन कल कुछ होना है ना, जो कुछ होना है

वह होकर रहेगा, परसो जो कुछ होना है वह होकर रहेगा । तो पर्याय अवश्य होगी और इस कर्मसे भी होगी, तो ऐसी वे सब पर्याये इसके निगममे आयी, संकल्पमे आयी, लेकिन उन सब पर्यायोका समूह ही तो द्रव्य है । पर्यायको छोड दें, फिर हम द्रव्य क्या बतलायेगे ? तो सब धारणाओंके बाद निगम संकल्पमे यह बात बनी कि द्रव्यमे सब पर्याये मौजूद हैं तब कारणकूट मिलनेपर उनका क्रमसे आविर्भाव होता है ।

वस्तुमें वर्तमान पर्यायमात्रका सत्त्व और अन्य योग्यतायें—अब वस्तुत निरखिये—तो पदार्थमे प्रतिसमय एक ही पर्याय रहती है । हा पर्यायें होती रहेगी, हो रही थी, वे सब इस द्रव्यकी थी, इस तरह द्रव्य उन सब पर्यायोमे गत हुआ, यो द्रव्यको निरखनेपर कहा जायगा कि द्रव्य अनन्त पर्यायवाला है । द्रव्य तो जो है सो है और वह प्रतिसमय एक पर्याय रूप रहता है । किसी भी द्रव्यमे यह बात नही पडी है कि भविष्यमे होनेवाली अनन्त पर्यायें द्रव्यमे मौजूद हो । वह प्रतिक्षण एक पर्यायात्मक है, वह उस जातिका पदार्थ है कि उसमे उस जातिके अनुकूल पर्याये होती रहेगी । तो वस्तुमे प्रतिसमय एक ही पर्याय रहती है, वह पर्याय दूसरे समय नही रहती । दूसरे समयमे दूसरी पर्यायका आविर्भाव होगा । तब उस वस्तुमे जो अनन्त पर्यायें हो चुकी थी और जो अनन्त पर्यायें होवेंगी उन सबका संकल्पसे द्रव्यमे निवास बना लिया जाता है और तब कहा जाता है कि वस्तुमे सर्व पर्यायें है और उनका आविर्भाव क्रमसे होता है । यह सत्कार्यवादी दार्शनिक इसके समर्थनमे कुछ युक्तियाँ भी पेश करते है । देखो—यदि पदार्थमे वे सब पर्याये न हो तो इसका कारण क्या है कि वटबीजसे वटवृक्ष ही उगे और अन्य जातिके वृक्ष न उगें । सत्कार्यवाद न हो तो वटबीज से खजूर अथवा गेहूं आदि उग जाय, पर ऐसा तो होता नही । गेहूके बीजसे गेहूँका पेड़ उगता, चनेके बीजसे चनेका पेड उगता आदि । कही ऐसा तो नही होता कि गेहूका बीज बो दिया जाय और उससे ज्वारके पेड उगे ? अब इस तर्कका उत्तर सुनिये, देखो गेहूका दाना बोनेसे गेहूका ही पेड उगता है, तो बात वहाँ यह है कि गेहूँका दाना इस जातिका है कि उसके उपादानसे कारणकूटके मिलनेपर गेहूका वृक्ष ही पैदा हो सकता है ऐसी उसमे योग्यता है, वे गेहू और बहुतसी बालियाँ, बहुतसे दाने वगैरह उस गेहूके दानेमे बसे रहते हो, ऐसी बात नही है । वह तो अपनी वर्तमान पर्यायभूत है । कारणकूट मिलनेपर उस योग्यताके अनुकुल वहाँ वे सब बाते प्रकट हो जाती है । यदि वस्तुमे भावी परिणमन इसी समय विद्यमान है तो उनकी आविर्भूति ही क्या करनी ? वे तो है ही । यदि कहा जाय कि प्रकट करना है अभी प्रकट नही है तो इसीका अर्थ है कि द्रव्यमे पर्याय योग्यतारूप है याने अमुक पर्याय हो सकती है । यदि कोई यह शंका करे कि यदि वटबीजमे पेड़ न हो तो वट पेड़को प्रकट करनेके लिये वटबीजको ही उपादानरूपमे लोग क्यो [illegible] करते है तो उत्तर

इसका यह है कि यदि वटवीजमे वटवृक्ष है ही (सर्वथा) तो कार्य ही कुछ करनेको न रहा, फिर उपादानको ही लोग क्यो ग्रहण करें ? यदि यहाँ यह शका की जाय कि वटवीजमे यदि पेड आदि नही है तो वह किसीके द्वारा दिया ही न जा सकेगा। तो शकाकार ही यह बता दे कि वटवीजमे सारे पेड व सारे वीज सब सत् ही है तो इस समय अंकुर ही क्यो प्रकट होता, सब ही सत् क्यो नही हो बैठते। सो बात यहाँ यह है कि जो कुछ किया जा रहा है वह उत्पत्तिसे पहिले कथचित् असत् ही है, जिसको इन शब्दोमे कह सकते हैं कि वटवीजमे अकुर होनेकी योग्यता है, किन्तु अभी अकुर नही है, सो अकुरके योग्य उपादानभूत बीजसे कारणकूट मिलाकर अकुर उत्पन्न किया जाता है। साराश यह है कि वस्तुमे जब भी देखो एक पर्याय ही होगी, उसमे योग्यता है कि प्रतिनियत अनेक पर्यायें होगी सो उन सभाव्यमान पर्यायोका वर्तमानमे ही सकल्प कर लेनेपर यह कथन बढाकर सिद्धान्त बना डालते हैं लोग कि वस्तुमे सर्वपर्यायें है, उनका क्रमसे आविर्भाव होता है। तो इसपर विचार करनेसे यही बात प्रमाणित होती है कि यह सब कथन नैगमदृष्टिके आधारसे चला और चलाते चलाते इसका यह रूप बन गया सीधा पूर्णनिर्णयके रूपमे कि वस्तुमे वे सब पर्यायें मौजूद ही हैं। और उनका आविर्भाव क्रमसे हुआ करता है।

'ईश्वरकी मर्जी बिना कुछ नहीं होता' इस अभिप्रायकी संभावित आधारदृष्टिकी जिज्ञासा—अब एक चर्चा लौकिक जन यह सामने लाते हैं कि देखिये—हम ही नही, प्राय सारी दुनियाके मनुष्य यही कह रहे हैं कि ईश्वरकी मर्जी बिना पत्ता भी नही हिलता। जो करता है सो ईश्वर करता है। उसकी मर्जी न हो तो कुछ भी नही हो सकता है। इतनी सब पदार्थोंकी परिणतियाँ हो रही हैं, होती है, वे सब किस आधारसे होती है ? और इनमे हेतु भी यह उपस्थित किया जाता है कि देखो—कुम्हारकी मर्जी बिना घडा तो नही बनता, जुलाहाकी मर्जी बिना कपडा तो नही बनता। तो यहाँ जब मर्जी बिना काम नही होता तो फिर ये जो पहाड बन गए, यह जो घास उग गयी, ये अद्भुत काम भी बिना किसीके द्वारा बनाये कैसे बन गए ? तो उनका बनानेवाला है ईश्वर। तो उस ईश्वरकी मर्जी बिना यहाँ पत्ता तक नही हिलता। यह अभिप्राय किस दृष्टिके आधारपर है ? अब यहा यह निरखा जायगा कि ये सब जीव है, मनुष्य हैं, सज्ञी है, इनमे तर्क वितर्क करनेकी प्रकृति है, इनमे ज्ञान है। ज्ञानका काम तो जाननेका है। इसलिए जो कोई भी जान रहा है वह सब अपने बलसे जान रहा है, परिणतिसे जान रहा है। बात कोई इसमे अवश्य है, तो बत-लावो—लोग जो यह कथन करने लगे है कि ईश्वरकी मर्जी बिना पत्ता नही हिलता है, इस कथनका आधार क्या है ? और कौनसी दृष्टि पायी गई थी, जिसके बलपर यह कथन प्रसिद्ध बन गया है ?

'ईश्वरकी मर्जी बिना कुछ नहीं होता है' इस अभिप्रायकी प्रसिद्धिके मूलमें सर्वज्ञत्व दृष्टिका आधार और अपूर्णज्ञानकी प्रक्रियासे मेल—इसके समाधानमे कहते है कि इस अभिप्रायका मूल तो सर्वज्ञत्वदृष्टि है। फिर उसमे धीरे-धीरे क्या क्या सम्पर्क किए गए कि मन्तव्यका यह रूप बन गया, यह परखनेकी बात है। सर्वज्ञत्वके मायने यह हैं कि कोई आत्मा तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानता है। सर्वज्ञ भगवान परमात्मा त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती द्रव्य गुण पर्याय सबको जानता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि जो जो सर्वज्ञके ज्ञानमे जाना गया है वह वह सब होता है। चर्चाकार यहाँ इस तरह अपनी बात रख रहा कि जो जो ईश्वरकी मर्जी होती है सो होता है, इस बातको जरा कुछ आगे चलकर बतावेंगे, लेकिन यहाँ इतनी बात तो माननी होगी कि जो जो सर्वज्ञ देवके ज्ञानमे ज्ञात है वह वह होता है, वही होता है, उसके विपरीत कुछ नही हो सकता। यद्यपि यहाँ भी कुछ समयकी बात विचारेंगे, नो बजाय इसके यह कहना ज्यादह उपयुक्त होगा कि जो जो कुछ पदार्थमे होता है, जो हो रहा है, जो पदार्थका परिणमन होगा वह सब सर्वज्ञदेव जान रहे है, लेकिन बात तो दोनोमे एक समानसी आयगी ना। इसमे अन्तर तो जरूर है। वह क्या अन्तर है ? सर्वज्ञदेवने सर्व पदार्थोंको जाना, ये सर्व पदार्थ विषयभूत हुए। तो सर्वज्ञदेवका ज्ञान होनेके लिए ये सब पदार्थ आश्रयभूत कारण हुए, लेकिन इन सब पदार्थोंमे जो परिणमन हो रहा है उस परिणमनके होनेके लिए सर्वज्ञदेवका ज्ञान किसी प्रकारका भी कारण नही बनता। इतना यहा अन्तर है। लेकिन इतने अन्तरको गौण करके देखा जाय तो दोनोके कथनका अर्थ एक है, जो सर्वज्ञदेवके द्वारा ज्ञात है वही होगा। जो होगा वही सर्वज्ञदेव द्वारा ज्ञात है। तो अब आगे चलो—इतनी बात तो इस ढंगमे माननी पडी कि जो जो सर्वज्ञने जाना है वह होगा, उसके विपरीत कुछ न होगा, लेकिन समझा तो यह है ईश्वरके उस ज्ञानके लिए, लेकिन मनुष्योकी आदत तो अपनी मापसे दूसरोंको नापनेकी पडी हुई है तो यहा अपने ज्ञानको देखो—मर्जीयुक्त, इच्छारहित ज्ञानका यहा किसने परिचय किया है ? वह विशुद्ध ज्ञान जिसमे इच्छाओका समावेश नही है ऐसे ज्ञानके परिचय करनेवाले क्या यहा ये लोग है ? प्राय करके ये सभी लौकिक जन इच्छा सहित है। तो वे अपने इस ज्ञानको इस तरहका ही रूप देते है कि मर्जी वाला ज्ञान। कैसा ज्ञान ? ऐसी मर्जीका, इच्छा वाला, इस तरहके रागसे मिला हुआ, इस तरहसे ही तो लौकिक जन ज्ञानको देखते है। तो भगवानके ज्ञानको भी इसी ढगसे उन्होने देखा कि हाँ वहाँ भी कुछ बात है भीतर, वे बडे है तो उनकी इच्छा तो जरासी होती और काम बडा हो जाता, यह तो अन्तर आ जायेगा बडा होनेकी वजहसे, मगर यह कैसे हो सकेगा कि विना मर्जीके वह जान रहा है। बिना मर्जीके यह सब हो रहा है तो इस तरहका

सम्बन्ध जोडकर फिर यह रूप बना कि ईश्वरकी मर्जीमे सब काम हो रहा है, इस ही ज्ञान तत्त्वको लौकिक जनोने मर्जीका रूप दे दिया है।

लौकिक जनोंकी दृष्टिमें प्रभुकी वीतरागताके तथ्यका अपरिचय—यद्यपि ईश्वरकी इच्छा रच मात्र भी नही है, और वह ज्ञान इच्छारहित है, विशुद्ध ज्ञान है, क्योकि वह तो वीतराग है और निर्दोष है, जगतका साक्षी है, लेकिन इस विशेषताको कौन लौकिक पुरुष परखेगा ? लोगोने तो अपने ज्ञानके साथ मर्जी रहता हुआ पाया, इसलिए मर्जीसे ही उस तत्त्वकी प्रसिद्धि की। इस तत्त्वको कहना चाहिए था ऐसा कि "जो जो देखा वीतरागने सो सो होती वीरा रे।" कहना तो इस ढगसे चाहिए था, लेकिन ज्ञानको मर्जीमिश्रित सवने पाया। अपनेमे और दूसरेमे भी अनुमानवलपर तो उनका यह विचार हो गया कि ईश्वरकी मर्जीके विना यहा कुछ नही होता। इस तरह यह चर्चा शंकाकारने चलाई कि ईश्वरकी मर्जी विना पत्ता भी नही हिलता। इस अभिप्रायका आधार मूलमे सर्वज्ञत्व दृष्टि सिद्ध होती है। और उस सर्वज्ञत्व दृष्टिसे यह कहा जाना था कि प्रभुके ज्ञानमे यह सव आया है। जो प्रभुके ज्ञानमे आया है सो ही होगा और इस वातको वडे वडे ऋषिजन भी कहते हैं कि जिस जीवकी जो वात जिस देशमे, जिस कालमे, जिस विधानसे हुई है वह सव सर्वज्ञदेवको ज्ञात है। जो सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात है सो ही होता है, ऐसे कथनसे कही यह एकान्त नही किया जाना है कि जो ज्ञात है सो होगा। उसमे कारणकार्य विधान कुछ नही वनेगा। अथवा इस कथनमे विधान शब्द जो दिया है उसमे यह सव वात पडी हुई है कि उत्पन्न तो जिस विधिसे हुआ सो हुआ। अव प्रभुने जान लिया तो यह कोई अपराध नही किया। यह तो ज्ञानकी एक विशेषता है। तो इसी वातको अपने ज्ञानके मापसे मापकर लौकिक जनोने यह रूप दिया है कि ईश्वरकी मर्जी विना कुछ नही होता। इसका आधार मूलमे सर्वज्ञत्वदृष्टि रही, उसमे अपनी पद्धतिको और मोहियोने जोड दिया है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ माने जानेकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा—अव विशेषवादकी चर्चा समक्ष आ रही है। जिज्ञासु यहा यह जानना चाहता है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये तो भावात्मक पदार्थ व अभावनामक अभावात्मक ये नाना प्रकारके जो पदार्थ बनाये जाते हैं तो इतने पदार्थोके समझने की मूलदृष्टि क्या थी ? इस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए प्रथम विशेषवादका ही वर्णन कुछ सुन लेना चाहिए और तभी यह सिद्ध होगा कि विशेषदृष्टिवादीके इस कारण से यह विशेषवाद वना और साथ ही तुलना भी करते जाइये कि जैन सिद्धान्तमे, स्याद्वादमे वह वर्णन किस प्रकार है और विशेषवादमे अर्थात् जहाँ विशेषका एकान्त हो जाता है वहा

वर्णन किस प्रकार है ? स्याद्वाद सिद्धान्तमे पदार्थ ६ प्रकारके बताये गए है— (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश, (६) काल। तब विशेषवादमे पदार्थ भावात्मक तो ६ प्रकारके है और एक है अभावात्मक पदार्थ। भावात्मक पदार्थ है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेप और समवाय। इस बीच थोडा यह समझ लेना चाहिए कि पदार्थ के मूल भेद इस आधारपर बताना चाहिए कि जितने पदार्थ कहे गए हो उनमे कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप न हो सके तब वह पदार्थोंकी नाम संख्या सही बनेगी। आधार सबका एक रखा है और पदार्थ कितने है ऐसा कहनेका मतलब भी क्या होता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप न बने, इस-इस ढगके पदार्थ कितने हुआ करते है ? सामान्यतया दृष्टि यह रहा करती है। कोई इस कारणको निभा सके अथवा न निभा सके यह जुदी बात है। विशेषवादमे ६ पदार्थ बताये गए है——द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। जब कि स्याद्वादमे कहे गए है——जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अब इनकी तुलना कीजिए——स्याद्वादके माने गए छहोके छहो पदार्थ विशेषवादके एक पदार्थमे ही आ गए, अर्थात् विशेषवादमे माने गए द्रव्यमे ही आ गए। तो स्याद्वादमे द्रव्यके अतिरिक्त कुछ न रहा, जब कि विशेषवाद यह कह रहा है कि द्रव्यके अतिरिक्त अभी गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामके पदार्थ भिन्न है, इससे ही आप जान गए होगे कि यह विशेष एकान्तका परिणाम है। कुछ भी स्वरूप समझमे आय, जहा कुछ भी भेद आया कि उन्हे भिन्न पदार्थ मान लेना चाहिए। ऐसी दृष्टि रही विशेषवादमे। और स्याद्वादमे दृष्टि यह रही कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप न परिणमे उतने पदार्थ मानना चाहिए और उस पदार्थमे तन्मयतासे रहनेवाली जो बाते हो वे बाते पदार्थसे अलग न मानना चाहिए, क्योकि भावात्मक पदार्थ वे कहलाते है जो सत् हो। सत् वह कहलाता है जो उत्पादव्ययध्रौव्यरूप हो। बस सत्त्वके इस लक्षणके विपरीत होनेवाले विवादने ही भेद डाल दिया। विशेषवादमे माना हुआ सत्त्व एक अलग गुण है और यह पदार्थ अलग चीज है।

सत्का लक्षण विदित होनेपर अनेक समस्याओंकी सहज सुलझनका संकेत——द्रव्य माने गए ९ विशेपवादमे—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन। तो इनमे जो नित्य हो वह नित्य ही है, जो अनित्य है वह अनित्य ही है। द्रव्योमे कोई द्रव्य नित्य ही हुआ करता है, कोई द्रव्य अनित्य ही हुआ करता है, इस तरह नित्य-पना, अनित्यपना——ये दोनो किसीमे भी एक साथ नही माने गए है। तो सत्ताके लक्षणमे विवाद आयगा। यदि दार्शनिक लोग सर्वप्रथम सत्ताके लक्षणोको ही निर्विवाद मान ले, जैसे सही हो तो एक इस ही निर्णयके आधारपर सब निर्णय सही बनते चले जायेगे। तो ये ६ प्रकारके भावात्मक पदार्थ विशेषवादमे जो कहे गए है, वे विशेषदृष्टिके परिणाम है।

जैसे एक यह अगुली है और उस अगुलीमे कोई न कोई रूप तो है ही—कालारूप हो, गोरा हो और इस अगुलीका कुछ आकार तो है ही। चाहे कितनी ही ऊँची है, इत्याकार आकार भी है। अब इतना तो ध्यानमे लाये कोई कि जो अगुली है वह आकार नही है। आकार अलग है और जो अगुलीमे रूप है वह रूप है, अगुली नही है। स्वरूप तो निराला है ना, कि रूपका ही नाम अगुली है क्या ? या आकारका नाम ही अगुली है क्या ? लो इतना कुछ भेद समझमे आया और वहाँ कोई एकान्त कर ले कि ये तो कई पदार्थ है, एक आकार भी पदार्थ है, रूप भी पदार्थ है, अगुली भी पदार्थ है, और सीधी है तो सीध भी एक पदार्थ है। यो कुछ भी बात जरा भी भेद आया, उसका विलक्षण स्वरूप समझमे आया वह उनका अलग पदार्थ हो गया, यह विशेषदृष्टिका परिणाम है।

भेद व अभेदके समन्वयका प्रतीक—भेद और अभेदके समन्वयकी दृष्टि होना चाहिये निर्णयमे। जैसे समझिये—किसी जमानेमें गणेशकी एक मूर्ति मानी जाती थी कि कोई आदमी है और उसकी गर्दनसे हाथीका शिर जुडा हुआ है, उसकी सवारी चूहा है। बताइये किसो आदमीका शिर हाथी जैसा हो और फिर उसकी सवारी चूहा हो, ऐसा भी कही हो सकता है क्या ? असलमे वह एक सिद्धान्तका अलकार था, लेकिन वे लोग उसका अर्थ न समझकर उस रूप ही सर्वस्व मान बैठे। अरे इस प्रकारकी मान्यता तो व्यवहार-विरुद्ध भी है, कुछ अटपटी भी है, किन्तु वह था एक अलकार। वह अलकार था भेदाभेद का। देखो, अभेद करो तो इस तरह करो जैसा कि गणेश जी बने हैं। उनके गर्दनसे जो हाथीका सूढ सहित सिर फिट है वह इस बातका प्रतीक है कि वह अभेदरूप है। वह कोई उससे अलग नही है, वह तो पूरा एक है। वहाँ यह नही देखा जा सकता कि यह इसका मुख अलग है, यह इसकी सूंढ अलग है और यह इसका बाकी धड अलग है। अब बतलाओ कहाँ तो आदमीका धड और कहा हाथीका सिर ? ये अलग अलग मिलाये जायें तो क्या कही फिट बैठेंगे ? अरे वह गणेशका प्रतीक देखिये—पैरोसे लेकर सूंढके छेद तक अथवा कानो तक वह सब एक ही देवता बन गया। तो अभेद करो तो इस तरह अभेद करो। यह तो अभेदका प्रतीक था और भेदका प्रतीक था वह चूहा। भेद करो तो ऐसा करो जैसा कि चूहा। कभी चूहा घुस तो जाय किसी कागजकी दूकानमे, फिर देखो वह कैसी अपनी कला दिखाता है ? वह कागजोके इतने बारीक टुकडे कर देता है कि उन्हे कैंची द्वारा भी नही किया जा सकता। तो देखिये—यह चूहेका प्रतीक इस बातकी शिक्षा देता है कि भेद करो तो इस तरहसे करो कि जहा फिर एक टुकडेका दूसरा टुकडा किया ही न जा सके। अब देखिये—वह सवारी है भेद और सवार होनेवाला है अभेद, अर्थात् भेदके आधारसे ही फिर अभेद चमकता है, नही तो अभेद कहाँ बिराजेगा ? यहाँ एक पद्धति भी बताई गई है

कि व्यवहारकी पद्धतिसे पहिले टुकडेके अश अश अविभाग प्रतिच्छेद प्रदेशभेद खूब करो—आत्माके असंख्यात प्रदेश है। ··· अरे उन असख्यात प्रदेशोमे से दो प्रदेश हमे भी दे दो, तो क्या कोई दे सकेगा ? न दे सकेगा। लेकिन अखण्ड वस्तुमे भी चूहेकी तरह भेद करें—प्रदेश अलग, गुरा अलग, पर्याय अलग, यो भेद करते जावे, पर वहां कुछ अलग धरा है क्या ? ऐसा भेद धरा हुआ नही है, लेकिन हमे तो भेददृष्टि करना है। क्यो करना है ? तो स्याद्वाद तो कहता है समझानेके लिए और विशेषवाद कहता है उस प्रकार तत्त्व करार करनेके लिए, यह अन्तर पड गया। भेद दृष्टि बिना भी काम चलेगा नही और अभेददृष्टि बिना तत्त्व सिद्ध होगा नही, जिसको बताया गया है कि यदि जिनमतको समझना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियोको तजो मत। व्यवहारको छोडोगे तो तीर्थ नष्ट हो जायगा, निश्चयको छोडोगे तो तत्त्व नष्ट हो जायगा, लेकिन विशेषवादने भेदका एकान्त स्वीकार किया, दूसरा अभेद मजूर नही, लेकिन अभेद कुछ भी माने बिना काम तो नही चलता। जब काम नही चलता तो उसकी व्यवस्था बनानेके लिए समवाय रचा गया है। तो पदार्थ है, पदार्थमे शाश्वत रहनेवाली शक्तिया है, वे शक्तिया गुरा है और उन पदार्थोमे क्रियाये होती है, वे क्रियायें है, पदार्थोमे सामान्यपना समझमे आता वह सामान्य नामका पदार्थ है। विशेष भी दृष्टिमे आता वह विशेष पदार्थ है, और इन सबका वहा निवास है। कैसे हो गया ? अजी उसके लिए समवाय नामका सम्बन्ध बना दिया। लो कितनी व्यवस्थायें बनानी पडी और फिर इतने पर भी संतोष न हुआ तो एक अभावात्मक पदार्थ भी माना। घट नही है तो यह "नही" भी एक चीज है, और वह चीज है अभावरूप। तो इस तरह विशेष पदार्थोंकी जो रचना है इस रचनाकी आधारभूत दृष्टि है विशेषदृष्टि।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका परस्पर शाश्वत अत्यन्ताभाव न होनेसे पदार्थ संख्याकी असंगतता—अब देखिये कैसे यह विशेषपना बनाया गया ? तो इसके जब भेद प्रभेद समझे जाते हैं तब यह भली भांति समझमे आता है। ज्ञानमे आता है कि पदार्थ ९ प्रकारके है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। अब जरा यह परखिये कि पदार्थ उतने बताना चाहिए जाति अपेक्षासे कि एक दूसरे रूप न हो सकते हो। तो अब यह व्यवस्था यहाँ घटित नही होती। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये एक दूसरे रूप हो जाते हैं। कभी पृथ्वी पानी बन जाती है, कभी पानी पृथ्वी बन जाती है। आग पानी बन जाय, पृथ्वी हवा बन जाय, सभी एक दूसरे रूप हो सकते है। यद्यपि बहुत जल्दीमे यह बात विदित नही होती है। लेकिन विचार करे तो समझमे आ जायगा। जैसे चन्द्रकान्त-मणिको पृथ्वी माना गया है किन्तु उससे पानी निकलता है। अच्छा यह बतलावो—जो

अन्न (गेहू, दाल, चावल, चना आदि) ये सब इन चारोमे से (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमे से) क्या है ? विशेषवादमे वनस्पति नही माना गया। वह तो पृथ्वी है, तभी तो लोग इस शरीरको भी मिट्टी कहते है। यह शरीर मिट्टी बन जायगा, ऐसा भी लोग बोलते हैं—पर ये विशेषवादी कहते है कि यह शरीर इस समय भी (जीवित अवस्थामे भी) मिट्टी ही है। यह तो इस समय भी मिट्टी है। यहा तो ये जो त्रसकाय दिख रहे हैं, जिनमे, स्पर्श, रस, गध आदि गुण दिख रहे है ये सब पृथ्वी है। तो जो अन्न खाते है—गेहू, चना, ज्वार, जौ आदिक ये सब मिट्टी है। देख भी लो जौ की रोटी खाकर गेहूसे भी अधिक हवा बनती, ज्वार अथवा चना आदि की रोटी खाने पर उससे भी हवा बनती। अब देखिये– चना है तो वह भी पृथ्वी है, जौ है तो वह भी पृथ्वी है, तो पृथ्वीसे हवा बन गई। तो ये चारो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) ये एक दूसरे रूप हो सकते है। अत ये चारो अलग-अलग कहनेकी कोई जरूरत नही है। एक "पुद्गल" कह दिया, बस काम निकल आता है। जो पूरे और गले सो पुद्गल। ये दिखनेवाले समस्त काय, ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि ये सब पुद्गलमे आ गए।

विशेषवादसम्मत आकाश नामक द्रव्यपदार्थकी मीमांसा—अब और भी आगे बढो, ५ वा पदार्थ है विशेषवादका आकाश। स्याद्वाद भी मानता है कि हा आकाश पदार्थ है, यह किसी दूसरे रूप नही हो सकता, और कोई दूसरे पदार्थ इस आकाशरूप नही हो सकते, लेकिन उन वैशेषिकवादियोने आकाशके स्वरूपमे विवाद डाल दिया। विशेषवादका आकाश शब्द गुणवाला होता अथवा आकाश शब्दात्मक है। आकाशसे शब्द बन गए, इस प्रकारका कुछ आकाश है उनके मतव्यमे। पता नही उन विशेषवादियोने कोई रेडियो सुना होगा कि उनके शब्द तरगमे आते है। शब्द दिल्लीमे चल रहे हैं और यहा सुन रहे है। ऐसी दृष्टि करके समझ लिया होगा कि शब्द तो आकाश का गुण है। आया वहासे बतलाओ शब्द आकाशमे ? यो लगा शब्दात्मक आकाश है, वहासे शब्द निकल रहे है। ये जितने आजके आविष्कार हैं इन्हे यह नही कहा जा सकता कि नवीन है। ऐसे कितने ही आविष्कार पहिले थे और कितने ही आविष्कार इन्द्रादिक देव रचा करते थे। जब भगवानकी दिव्यध्वनि खिरी तो उनकी वह आवाज बहुत दूर तक फैल गयी, और वह दिव्यध्वनि सर्व भाषाओमे प्रवृत्त हो गयी, इतना उसमे अतिशय था। यह बात तो आजकलके रेडियोसे भी अधिक बढकर हो गयी। आजकल भी लोगो का ऐसा प्रयत्न चल रहा है कि किसी समय एक भाषामे कुछ बोला जाय तो उसको एक ही समयमे अनेक भाषाओमे सुन लिया जाय। तो ये शब्द भी आकाशके गुण हैं, ऐसा माननेवाले इन विशेषवादियोने कोई ऐसे ही आविष्कारसे शायद यह पाठ सीखा होगा।

उनके मंतव्यमे गोल भी एक पदार्थ है। हाथको यो गोल-गोल घुमा दिया तो लो वह गोल भी एक पदार्थ बन गया उनके मंतव्यमे। गोल कोई द्रव्य है, पदार्थ है, प्रदेशात्मक है, इस ढंगसे नही स्वीकार किया गया जैसा कि लोग कहते आये, बस कहने कहनेसे ही मान लिया कि गोल भी पदार्थ है। अरे कहे कहेको माननेका तो अर्थ ही कुछ नही होता। जैसे सहारनपुरकी एक बात उस समयकी बताते है जब कि हिन्दु मुस्लिम झगडा चल रहा था। किसी के पास कोई खोटी चवन्नी थी, वह नही चल रही थी। एक दिन किसी मिठाईकी दूकान मे वह चल गई। (दुकानदारने ध्यान न दिया होगा) तो वह व्यक्ति बहुत खुश हुआ और खुशीमे यह कहता हुआ उछलता फादता चला जा रहा था कि चल गई, चल गई, चल गई। लोगोने समझा कि गोली या लाठी चल गई। सो झट अपनी-अपनी दुकानें बन्द कर दिया और घरोमे घुस गए। अब बताओ--बात तो कुछ न थी, केवल कहे कहे की बात थी, पर क्या उसका रूपक बना ? तो केवल कहे कहे की बात माननेका कुछ अर्थ नही होता। ऐसे ही विशेषवादियोने कही हुई किसी बातको सुन लिया और उससे अपना नियम बना डाला- क्या कि गोल भी एक पदार्थ है जो कि आकाशके एक एक प्रदेश पर फैला हुआ है तो उनकी यह बात कैसे मान ली जाय ?

विशेषवाद सम्मत काल, दिशा, आत्मा व मन नामके द्रव्यपदार्थोंकी मीमांसा— कालको भी विशेषवादियोने एक पदार्थ माना है। सो ठीक काल नामक पदार्थ स्याद्वादियोने भी माना, किन्तु स्वरूप अन्यथा है जो भी समय है घडी, पल, मिनट अथवा घंटा, दिन, महीना, वर्ष आदि इसको एक पदार्थ उन्होने माना है। स्याद्वादमे कालनामक एक प्रदेशी असंख्यात द्रव्य माने है और उनकी प्रतिक्षण समयनामक पर्याय होती रहती है। अब देखिये- उनके दिशा नामक पदार्थकी बात। बताइये दिशा भी कोई पदार्थ है क्या ? अरे वह तो एक कल्पना की चीज है। सूर्य जिस ओर उदय होता उस आकाश प्रदेशका नाम पूरब रख दिया, जिस ओर अस्त होता उस आकाश प्रदेशका नाम पश्चिम रख दिया। सो ठीक ही है, पीठको भी पश्चिम बोलते है। पूर्वकी ओर मुँह करके खडे होनेपर दाहिना हाथ जिस ओर हुआ उस आकाशप्रदेशका नाम दक्षिण तथा बायाँ हाथ जिस ओर हुआ उस आकाशप्रदेशका नाम उत्तर बोलते है। अब बतलाइये इसमे अलगसे दिशा पदार्थ माननेकी उन्हे क्या जरूरत थी ? अरे दिशा तो आकाश प्रदेश श्रेणियो मे कल्पना की एक चीज है। इसके बाद उनके आत्मा पदार्थकी बात देखिये—आत्माको ज्ञान उन्होने कहा तो सही है, जीव (आत्मा) नामक पदार्थ है, सो आत्मा उन्होने भी कहा है, किन्तु उसके स्वरूपमे विवाद है। आत्मा सर्वव्यापक है और किस किस प्रकार है ? यह चर्चा यहाँ अभी नही रखना है, क्योकि विस्तृत चर्चा हो जायगी। उसका जिक्र आगे आयेगा।

यहाँ तो इतनी बात समझ लीजिए कि उन्होने आत्माको माना। जीव नामक पदार्थ भी है। तो उनके द्रव्योमे अब तक चार द्रव्य आ सके पुद्गल, आकाश, काल और जीव। अब उन्होने मन नामक जो ९ वाँ पदार्थ माना है वह तो पुद्गलमे ही शामिल है, वह कोई अलग पदार्थ नही, लेकिन दो पदार्थ, (धर्म और अधर्म धर्म) इनका तो नाम तक भी नही आया। तो जो है उनका नाम तक भी नही है और जो एकमे गर्भित हैं उनकी अलग सज्ञा दी और जो है नही उन तकका नाम है, तो कोई व्यवस्था भी बनी क्या ? नही बनी व्यवस्था। व्यवस्था बनानेका इनका मतलब न था, किन्तु समझमे, स्वरूपमे कुछ न्यारेपन जैसी बात आयी तो उसे अलगसे पदार्थ मान लिया, बस यही धुन रही उन विशेषवादियो की। तो इस तरह द्रव्य माने गए हैं।

विशेषवाद सम्मत गुणपदार्थकी मीमांसा—अब उन द्रव्योमे दिखे गुण—रूप, रस, स्पर्श तो कहा—जब दिख रहे है और इनका लक्षण न्यारा-न्यारा है तो ये भी पदार्थ है। तो चलो ये गुण भी पदार्थ बन गए। और ऐसे गुण माने गए २४। अब आप यहाँ समझिये—जब हम गुणोके नाम बोलेंगे तब ही यह ध्यानमे आता जायगा कि यह नाम बेकार लिया गया है या कुछ गुणपना भी है। यह कोई पदार्थ है क्या ? यह कोई सद्भूत है क्या ? प्रयोजन है क्या ? क्या है वे २४ नाम सो सुनो—रूप, रस, गध, स्पर्श, सख्या (१, २, ३, ४, ५ आदि) और परिमाण—(२ सेर, ३ सेर, ४ सेर, ५ सेर अथवा २ हाथ, ३ हाथ, ४ हाथ, ५ हाथ आदि) ये भी गुण हैं। पृथक्त्व अलग रहा, जुदा रह रहा, पर वह भी एक गुण है, जरा इस पर ही थोडा विचार कर लो। यह पृथक्त्व गुण जीव पुद्गलसे अपृथक् है। तो इसमे पृथक्त्व गुण है अपृथक् हो गया, फिर अन्यको क्या पृथक् बताये ? जरा बताओ तो सही कि जो एक पृथक्त्व गुण है वह जीव और पुद्गलसे मिला हुआ है कि नही ? अगर मिला है तो विशेषवादकी हठ कहाँ रही ? एक गुण तो उसमे मिल गया और कहा कि जब पृथक्त्व न्यारा है तो जीव पुद्गल पृथक् हो ही नही सकते, क्योकि पृथक्त्व गुण जुदा पडा हुआ है। उसकी तो किरण भी उसमे नही प्रवेश कर रही। ऐसे गुणोकी बात देखते जाइये। सयोग—दो अगुलियोका सयोग हो गया तो वे वैशेषिक जन कहते है कि संयोग नामका भी एक गुण है। अच्छा बताओ ये दो अगुली पास पास मिली हैं तो वह गुण कहाँ धरा है ? छोटी अगुलीमे है कि बडी अगुलीमे ? कही नही। किन्तु माना है कि वह तो सब जगह पडा हुआ है सयोग। एक गुण माना है वियोग। वियोगमे मिली हुई चीज न्यारी हो जाती तो यह वियोगगुणकी बात हुई। इसी तरह परत्व अपरत्व, छोटा बडा, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, प्रयत्न और इनके अतिरिक्त वजनदार होना, बहनेवाले होना, स्नेह होना, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द—ये २४ गुण हैं। इन गुणोका क्या लक्षण है,

किस तरह हुए, इनका क्या प्रवाह है ? लेकिन समझमे आना चाहिए कि कुछ ये चीज हैं, बस उन विशेषवादियोका वह पदार्थ बन गया। पदार्थमे द्रव्यमे गुण दिखे तो बस गुणको अलगसे पदार्थ बना लिया। आत्मामे ज्ञान दिखा तो ज्ञान एक अलग चीज है, आत्मा एक अलग चीज है, ऐसी दूसरे लोगोने हठ कर लिया, लेकिन आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है। आत्मासे गुण कहाँ जुदे पडे हुए हैं ? तो समझमे आना चाहिए कुछ अलग सी बात, अर्थात् यह ज्ञान है सो पूरा आत्मा नही, स्याद्वादी भी कहते। आत्मा है सो ज्ञानमात्र ही नही। उसमे दर्शन आदिक हैं, लो कह दिया ना स्याद्वादियोने। तो यहाँ हम कहते थे कि ज्ञान जुदी चीज है, आत्मा जुदा है। इस तरहका विशेष एकान्त लेकर यह विशेषवादकी निष्पत्ति हुई।

विशेषवादसम्मत कर्म पदार्थकी मीमांसा—अब और देखिये—कर्म क्रिया, अगर यह हाथ गोलमटोल चल गया तो यह जो गोलमटोल क्रिया है, यह भी एक पदार्थ है। कुछ विशेष समझमे आया। तो फिर तो उनका तत्त्व बन जायगा। लेकिन सोचो तो सही कि हाथको गोलमटोल चला दिया तो क्या वह गोलमटोल क्रिया अलग चीज है और हाथ क्या अलग चीज है ? क्या हाथ अलग रखा है और वह गोल क्रिया अलग रखी है ? अलग तो नही है, लेकिन विशेषवादने कर्म ५ प्रकारके बता दिए–उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्जन, प्रसारण और गमन। ये क्या कर्म कहलाते है, कैसे सम्वेद्य है, इनका क्या स्वरूप है ? इसकी चर्चा भी कुछ कर लीजिये।

विशेषवादसम्मत कर्म पदार्थका वर्णन तथा कर्मके पृथक् सत्त्वके अभावका प्रकाशन—विशेषवादमे कर्म ५ प्रकारके माने गए है। नीचेसे चीज ऊपर फिकना, ऊपरसे चीज नीचे फिकना, इसे कहते है उत्क्षेपण और अवक्षेपण। उनकी इस क्रियाका अर्थ यह है कि वस्तुका ऊपरके भागके प्रदेशमे सयोग करा देना और नीचेके प्रदेशसे वियोग करा देना यह एक कर्म है और यह पदार्थ है, इसी प्रकार ऊपरके प्रदेशसे वियोग करा देना और नीचेके प्रदेशसे संयोग करा देना यह भी कर्म है। और पदार्थ है, ये कहलाये उत्क्षेपण व अवक्षेपण। और किसी चीजको टेढी कर देना, गोल कर देना। जैसे सीधी अगुलीको गोल कर दिया यह कहलाता है आकुञ्चन याने अपने ही ऊपरके प्रदेशोको नीचे के प्रदेशोसे मिला देना। और टेढीको सीधी कर दिया इसका नाम है प्रसारण। फैलना इसीको तो कहते है ? कोई चीज आकुञ्चित हो और उसका विस्तार कर दिया जाय। यत्र तत्र कहीसे चले वह कहलाता है गमन। इस तरह ये ५ कर्म पदार्थ माने गए हैं। अब इसके सम्बन्धमे विचार करियेगा कि कोई एक क्या नामक पदार्थ क्रिया सद्भूत है ? भैया ! यदि सत्ताका स्वरूप, लक्षण यदि निर्णीत कर लेते तो यह विवाद न उठता। विशेषवादी ३ पदार्थोके साथ

सत्ताका सम्बन्ध मानते है– द्रव्य, गुण और कर्म । सत्ताका समवाय होता है तब यह सत् कहलाता है । उन्हीसे पूछा जाय कि जब तक सत्ताका समवाय नही होता तब तक वह क्या है ? असत् है और असत्मे सत्ताका सम्बन्ध बन बैठे तो गधेके सीगमे, आकाशके फूलमे क्यो नही सत्ताका सम्बन्ध बनता ? यदि कहो कि सत्ताका सम्बन्ध उन ही मे बनता है जो कि सत् है, असत्मे नही बनता तो सत् तो वह स्वय ही था, सत्ताके सम्बन्धकी जरूरत क्या पडी ? तो द्रव्य तो दृष्टिमे भी आता है पर गुण कोई अलग वस्तु हो और क्रिया कोई अलग चीज हो, यह सब दृष्टिमे आता ही नही । गुण और कर्म ये द्रव्यरूप ही पडते हैं ।

विशेषवादमें निर्दिष्ट सामान्य व विशेष नामक पदार्थका निर्देश––अब चौथा पदार्थ विशेषवादका आता है सामान्य । इस सिद्धान्तका यह कहना है कि मनुष्य सब बैठे हैं और १०० मनुष्योमे जो मनुष्यसामान्य है वह भी तो एक चीज है ना, वह भी एक पदार्थ है । सो देखिये पदार्थका यदि यह ही अर्थ किया जाय कि "पदका अर्थ", जो शब्द बोला उसका अर्थ । तब तो ठीक है मगर इस अर्थमे पदार्थका प्रयोग नही है । यहाँ पदार्थका प्रयोग किया गया है चीजमे, वस्तुमे । तो जैसे सब पुरुषोमे रहनेवाला जो मनुष्यत्व सामान्य है वह भी तो कोई बात है, इसही को मान लिया पदार्थ । ऐसा ये विशेषवादी एक सामान्य पदार्थ मानते है और वह सामान्य सर्वव्यापक है । जैसे मनुष्योमे रहनेवाला मनुष्यत्व सब जगह व्यापक है । अनेक मनुष्य सारे विश्वमे व्यापक है । हम आपके बीचमे जो इतनी जगह छूटी है यहाँ भी मनुष्यत्व पडा है तभी तो वह मनुष्यत्व सर्वव्यापक है । जहाँ यह देह आ गया वहाँ मनुष्यत्व व्यक्त हो गया और जहाँ देह नही है वहा भी मनुष्यत्व पडा है व्यक्त नही हो रहा । तो ऐसे मनुष्यत्वकी तरहके अनेक सामान्य पडे हुए हैं और उन सब अनेक सामान्योका एक सामान्य वह उनका प्रधान राजा है, वह भी सब जगह पडा हुआ है । विशेषवादमे कोई बात समझमे आनी तो चाहिए कि हा एक यह भी तत्त्व है बस वह एक भिन्न पदार्थ बन जाता है । एक विशेष नामका पदार्थ भी कहा गया है । जैसे एक एक मनुष्य यह विशेष है और उन मनुष्योमे भी एक-एक विशेषण वह विशेष है और उन में भी अलग-अलग विशेषताये इस तरहसे कितने ही विशेष हैं, वे विशेष भी पदार्थ हैं । जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य ये अलग अलग चीज है, यो विशेष व सामान्य भी अलग पदार्थ है और द्रव्यमे गुण, कर्म, सामान्यका समवाय होता है, इसी प्रकार विशेषका भी समवाय होता है । तब द्रव्यादिकमे विशेषताका व्यवहार होता है ।

विशेषवादसम्मत समवायनामक पदार्थ––एक पदार्थ माना गया है समवाय । समवाय यो मानना पडा कि जब इन सबको बिखेर दिया, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष ये

पृथक् पृथक् हैं तो ये एक जगह कैसे आये ? इसका उत्तर कैसे बने कि आत्मामे ज्ञान है ? जब ज्ञान न्यारी है, आत्मा न्यारी चीज है तो आत्मामे ज्ञान है यह सम्बन्ध कैसे बताया जाय ? उसके लिए समवाय सम्बन्धकी बात कही गई है। समवाय सम्बन्धका अर्थ यह है कि जो आधारभूत है, पृथक् सिद्ध नही है उनमे जो नित्य सम्बन्ध है उसे कहते है समवाय। तो यह बात तो तादात्म्य कहलाती है। जैसे आत्मामे ज्ञान है, यह कभी अलग न था, अलग भी न होगा और फिर भी कहे जा रहे हैं कि यह तो अलग है। अनादिसे आत्मा और ज्ञानका समवाय है यह माना, पर इस सिद्धान्तपर भी वे न टिक सके। आत्माका मोक्ष माना गया है तब जब कि आत्मामे से ज्ञान निकल जाय, खतम हो जाय। ज्ञानशून्य आत्मा को मुक्त बताया गया है। जब ज्ञान और आत्माका समवाय सम्बन्ध कहा और समवाय सम्बन्ध कहते है नित्य सम्बन्धको, फिर यह मुक्तिमे ज्ञानका समवाय कैसे न रहा ? तो यह परस्पर बोल दिया जाता है और एकान्तत व्यवस्था नही बनती है, लेकिन जब विशेष-वादका आग्रह होता है, पदार्थमे विशेष-विशेषकी निरख चलती है तब इस तरहके पृथक्करण कर दिए जाते है।

विशेषवादसम्मत अभावनामक पदार्थ—उक्त ६ तो सब बतलाये गए है भावात्मक पदार्थ। इनके अतिरिक्त एक माना है अभाव नामक पदार्थ। 'नही है' यह भी एक पदार्थ है। कमरेमे घडा नही है तो नही है, जैसे है यह कोई बात है, इसी प्रकार नही है यह भी तो कोई बात है। तो सद्भावको पदार्थ माना जाय और अभावको पदार्थ न माना जाय यह पक्ष क्यो करते हो ? उनका मतव्य है कि जैसे सद्भाव पदार्थ है उसी प्रकार अभाव भी पदार्थ है, लेकिन तथ्य यह है कि न सद्भूत पदार्थ है, न अभाव पदार्थ है। पदार्थ है, उस पदार्थको उसके ही गुणोकी दृष्टिसे देखते है तो हम सद्भाव कहते हैं। अन्यके गुणोसे नही देखते हैं तो हम अभाव कहते है। कमरेमे घडा नही है, यह सद्भावरूप अर्थ है, अर्थात् केवल खाली कमरा है, घडेसे रहित कमरा है। कमरेमे घडा नही है ऐसा कहनेसे घडेसे शून्य कमरेका सद्भाव कहा गया है। अभाव नामक पदार्थ कोई नही है कि जिसमे उत्पाद-व्यय ध्रौव्य भी हो। पदार्थ वह कहलाता है कि जिसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाये जाये। क्या अभावमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ? क्या सद्भावमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ? वस्तुमे है। उसमे एक सत्ताका भी ज्ञान किया जाता है। तो सत्ताका ज्ञान किया जाता है तब असत्ताका भी ज्ञान किया जाता। जीव पुद्गल रूप नही है, यह भी ज्ञान हुआ और जीव अपने आपके गुणोसे सद्भावरूप है यह भी एक ज्ञान हुआ। सो अभाव किसी पदार्थके सद्भावरूप है, यो अभाव कोई अलग पदार्थ नही है। तो यो द्रव्य, गुण, कर्म आदिक जो नाना अवस्थाओका और पृथक् पृथक् तत्त्वोका आग्रह हुआ है वह विशेष दृष्टिका परिणाम है।

विशेषवादसम्मत पदार्थोंमें द्रव्यकी अर्थरूपता और द्रव्यातिरिक्त पदार्थोंका द्रव्यमें समावेश—अब इन ६ भावात्मक पदार्थोंको किसी एक ही वस्तुमे देखे तो उसका ठीक स्वरूप समझमे आयगा। जैसे एक यह अगुली है—यह काली, नीली, सफेद आदि जैसा जो कुछ हो उस समय है तो यह अंगुली ही तो उस रूपमय है। अगुली यदि मोड खाकर गोल बन गई तो वह अगुली की ही तो अवस्था हुई। जब हम सीधी टेढी आदिक रूपमे न देखे, केवल अंगुलीमात्र देखें तो वही सामान्य हुआ। जब हमने इस अंगुलीको भी लम्बी मोटी आदिक रूपसे निरखा तो यह विशेष हुआ। और अगुलीमे जो ये सारी बातें हैं वे अगुलीमे बराबर है। तादात्म्य हो, वही समवाय है। तो ये ५ पदार्थ जो विशेषवादमे माने है, वे द्रव्यसे निराले नही है। मैं द्रव्यरूप ही हू। तो द्रव्योंमे जो अभिन्न शक्तियाँ हैं उनका नाम गुण है। और उन सब द्रव्योमे द्रव्यकी जातियाँ है। ६ द्रव्योमे (जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल) जीव और पुद्गल क्रियावान हैं। इनमे कर्म पाया जाता है। कर्म कहो, परिणमन कहो, परिणमन तो सभी द्रव्योमे है, किन्तु क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर जाने रूप जो क्रिया है वह जीव और पुद्गलमे है। सभी पदार्थ परिणमनशील हैं। कर्म सभीमे पाया जाता है। अब अनन्त जीवोंको देखा तो जीव सामान्य समझमे आया। तो क्या वह सामान्य कोई अलग पदार्थ है जिसका सम्बन्ध बना जीवमे, तब यह जीव कहलाया। ऐसा कोई जीवत्व सामान्य पृथक् नही है। जो जीव है उनमे जो जीवत्व है उस जीवत्वके सामान्यस्वरूपको देखते हैं तो वह जीव सामान्य कहलाता है। इसी तरह जब जीवोमे प्रत्येक व्यक्तिकी विशेपताओपर दृष्टि देते हैं—यह ज्ञानी है, यह मूढ है, यह क्रोधी है, यह शान्त है तो यह विशेष नजर आया। यह विशेष भी जीवसे निराली चीज है। ये सब द्रव्योमे तादात्म्यरूपसे रह रहे हैं। गुण भी तादात्म्यरूपसे है। अब द्रव्यसे गुणको जब पृथक् स्वीकार कर लिया तो तादात्म्य सम्बन्धकी बात कहनेको बाध्य होना पडेगा, उसको समवाय कह लो। कोई समवाय नामका पदार्थ जुदा नही है। तो इस तरह ये सभी पदार्थ जितने विशेषवादमे बताये गए हैं वे सब मूलद्रव्यरूप पडते हैं, लेकिन जहाँ विशेपवादका, भेदवादका वर्णन होता है वहाँ इसका जिकर होता है और इसको ही सर्वस्व सत मान लेवे, बस यह एक विशेपवादका आग्रह बन गया। स्याद्वादमे क्या यह वर्णन नही चलता कि जीवमे अनन्त गुण है और एक गुण दूसरे गुणरूप नही होता। गुणोमे प्रतिक्षण परिणमन होता, एक परिणमन दूसरे परिणमन रूप नही है। तो इस तरह जब बोला जाता है तो लगता तो यो ही है कि गुण है कोई अलग चीज, आत्मा है कोई अलग चीज। जैसे गाय, बछडा हैं वैसे ही गुण और आत्मा होगे अलग अलग। अरे ये कोई अलग अलग पदार्थ नही हैं। भेददृष्टिसे इन सबका वर्णन है, पर वर्णन है उसही एक पदार्थका। पदार्थ

नाना न हो जायेगे। किन्तु वह पदार्थकी तारीफ कहलायेगी। अब एक अभाव प्रमाण माना है। उसके सम्बन्धमे भी विचार करे। अभावकी कल्पना यो उत्पन्न हुई कि जिस पदार्थको देखने जाननेकी इच्छा है और वह पदार्थ मिले नही तो वह अभावकी बात कल्पनामे आयी। यह अभाव कोई अलग प्रमाणरूप नही है, किन्तु अन्यके सद्भाव रूप है। यो अखण्ड सत् पदार्थमे कल्पनाके वश भेद करते गए और वहाँ जो विशेषदृष्टि बनी बस उसी विशेषके परिणमनमे ये विशेषवादके ६ पदार्थ निकले है।

विशेषोंका अभेद करके परमार्थ सत्के निरीक्षणका अनुरोध— इन सब बातोसे हमे शिक्षा क्या लेना है ? यह शिक्षा लेना है कि जहाँ कोई समझे आत्मामे ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, दर्शनका यह स्वरूप है, ज्ञानका यह स्वरूप है, ये बाते कोई कहे तो इसे ऐसी दृष्टि लगाकर न सुनें। जैसे कि एक घडेमे बेर, कैथ, बेल, आम, जामुन आदिक भरे हैं तो कोई कहे—देखो—घडेमे आम है, जामुन हैं, कैथ है, बेल है आदि। इस तरहसे नही सुनना है, किन्तु यह सुनना है कि आत्मा तो वह एक अखण्ड है, वह अखण्ड आत्मा इतनी तारीफोसे समझा जा रहा है। यह आत्माकी तारीफ है। गुण जितने हैं वे कोई पृथक् सत्रूप नही है, वे तो सदृश माने गए है। सर्व विशेषोको अभेदरूपमे ढालनेका यत्न करे।

प्रतिक्षण आत्माओंके ध्वस्त होने व नवीन नवीन आत्माओंके उत्पन्न होनेके मन्तव्य की संभावित मूल दृष्टिकी जिज्ञासा—अब एक नवीन चर्चा यहाँ आ रही है। कुछ दार्शनिक लोग मानते है कि आत्मा क्षण-क्षणमे नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। क्षणिकवादका यह सिद्धान्त है कि इस देहमे शाश्वत आत्मा कही नही है। जो सवेरे था, जो बीचके समय थे, जो अब तक कुछ मिनट पहिले थे वे आत्मा अब नही है। आत्मा तो नया-नया उत्पन्न होता रहता है। जैसे कोई सरसोके तैलका दीपक जलाया जा रहा है तो एक एक बूंद तैल की उस लौ के पास पहुचती रहती है, तभी वह दीपक जल रहा। उस समय लोग ऐसा भ्रम करते कि देखो जो दीपक अभी आधा घंटा पहिले जल रहा था वही अब जल रहा है, पर ऐसी बात नही है। एक बूंद आया तो वह पहिला दीपक है उसके बाद जितने बूंद क्रम क्रमसे आकर जलते जायेगे उतने वे नये-नये दीपक बनते जायेगे। ठीक इसी तरह यह आत्मा है। एक ज्ञानक्षण, चित्तक्षण ये ही आत्मा है। आत्मा शाश्वत हो सो कोई वस्तु नही है ऐसी क्षणिकवादमे। जितने जितने क्षण है वही आत्मा हैं। मायने ज्ञानका जो अपना समय है और अपने जाननेके समयमे जो ज्ञानतत्त्व है बस हो चुका पदार्थ। अब वह ज्ञान आगे तो नही रहता। जब आगे वह ज्ञान न रहा तो कैसे कह सकते कि ज्ञान नित्य है, शाश्वत है। अरे ज्ञान है सो ही आत्मा है। जब ज्ञान शाश्वत न रहे तो आत्मा शाश्वत कैसे रहेगा ? यो आत्मा क्षण-क्षणमे नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। ऐसा

दार्शनिकोका अभिप्राय है। इस प्रकरणमे क्षणिकवादका मूल तथ्य जाननेके लिए यह भी जाने कि यह तो कालका टुकडा करके एक वाद बना है, लेकिन इस सिद्धान्तमे द्रव्यका टुकडा, क्षेत्रका टुकडा और भावका टुकडा भी तत्त्व माना गया है। पदार्थ क्षण-क्षणमे नवीन-नवीन होता रहता है। वह अपने क्षणमे आया और मिट गया, यह तो काल अपेक्षा कथन है, पर द्रव्य अपेक्षा निरशताका क्या कथन होगा कि बस शुद्ध केवल परमाणु परमाणु ही द्रव्य है और जो कुछ ये दिख रहे है स्कध, ये सब झूठ है, काल्पनिक हैं, ये कुछ नही है। जब क्षेत्रके क्षणमे आते है तो वे निरशप्रदेशी है, निरंश जगह हैं, वही क्षेत्र है, और जब भावके क्षणमे आते है तो क्या है? रूपक्षण, रसक्षण नीलक्षण, गधक्षण, ये स्वतत्र स्वतत्र भिन्न-भिन्न पदार्थ है। ऐसा नही है कि परमाणुरूपी हो। परमाणु परमाणुमे है, वह द्रव्य अपेक्षा तत्त्व है, पर रूपक्षण अलग चीज है, रसक्षण अलग चीज है, ये स्वतत्र स्वतत्र पदार्थ है। तो क्षणिकवादमे केवल कालको ही निरश करके प्रयोग नही किया गया, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारोको निरश बताया। कुतर-कुतरकर टुकडे कर दिये गये मानो यह है क्षणिकवाद सिद्धान्त। इस सिद्धान्तमे इस समय कालकी निरशताका खण्ड करके कहा जा रहा है कि आत्मा क्षण-क्षण मे नया-नया बनता रहता है। यह किस दृष्टिका परिणमन है?

वस्तुके प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पादके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टि पर्याय दृष्टि—अब उक्त चर्चाके समाधानमे सुनो– आत्मा प्रतिक्षण नया-नया होता है। इसमे दृष्टि गई है एक एक समयके सद्भावको देखनेकी और एक समयके सद्भावको देखनेवाला होता है ऋजुसूत्रनय। तो ऋजुसूत्रनयके एकान्तसे यह तत्त्व निकलता है कि आत्मा क्षण क्षणमे नवीन नवीन उत्पन्न होता रहता है। 'अब जरा इस बातपर विचार करो– ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे तो सही है, उसे यदि उस समयका पर्याय माना जाय तो उसमे कोई विरोध नही है। प्रतिक्षण नवीन पर्याये होती रहती हैं। जो सुबह था सो अब नही, जो अब है वह थोडी देर बाद न रहेगा। अगर ऐसी प्रतिक्षण नई-नई बात न मानी जाय तो अज्ञान दशासे हटकर ज्ञानदशामे आनेका मौका कैसे मिलेगा? अगर अज्ञानी है कोई तो बस अज्ञानी ही सदा रहे। वह ज्ञानी कैसे बनेगा? ससारी है कोई तो बस वह ससारी ही रहेगा। वह मुक्त कैसे हो सकेगा? तो पर्याये बदलती रहती है, प्रतिक्षण नवीन-नवीन होती है, इसमे कोई सन्देहकी बात नही है, लेकिन उस पर्यायके साथ उस आत्मद्रव्यको भी उसी तरह व्येत मान लिया जाय तो यह बात न तो अनुभवमे ही आती है, न प्रत्यक्ष समझमे आती है। और न युक्तियोसे समझमे आती है। मान लो यह ज्ञान क्षण जो हममे अब हो रहा है वह मिट गया, अब दूसरा ज्ञान हुआ वह मिट गया, तो ऐसे ही ज्ञान लेकर

नये-नये हो तो कोई विरोध नही है और ये ज्ञानक्षण नष्ट होते जाये तो इसमे भी कोई विरोध नही, किन्तु वह ज्ञानक्षणोका स्रोतभूत जो आत्मा है वह क्षणिक नही है। वह तो शाश्वत है और इसकी शाश्वतता जाननेके लिए यह भी सोचिये कि किसीके उस देहमे यदि नये-नये आत्मा बनते गए, कल्पना कर लो कि क्षणिकवाद सिद्धान्तके अनुसार नये-नये ज्ञान बन रहे है तो जब नया-नया आत्मा बन रहा है तो इस वक्तका जो आत्मा है उसको सुबहके आत्माके द्वारा जानी गई बातका ख्याल क्यो हो जाता है ? जैसे आप एक जुदा आत्मा है, हम एक जुदा है, तो आपकी बातका हम कुछ अनुभव तो नही कर सकते। ख्याल करते है तो इस समयका यह आत्मा सुबहके आत्माकी बातका अनुभव क्यो कर लेता है ? इसका उत्तर देना तो आवश्यक है, यो आवश्यक है कि यह सबके अनुभवकी बात है। जो अनुभवकी बात है उसे तो कोई मना नही कर सकता। जैसे अग्नि गर्म होती है, यह तो सबके अनुभवकी बात है। इसे कौन मना करेगा ? यदि कोई मना करे तो उसके हाथपर एक आगकी चिनगारी रख दो, बस झट उसे पता पड जायगा कि आग गर्म होती कि नही। विवशतापूर्वक किसी बातको मान लेनेमे कौनसी चतुराई है ? जो बात अनुभवमे आने वाली है उसको कितना ही मना किया जाय, पर आखिर मानना ही पडेगा। यह अनुभवमे आनेवाली बात है कि यह आत्मा सुबह की बातको भी जान रहा है, गत क्षणकी बातको जानता है। जब यह आत्मा तो कैसे कहा जायगा कि यह आत्मा सुबहके आत्मासे जुदा है।

प्रत्येक पदार्थकी भांति आत्माकी भी नित्यानित्यात्मकता—आत्मा गत क्षणोकी बात किस तरह जानता है ? समाधानमे यद्यपि उत्तर दिया है क्षणिकवादमे कि वह सब सतानका प्रताप है। उस एक देहमे जो क्रमसे नये-नये आत्मा बनते है तो चूँकि वे अनवरत रूपसे बनते। वहाँ समयका अन्तर नही पडा है। लगातार वहाँ आत्मा बने तो वहाँ एक संतान बन गया। लगातार होते रहनेका नाम ही तो सतान है। उस सतानके कारण ऐसा सस्कार बन जाता है कि कोई आत्मा पहिलेकी बात भी समझ लेता है। सो सतान कह कर भले ही उत्तर दिया जाय, लेकिन जो सतान कहलाता है वही तो एक आत्मा है। जिस एक आत्मामे ये पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं वह आत्मा एक है। उस एक आत्मामे सस्कार पडे हुए हैं और उस संस्कारके कारण नवीन-नवीन ज्ञानके होने पर भी चूँकि आत्मा ज्ञानमय होती है। तो पहिले की अनुभूत चीजोको भी वह समझ जाता है। खैर इस सम्बन्धमे अधिक नही बढता है, क्योकि इसमे आध्यात्मिकताका प्रसग विलम्बित हो जाता है। लेकिन इस बातको यो कहना पडा कि इसका सम्बन्ध अध्यात्मसे तो है ही। यह मैं आत्मा शाश्वत हू, ज्ञानमात्र हू, इस तरहके अनुभव करनेका आध्मात्मिक महर्षियो ने उपदेश क्रिया है और जब यह अपनेको एक सहज ज्ञानमात्र अनुभव करता है तो

निर्विकल्प एव परिचय होता है और यह ही एक मोक्ष का मार्ग है। यही कोई बढता जाय तो उसे मुक्ति प्राप्त होती है। हाँ, बढते हुएमे स्थितियाँ ऐसी आयेगी कि वह निरारम्भ होगा, निष्परिग्रह बनेगा, क्योकि सपरिग्रहकी स्थितिमे ज्ञानमे ज्ञानके प्रतिष्ठित होनेका सम्बन्ध नही बनता है, वह अधिक नही ठहर सकता है तब ये स्थितियाँ आती हैं, जिनको चरणानुयोगमे भली प्रकार बताया है। पर अपने आपकी सही समझ बनाना तो आवश्यक है ही, यह मैं आत्मा शाश्वत हू और इस मुझमे प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। इस तरहका यह स्याद्वादका शासन है।

स्याद्वादशासनसे विपरीत मान्यताओंमें विडम्बनाओंका अवसर—स्याद्वादके विपरीत जो कुछ कहा जाता है तो वह भी कहा तो किसी सचेतनने ही और बडे-बडे सन्यासियो ने। जो एक आत्महितके इच्छुक थे, कल्याण चाहते थे, उन्होने वही बेईमानी करनेके लिए, दूसरोको धोखा देनेके लिए अपने दर्शनकी रचना नही की। भले ही स्याद्वादका आश्रय न करनेसे उनसे चूक हो गयी। तो यह एक पर्याय दृष्टिकी मुख्यता करके जो बात समझी गई उसे एकान्तसे मान लिया गया, तब इस सिद्धान्तकी प्रसिद्धि हुई कि आत्मा प्रतिक्षण नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। ऐसे क्षणिकवादमे व्यवहार नही बन सकता। आपसे कोई रुपया उधार ले गया और बादमे आप उसके पास जाकर कहे कि दीजिए साहब हमारे रुपये तो वह यही कह देगा कि साहब हम क्या जानें तुम्हारे रुपये ? अरे तुमसे जो आत्मा रुपये उधार ले गया था वह तो कोई दूसरा था। वह तो नष्ट हो चुका है। अब तो मैं दूसरा आत्मा हू। तो उनकी इस मान्यतासे व्यवहारमे भी बडी विडम्बना बन जायगी। जब एक एक क्षण बादमे दूसरे-दूसरे आत्मा बनेंगे तो फिर मैं क्यो तपश्चरण करूँ ? क्यो कि मुक्त तो कोई दूसरा ही आत्मा होगा। इस तरहसे उनकी इस मान्यतासे व्यवहारधर्म भी नही चल सकता है। यह उनके एक इस सिद्धान्तकी बात कही गई कि आत्मा है और वह प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायोरूप परिणत होता रहता है।

पूजा, यज्ञ आदिसे मुक्तिका लाभ माननेकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा—अब यहाँ चर्चा आ रही है कि प्राय आजके धर्मात्मा जनोके समूहमे यह बात प्रसिद्ध है कि पूजा यज्ञ आदिक करने से मोक्ष होता है। भगवानके नाम पर पूजा करें अथवा कोई क्रिया अनुष्ठान करे तो उससे मुक्ति प्राप्त होती है। यह जो अभिप्राय प्रसिद्ध हो रहा है यह किस दृष्टिका परिणाम है ? इसका स्पष्ट समाधान यह है कि यह क्रिया दृष्टिका परिणाम है। यह क्रियादृष्टि जो इस परिणामको सिद्ध करे वह किस प्रकार बनी ? कोई जैसे ब्रह्मज्ञानी जीव जिसको आत्मतत्त्वका बोध है वह चाहता तो यह है कि मैं इस ज्ञानस्वरूप आत्मामे ही रमता रहू और शुद्ध हृदयसे भी चाह रहा है, पर हृदयसे चाहकर भी कैसा पूर्वजनित कर्मका सस्कार है और कैसा कोई विलक्षण कर्मविपाक है कि जिसके कारण

यह प्राय ज्ञानी पुरुष भी अपने उस आत्मतत्त्वमे स्थिर नही हो पाता। ऐसी स्थितिमे वह क्या करता है ? चूँकि वह ज्ञानी पुरुष है और ब्रह्मस्वरूपमे उपयुक्त नही हो पा रहा है तब उसकी जो क्रिया बनेगी वह ब्रह्मस्वरूपसे एकदम प्रतिकूल न बनेगी, किन्तु उसकी सिद्धि का भाव रखते हुए उससे सम्बधित क्रिया बनेगी। तो ज्ञानी पुरुषकी यह क्रिया बनी इस विधिसे। उन्होने भी देवयज्ञ अथवा परमात्मभक्ति, पूजन, अर्चन, वंदन आदिक सब कार्य, किया, पर इसके अन्त रहस्यको साधारण लोग क्या जाने ? यह ज्ञानी पुरुष इन क्रियावो को कर रहा है इस ज्ञानस्वरूपकी यादमे। ज्ञानस्वरूपसे सम्बन्ध बनाते हुए ही अपना उपयोग इन पूजा आदिक क्रियाकाण्डोमे कर रहा है, इसको सर्व साधारण समझ तो नही सकते, लेकिन सर्वसाधारणके चित्तमे यह भी बात तो बनी है कि यह बडा पुरुष है, यह ज्ञानी है, साधु है, उत्तम है, ऐसी बात बनी है और उनकी देखी जा रही है क्रिया, उनकी उत्तमताका कारण क्या है ? इस बातकी परख तो नही की जा सकी, किन्तु देखी जा रही है बाह्यमे क्रिया तो उनको यह ही ध्यान बन गया है कि ऐसी क्रिया करने से ही कल्याण प्राप्त होता है। यह बडा पुरुष है और यह भी पूजा आदिक कर रहा है तो यही क्रिया सब दु खोको मिटानेमे समर्थ है, ऐसी क्रियादृष्टि हो जाना साधारणजनोको प्राकृतिक है। उन्हे यह समझ तो न आयी कि हम क्रियादृष्टिका एकान्त कर रहे है, यहाँ तो यह ज्ञानी पुरुष है, बडा है और इसको उस शुद्ध आत्मतत्त्वका परिचय है, पर उस शुद्ध आत्मामे उपयुक्त नही हो पा रहा है ज्ञानी, ऐसी शुद्ध पर्याय परिणति जिसे कि यह ज्ञानी चाह रहा है, उस पर्यायरूप परिणत जो ब्रह्म है, भगवान है, उस भगवानके शुद्धस्वरूपकी यह इस कारण भक्ति कर रहा है, स्तुति कर रहा है, पूजामे लग रहा है, यह तो मर्म जान न पाया, पर देखा वह बाह्य आचरण ही, तो उसको देखकर अभिप्राय बन गया है कि यज्ञ पूजा आदिकसे मोक्ष होता है।

क्रियादृष्टिके एकान्त आग्रह व स्वच्छन्द प्रवृत्तिमें विडम्बनाओंकी उत्पत्ति—उक्त प्रकारसे लौकिक जनोकी ज्ञानियोके पूजादि प्रसङ्गमे दृष्टि बाह्य क्रियाकी रही और इस क्रिया की बात यो निरखी कि ज्ञानी पुरुषके यह क्रिया अन्तर्भावसे हुआ करती है। उसका यह अभिप्राय बना कि पूजादि क्रियासे मुक्ति होती है—इतने तक ही भाव रहता वह भी कुछ ठीक था, लेकिन क्रियादृष्टिके एकान्तमे इस क्रियासे मुक्ति होती है—इतना परखनेके आगे भी कुछ अति लौकिक जनोने पापभावमे कदम बढाया। सम्बन्ध तो रखा पूजाका, यज्ञका लेकिन उन्ही साधारणजनोमे कुछ और भी विकार आये और यहाँ तक भाव बना कि मैं धर्मात्मा रहू और विषयोकी पूर्ति भी रहा करे और विषयपूर्तिकी इतनी जघन्य अवस्था तक वे अहमन्य जन इस प्रवृत्तिमे आ गए कि मासादिक भक्षणका काम भी चलता रहे,

और साथ ही धर्मात्मापन भी बना रहे और यह विषयसेवन भी चलता रहे तब उन्होंने यज्ञोका और विरूप उत्पन्न कर दिया। वहाँ बलि आदिक भी की जाने लगी। अब देखिये तो वस्तुत पूजा तो यही है कि भगवानके गुणका, उस शुद्ध स्वरूपका स्मरण हो। यही भगवंतकी पूजा है। इतना कोई न कर सके तो मन लगानेके लिए कोई प्रासुक द्रव्यकी व्यवस्था हुई, कुछ स्तवन करके द्रव्य चढायें, इस तरहसे उस साधन द्वारा चित्त लगाये, यह उससे दूसरे नम्बरकी बात है। लेकिन परमार्थत जो भक्तियाँ हैं–सिद्धभक्ति, योगिभक्ति आचार्यभक्ति, शान्तिभक्ति आदिक, इनमे उपयोग रहे, उसके अनुसार चित्त चले वह तो है प्रथम पूजाका यथार्थपन, यथार्थ पूजा और फिर उन श्रावक जनोका जैसे चित्त रमे उस तरह कुछ प्रासुक द्रव्य साधनसे पूजा हो वह है द्वितीय क्रमकी पूजा, लेकिन जब लोकरूढ धर्मात्मापनका नाम जाहिर करनेवाले जनोने पूजाओका रूप बिगाड लिया तो वहाँ हुआ क्या कि पशुबध आदिक जैसे रूप भी करके ये अपनेको धर्मात्मा प्रसिद्ध करने लगे। वे विषयोके लोलुपी हुए तो उस समय इस तरहकी बात चली। वहाँ अग्नि जलाना, होम करना, पशुओका होमना आदि ये सब कुप्रथायें चली और कुछ समय बाद कुछ विवेकी जन हुए तो उन्होने उन प्रथावोको मेटनेके लिए उनका एक नया रूपक बना दिया––क्या कि ईंधन जलाओ, पुराने धान उसमे डालो, आदिकरूपसे उसका सशोधन किया, लेकिन वस्तुत क्या तत्त्व था मूलमे उसको वे न परख सके, इस कारण यह एक एकान्त कर बैठे कि ऐसी क्रिया करनेसे मुक्ति होती है।

क्रियादृष्टिका एकान्ताग्रह न करके अशुभवञ्चनार्थ क्रियावृत्ति करके भी शुद्ध ज्ञप्ति-क्रियाके लक्ष्यसे च्युत न होनेका सदेन्श––यहाँ हमको क्या शिक्षा लेना है ? यह शिक्षा लेना है कि हम क्रियादृष्टिके एकान्तका आग्रह न करें। वस्तुत बात तो यह है कि मुक्त करना है अपने आत्माको और यह आत्मा किसी ददपदसे या कुछ हाथ पैर पसारे या अधीरताका काम करे या अनेक प्रकारसे विह्वलताओको प्राप्त हो, इससे कही आत्मकल्याण की बात नही बननेकी। वह बात तो बनेगी धीरेसे, समतासे, स्वयको स्वयमे सयत करनेसे। यह ज्ञानद्वारा साध्य है। विवेकसे यह चीज बन सकती है, इसके लिए अन्त सतुलन चाहिए। यह ज्ञानभाव इस ज्ञानमय निज स्वरूपमे प्रतिष्ठित हो जाय, इसके लिए बाह्यका उपयोग तो सारा देखना होगा और अपने आपके सहज स्वरूपको उपयोगमे ऐसा दृढ लेना होगा कि यह उपयोग बाहर न जाय और यहाँ ही अपने आपके स्वरूपमे ठहर सके, स्वय शान्त हो, गुप्त हो और ग्राह्यग्राहकके विकल्पसे भी रहित हो। वहाँ इतना तक भी महसूस न हो कि ओह कैसा यह शुद्ध ब्रह्म है, लो मैं इसको अनुभवमे ले रहा हू, यह आनन्दकी बात है, इतना सूक्ष्म अन्तर्जल्प भी जहाँ समाप्त हो जाय, ऐसे अपने आपमे अपना प्रवेश होना, यह

कही इन बाहरी क्रियावो द्वारा साध्य है। जो एक अन्त उपयोग साधन द्वारा साध्य बात है वह क्रिया द्वारा साध्य होने लगे इसमे तो बडा ही अन्तर है। कितना बडा अन्तर होता है, लेकिन जो इस ब्रह्मस्वरूपमे उपयुक्त नही हो पाते उनके लिए चारा क्या है ? अन्य और बात क्या है ? अज्ञजनोकी भाँति इन इन्द्रियविषयोमे प्रवृत्ति करने लगें, यह न हो सकेगा। तो इस तरह एक परम्परासाधन जैसी पद्धतिमे ये पूजन, दर्शन, वन्दन क्रिया आदिक हो, लेकिन कोई उन्हीका आग्रह करे तो वह क्रियादृष्टिका एकान्त है।

सर्वविश्वको विज्ञानमात्र तत्त्व माननेके मन्तव्यकी आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा— अब एक नवीन चर्चा यह आ रही है कि कोई दार्शनिक कहता है कि यह सारा विश्व मात्र ज्ञानरूप है। ज्ञानको छोडकर अन्य कोई भी सत् नही है। सब ज्ञानमात्र है, ऐसा दर्शन सुन करके अचानक लोग ऐसा सोचेगे कि यह तो अत्यन्त अनहोनी बात कही जा रही है, किन्तु इसको वे किस अभिप्रायसे साबित कर रहे हैं ? सो उनका अभिप्राय देखिये— विज्ञानवादियो का यह कथन है कि सारा विश्व एक विज्ञानमात्र है, क्योकि इन समस्त पदार्थोका और इस ज्ञानका एक साथ उपलम्भ हो रहा है। चूँकि ज्ञान और पदार्थ ये एक साथ ही उपलब्धिमे आ रहे है, इस कारणसे ये सब एक है और वे है ज्ञानमात्र। विज्ञानाद्वैतवादियोकी विज्ञान-मात्र तत्त्वके साधनकी यह युक्ति देखिये—उनका कहना है कि ये सारे पदार्थ और यह विज्ञान ये दोनो एक साथ उपलब्धिमे आ रहे है, इस कारण ये भिन्न-भिन्न चीजें नही है किन्तु ये विज्ञानमात्र हैं, और दृष्टान्त भी वे देते हैं कि कभी दो चन्द्रमा दिखते है लोगोको तो क्या वे दो चन्द्रमा है ? अरे वह तो एक है, क्यो एक है कि वे दो चन्द्रमा एक साथ दिखे। एक साथ दो चन्द्रमा दिखे है इस कारण वह चन्द्र एक है, इसी तरह यह सारा विश्व, ये भीत मकान, चौकी, काठ आदिक पदार्थ व यह ये दोनो एक साथ पाये जा रहे इस कारण ये दोनो एक है। (विज्ञानाद्वैतवादकी बात कह रहे हैं।) क्या किसीने उपलब्धि की कि ज्ञानकी तो उपलब्धि न हो और इन पदार्थोकी उपलब्धि हो जाय ? ऐसा तो किसी के नही होता। जब ये बाहरी चीजे समझमे आयी तब ज्ञान भी साथ-साथ जुटा हुआ है। तो ज्ञान और बाहरी पदार्थ ये दोनो एक साथ पाये जा रहे हैं, इस कारणसे एक ज्ञान मात्र ही है दूसरा कुछ नही। यह उनका सिद्धान्त है। इस विषयमे यह जिज्ञासा हो रही है। इस तरहका आशय किस दृष्टिका परिणाम था ? उन्होने कौनसी दृष्टि की, अथवा किस दृष्टि का आग्रह किया, तब यह समझमे आया कि यह सारा विश्व एक ज्ञानमात्र है, यह दूसरा कुछ भी पदार्थ नही है ? उक्त जिज्ञासाका समाधान यह है कि ज्ञानमात्र ही सारा विश्व है, इस अभिप्रायका कारण है विज्ञानदृष्टि।

विज्ञानदृष्टिके एकान्तका मन्तव्य—अब विज्ञानदृष्टिका एकान्त देखिये—जैसे

वास्तवमे अपने ज्ञानके परिणमनको ही जानता है। वाहरमे कुछ नही जानता। लो चलो–ज्ञानमे आयी भीत, यह वाहरी पदार्थ, तव हम जान सके कि यह भीत है, यह अमुक पदार्थ है। तो ज्ञानकी पर्यायमे जो ग्रहण हुआ, जो ज्ञान हुआ, तत्त्व तो यही मात्र है, उससे भिन्न नही है वाहरी कुछ चीज। लेकिन जो ज्ञानमे आया उसके कारण वाह्य पदार्थोंके नाम लिए जाते हैं कि यह भीत है, यह चौकी है, यह अमुक है। यो विज्ञानदृष्टि का एकान्त वना। जैसे कि कोई पुरुष दर्पण लिए हो तो दर्पणको देखकर ही वह यह वतला पाता है कि देखो पीछे ये वृक्ष खडे है, ये लडके खेल रहे हैं आदि तो यह व त उसने कव समझा ? जब उसने दर्पणमे पडनेवाले प्रतिबिम्वको देखा। तो तत्त्व तो उसके लिए यही दर्पण ही है। दर्पण प्रतिविम्बित है। वह एक उसकी दृष्टिमे है, पर उसे निरखकर जैसे वृक्षोकी वच्चोकी अन्य अन्य भी वाहरी चीजोकी सत्ता वताता है ऐसे ही यहाँ ज्ञानमे आये हुए आकारोको समझकर वाहरी पदार्थोंकी सत्ता वताया करते है। यह विज्ञानमात्र तत्त्व माननेवालेकी चर्चाको बतला रहे हैं। यद्यपि ये समस्त आकार जो ज्ञानमे आये हैं, जो अर्थ विकल्प हुए हैं वे उस प्रकार हुए है कि जैसे वाहरमे पदार्थ मौजूद है, लेकिन जो मात्र विज्ञानदृष्टि करके विज्ञानको ही देख रहा है तो उसे वाह्य जगतका सत्त्व प्रतीत नही होता है। विज्ञानाद्वैतवादी चर्चा कर रहे हैं–जैसे कोई स्वप्नमे निरखते है कि पहाड है, जगल है, लोग हैं, नदी है आदि, लेकिन वहाँ कुछ है क्या ? हाँ उसके ज्ञानमे यह सब कुछ है। तो भीतरसे इस चर्चाकार का (विज्ञानाद्वैतवादीका) यह आशय है कि इसके ज्ञानमे ही सब कुछ है ये पेड खम्भा आदिक बाहरी पदार्थ, लेकिन ये वस्तुत कुछ भी चीज नही हैं।

सहोपलम्भसे अनेककी सिद्धि—उक्त आशय बना केवल विज्ञानदृष्टिका आग्रह करने से, किन्तु इसपर कुछ विचार किया जाय तो यह बात यथार्थ सिद्ध नही होती। वस्तुत सभी पदार्थ हैं, अनन्त पदार्थ हैं, एक ज्ञानमय भी पदार्थ है, किस तरह, सो देख लीजिए—चर्चाकारका यह कहना था कि जैसे दो चन्द्रमा दिख गए, कभी-कभी किसी मनुष्यको दो चन्द्रमा एक साथ दिख जाते हैं तो वे क्यो दिखे ? क्योकि वह चन्द्र एक है। इस दृष्टान्तको कहनेवाले चर्चाकारने स्वय अपनी चर्चाका खण्डन कर दिया। दो चन्द्र दृष्टिमे आ गए ठीक है, किन्तु देखिये चन्द्र एक हो चाहे दो हो, उससे यह बात तो सिद्ध न हो सकी कि तत्त्व ज्ञानमात्र है। अरे चन्द्र भी है और ज्ञान भी है, उसीके कहनेसे यह वात सिद्ध हो जाती है कि चन्द्र भी एक पदार्थ है और ज्ञान भी एक पदार्थ है और ज्ञानसे देखा तो उस एक चन्द्रको देख लिया। अब अन्तर इतना ही तो रहा कि जो दो चन्द्र दिखे वह भ्रान्त ज्ञान है और एक चन्द्र दिखे वह अभ्रान्त ज्ञान है। तो यहाँ जो कुछ जाना जा रहा है भीत चौकी, पुरुष, पशु पक्षी आदिक यह भ्रान्त नही है, अभ्रान्त है। भला बतलाओ एक खम्भा

१०-२० टनका बोझ लादे हुए है, इतना तो वह वायमे आ रहा है, वह न हो तो सारी बिल्डिग टूटकर गिर जाय। तो इतना बडा काम खम्भा कर रहा है, फिर भी ये विज्ञान-वादी ऐसा कह रहे है कि यह सब भ्रम है। अरे भ्रम है तो फिर इतने बडे बोझवाली छतके नीचे बैठ कर रक्षित कैसे रह सके ? जब खम्भा कुछ भी नही है तब तो फिर यह छत टूटकर गिर जाना चाहिए था और हम आपको उसके अन्दर दबकर प्राणवियुक्त हो जाना चाहिए, था पर ऐसा कहाँ देखा जाता ? तो ये सब अर्थक्रियाकारी पदार्थ बराबर नजर आ रहे है। अभी देखिये हम आप रेलगाडीमे बैठकर एक ही घटेमे पचासो मील की दूरी तय कर लेते है तो क्या रेलगाडी कुछ भी नही है ? केवल भ्रम मात्र है क्या ?

शुद्ध सुखसंवेदनमें वाह्य पदार्थकी उपलब्धि न होनेसे विज्ञानमात्रतासाधक सहोपलम्भ साधनकी असिद्धि—चर्चाकारने यह बताया था कि ज्ञान और ये दिखनेवाले पदार्थ एक चीज क्यो है कि इनकी एक साथ उपलब्धि होती है। तो उसकी यह बात भी असिद्ध है, क्योकि क्या यह नियम है कि जो एक हो उन्हे एक साथ उपलब्ध होना ही चाहिए याने पदार्थ और यह ज्ञान एक है, क्योकि इनकी एक साथ उपलब्धि है। यह नियम देखो सुख-संवेदनमे घटित नही हो रहा है। जब ज्ञान सुखका सचेतन कर रहा है, वाह्य पदार्थोंपर दृष्टि भी नही गई है, केवल एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका वेदन करनेसे उत्पन्न हुआ जो अलौकिक आल्हाद है उस सुखका अनुभव कर रहा है, बताओ वहाँ पदार्थ और ज्ञान भी एक साथ उपलब्ध कहा रहा ? लेकिन पदार्थके बिना भी यहाँ ज्ञानकी उपलब्धि हो गयी। तो सहो-पलम्भकी बात कहना यो भी युक्ति सगत नही होती, केवलज्ञान ही तत्त्व है ऐसा सिद्ध करने वाले की। विज्ञानाद्वैतवादी यह युक्ति बतला रहे हैं कि पदार्थ और ज्ञान चूंकि ये एक साथ बोधमे आते हैं अतएव एक हैं। अब सुनो एक साथ ये दोनो पाये जा रहे है, ऐसा कहकर वे चाहते हैं हम एकको सिद्धि कर लें, मगर इस ही से अनेकको सिद्धियाँ होती है, एक साथ पाये जा रहे हैं ये दो, सो पाये जायें, मगर हैं वे दो ही, क्योकि एक साथ पाये जा रहे है। एक साथ दो के पाये जानेसे कही एक सिद्ध न हो जायगा। देखो—यही एक यह काली फर्श बिछी हुई है, इसमे काला रूप है ना ? अवश्य है, दिख ही रहा है हम आपको और देखो यह सूर्यका प्रकाश भी है ना ? अरे प्रकाश न होता तो यह कालारूप दिख कैसे जाता ? लो यहाँ रूप और आलोक ये दोनो एक साथ हो गए, मगर क्या ये एक हो गए ? रूप रूप है, प्रकाश प्रकाश है, तो एक साथ पाये जानेसे एक हो जाय यह बात अयुक्त है। और फिर उन्हीके शब्दोमे सोचिये—इनका कहना है कि ये सारे पदार्थ और ये ज्ञान, ये एक साथ पाये जा रहे है इसलिए एक हैं, तो वह एक क्या रहा ? पदार्थ रहा या ज्ञान ? जब दो को एक साथ पाये जानेसे तुम एकको ही मानते हो तो वह एक तुम कह रहे कि

ज्ञान रहा, अन्य कोई कह दे कि पदार्थ रहा, और पदार्थ ही ज्ञान है, कोई यो बोलेगे, तुम बोल रहे हो कि ज्ञान ही पदार्थ है तो वह एक क्या रहा ? पदार्थ रहा कि ज्ञान रहा ? लो पदार्थ रहा। इसकी वोट ले लीजिए—जितने भी मनुष्योसे पूछो—वे पदार्थको तो जरूर बतावेंगे, ज्ञानको बता सकें चाहे नही, मगर इन बाह्यपदार्थोको मना कोई न करेगा। और कोई ज्ञानको भी बतानेवाला होगा तो ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, अन्य कुछ नही है ऐसी मात्रपनेकी बात तब ही कही जा सकती कि जब कोई अन्य भी हो। मात्र कहाँ लगाया जाय ? जहाँ उसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ हो, मात्र शब्दका प्रयोग वहाँ है।

ज्ञानमय पदार्थ व सकल ज्ञेय पदार्थ सभीके अस्तित्वका निर्णय—विज्ञानवादीकी एक-एक बात, एक एक शब्द यह ध्वनित कर रहा है कि जगतमे बाह्यपदार्थ भी हैं और ज्ञानभाव भी है। कैसे उसे एक कहा जा सकता है ? यो तो इस तरहकी बात हो गयी कि जैसे किसी पुरषका कोई इष्ट गुजर गया, जिससे बडा प्यार था तो उस पुरुषको सर्व जगह सूना-सूना नजर आता है, दुख ही दुख नजर आता है तो क्या उसके ऐसा नजर आनेके कारण यह सब जगत सुना हो गया ? नही सूना हो गया। तो यही बात यहाँ देखिये कि कोई भी विज्ञानको दृष्टिमे लिए हुए हो और उसका एकान्त करके केवल उस ज्ञानमात्रको ही बताना हो तो यह बात असिद्ध है। जो ज्ञानमात्रको दृष्टिमे लिए हो वह बाह्य पदार्थों का सद्भाव न बता सकेगा तो फिर उनके अभावको भी न बता सकेगा ? वह तो ज्ञानमे मग्न है, लोग बात तो लेंगे केवल एक ज्ञानमात्रकी दृष्टि की और व्यवहार करेंगे इन बाहरी पदार्थोंका। तो इस तरह बाह्यपदार्थोंका निषेध करनेकी बात युक्तिसगत नही होती। फिर भी परख यह करना है कि जो ऐसा निरख रहा है कि सारा विश्व ज्ञानमात्र है, अन्य कुछ नही है तो उसका यह अभिप्राय एक विज्ञानदृष्टिके आग्रहपर बना है। पर वस्तुत बाह्य पदार्थ भी है और यह ज्ञानमात्र पदार्थ भी है।

शरीर ही आत्मा है इस मन्तव्यकी संभावित दृष्टिकी जिज्ञासा—कल यह वर्णन था कि यह सारा विश्व ज्ञानमात्र है, ऐसा अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम है, उसकी मीमासा करते हुए चर्चाकार और समाधानकार दोनोकी यहाँ इतनी बात तो सम्मत हो ही गयी थी कि वह ज्ञान अमूर्त है, निराकार है, अर्थात् यहाँके दिखनेवाले पिण्डोकी तरह उसका आकार नही है, यह बात सुनकर अब कोई लौकिक पुरुष लौकायतिक अर्थात् लोककी तरह जिनका आचरण बना हुआ है, कहने मात्रको दार्शनिक हैं, किन्तु उनका दर्शन यह है कि जो कुछ दिख रहा है वह तो तत्त्व है और उससे अतिरिक्त कुछ नही है, इस तरहके अभि-प्राय वाले यहाँ यह चर्चा रख रहे हैं कि हम तो यह समझते हैं कि जो शरीर है सो ही आत्मा है, शरीरसे अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ नही है। और हम ही क्या, जिससे पूछोगे

वे ही लोग यह बतावेगे कि यह ही तो आत्मा है। पशुओको देखकर कहते है कि यह गाय है, यह बैल है, अमुक है, तो इस तरह शरीरको निरखकर ही तो कहा करते है। तो शरीर ही आत्मा है, यह भी तो लोगोका ख्याल बना हुआ है। यह अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम है ? ऐसे ही यहाँ एक लौकिक साधारणजनोकी चर्चा उपस्थित हुई है। उसमे भी अब अभिप्राय बताया जा रहा है, उनका यह अभिप्राय साव्यवहारिक दृष्टिका परिणाम है।

सांव्यवहारिक दृष्टिके एकान्तमें ज्ञानकी भूतपरिणामताका मन्तव्य—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण कहते उसे हैं जो इन्द्रियके द्वारा समझा जाय। तो जो इन्द्रियके द्वारा जाना गया वह ही मात्र पदार्थ है बाकी और कुछ नही है, ऐसा अभिप्राय इस दृष्टिके एकान्तमे बन जाता है। इस सिद्धान्त वालोने यही तो कहा है कि ज्ञान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका परिणाम है अथवा ५ भूत लगा लीजिए—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनका परिणाम है ५ भूतोकी दृष्टि यो बन गई कि इन्द्रियाँ शरीरमे ५ मिल रही है। तो आकाश से तो बना कर्णइन्द्रिय जो शब्दको ग्रहण करे और कान लगते भी ऐसे है कि मानो पोल घुस गया। आकाश भी उसमें भरा सा है और आँख हो गया अग्निका तत्त्व। देखो--रात्रि के समयमे बिल्ली आदिककी आखे देखी जाये तो चमकदार लगती है, आग भी चमकदार होती है। कुछ चमकीला दीखा तो ध्यान आ गया कि यह अग्निका तत्त्व है, और नाक यह इन्द्रिय पृथ्वीका तत्त्व है। पृथ्वीमे भी गध आती है, नाकका भी काम गध लेना है। तो सदृशता बन गई। तो नाकइन्द्रिय पृथ्वीसे उत्पन्न हुई है और रसना यह जलतत्त्व है, क्योकि देखो ना जीभसे जब चाहें पानी टपक पडता है। तो यह जो जीभ है वह जलतत्त्वसे निकली है और फिर शरीर स्पर्श यह सब हवाका तत्त्व है। इस तरह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका परिणाम है सब इन्द्रियं और ज्ञान। यहाँ स्पर्शनको पृथ्वीज मान लिया जाय तो नासिका को वायुज मान लीजिये, इस तरह ५ भूतोसे उत्पन्न हुआ यह चैतन्य है। शरीरसे अतिरिक्त कुछ चेतन नजर आया नहीं, तो बस यह ही जीव है। इस शरीरसे अतिरिक्त अन्य कोई जीव नही है, यह उनकी दृष्टि बनी। लेकिन इस बातपर विचार करें तो कुछ गम्भीरतासे सोचा जायगा तो समाधान मिलेगा। पहिली बात तो यह है कि यदि यह चेतन, यह ज्ञान जिस ज्ञानके लिए भूत परिणाम बताया जा रहा है, वह ज्ञान यदि भूत परिणाम होता तो इन्द्रियसे दिख जाना चाहिए था। नाक, आँख, कान, शरीर ये सब इन्द्रियसे दिख जाते हैं, तो ऐसे ही यदि चेतन भी भूत परिणाम हो, पृथ्वी आदिकका परिणमन हो तो वह भी आँखोसे दिखना चाहिए था, लेकिन कहाँ दिखता ? तो मालूम होता है कि आत्मा भूत परिणमनसे अतिरिक्त कोई चीज है।

ज्ञानके सूक्ष्मभूतपरिणामत्वकी भी असंभवता—अब यदि शंकाकार यह कहे कि

चैतन्य तो है भूतपरिणाम, मगर वह सूक्ष्म भूतपरिणमन है, तो चलो सूक्ष्मभूत परिणमन पर ही विचार कर लें। अच्छा बताये कोई कि सूक्ष्मभूत परिणमन रूप वह चेतन अथवा ज्ञान क्या चेतनकी जातिका है या विजातीय है ? अगर चेतनकी जातिका है वह भूतपरिणाम जिसे सूक्ष्म कहकर बोल रहे हो तो चेतन ही कहलाया, फिर विवाद ही क्या रहा ? यदि कहो कि वह ज्ञानसे विजातीय है तो विजातीयका विजातीय उपादान नही बन सकता, तब वह सूक्ष्मभूत परिणमन जिसे ज्ञान कह रहे हो वह तो ज्ञानसे विजातीय है। तो विजातीय हो गया वह भूतपरिणाम, सो अब चैतन्यकी उत्पत्ति भूत उपादानसे नही हो सकती। देखो— यहाँ भी ये ही लोग ऐसा कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारो अलग-अलग चीजे है, तो ऐसे अलग-अलग पदार्थ समझानेके लिए वे क्या उपाय रचते है ? असाधारण लक्षण देखे जा रहे हैं यो कहते हैं। पृथ्वीमे जो धारणरूप असाधारण लक्षण देखा जा रहा है वह पृथ्वीमे है, अन्यमे नही। जलमे जो असाधारण लक्षण है द्रवत्व वह जलमे ही है अन्यमे नही। अग्निमे असाधारण लक्षण है उष्णता वह अन्यमे नही। वायुमे असाधारण लक्षण ईरण, बहना, वह अन्यमें नही। सो असाधारण लक्षण द्वारा पदार्थ पृथक् पृथक् हैं, यह व्यवस्था की जाती है। असाधारण लक्षण देख करके तो यहाँ भी देखो ना—ज्ञान अथवा चेतनमे है असाधारण लक्षण इस शरीरसे विलक्षण। चेतन है ज्ञानस्वरूप, प्रतिभासस्वरूप। जाननहार जो यह शरीर है यह रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड है।

सांव्यवहारिक दृष्टिके एकान्तकी विडम्बना— देखिये सांव्यवहारिक दृष्टिके एकान्तकी बलिहारी, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारो जहाँ अलग-अलग पदार्थ नही हैं, ये पुद्गल हैं, उनको तो अलग-अलग मान डाला और जो चेतन है, बिल्कुल विजातीय अलग पदार्थ है उसको माना नही है। तो यह साव्यवहारसे जो कुछ देखनेमे आ रहा है, उस ही का परिणाम है और इस एकान्तमे कितने अनर्थ हो रहे हैं ? अरे शान्ति, आनन्दका धाम यह आत्मा स्वय है। जब आत्माकी जाति अरहत और सिद्ध भगवानकी तरह है, यही तो सिद्ध होता है, यही तो अरहत भगवान होता है। तो अरहत सिद्धकी तरह चैतन्य जातिवाला यह मैं आत्मा और अपने आपकी दृष्टिमे न आये तो वहाँ अनर्थ होता ही है। यह संसारका जन्म मरण चल रहा है, अनेक सकट पाये जा रहे है, उनसे छुटकारा प्राप्त हो जाय, इससे बढ़कर जगतमे कोई वैभव नही है। तो इस आत्मतत्त्वकी अपनेको दृष्टि रहे, इसके लिए क्या उपाय रचना है ? भेदविज्ञान करके चेतनको शरीरसे पृथक्-पृथक् जानना है। और मद कषाय रख करके गुणविकासकी ओर बढना है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाये मद रहे तो उस स्थितिमे इसके धीरता, गम्भीरता, परखके अभिमुख ही बुद्धिको बनाना ये सब बाते सम्भव हो जाती हैं। तब करना यही तो है—आत्मतत्त्वकी दृष्टि बन जाय, इस

परमार्थस्वरूपका दर्शन हो जाय तो इस जीवका कल्याण है और यही मात्र न कर पाया, जगतमे कुछ भी बन गए तो उससे इस जीवको लाभ क्या मिला ? चार्वाक जो कुछ देख रहे है उसको ही सत्य समझ रहे है कि यही सर्वस्व है। और वे आत्माकी तो सुध ही नही लेते है। आत्माकी बातको कोई हर प्रकारसे ओझल करे तो अशक्य है, क्योकि सबमे जानकारी हो रही है। उनसे जब पूछा जाय कि यह जो जानकारी बन रही है यह क्या चीज है ? तो उनका कुछ न कुछ उत्तर तो होना ही चाहिये। यहाँ लौकायतिकोका उत्तर है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका सयोग होनेसे शरीर, इन्द्रिय आदिक संज्ञाये उत्पन्न होती है और उससे फिर इस चेतनकी उत्पत्ति होती है।

चैतन्यकी (आत्माकी) स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यता—ज्ञानतत्त्वकी सिद्धिके प्रसगमे लोगो की एक यह शिकायत है कि चैतन्य प्रत्यक्षसे तो नजर नही आता। कैसे मान लिया जाय ? जो हमे आखो दिखे, प्रत्यक्ष दिखे, वस्तु तो वह मानने योग्य है। सो यहा भी विचार करें अन्तर्दृष्टि करके तो अपना आत्मा अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है। अरे इतना तो सब कोई समझ रहा है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हू, मैं उलझनमे हू, मैं शान्त हू आदि, तो जो अपने आपमे 'मैं' का शब्द जोड रहा है, 'मैं' दुखी हू तो यह प्रत्यक्ष कर रहा कि नही ? वह है ज्ञानसे प्रत्यक्ष और यहाँ लौकायतिक करना चाहता है आँखसे प्रत्यक्ष तब ऐसी यहाँ शका आती है, पर ज्ञानद्वारा अपने आपके स्वरूपको प्रत्यक्ष करे कोई तो प्रत्यक्ष हो जाता है। मैं सुखी हू, मैं दुखी हू आदिक प्रतीति द्वारा यह आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष रहता है, अपने आपकी समझमे रहता है।

शान्तिके यथार्थ उद्यमके प्रसङ्गमें आत्मयाथातथ्यका सुगमतया निर्णय—अच्छा जरा एक बात और भी देखिये—प्रसगमे ख्याल आयी हुई, मान लो परलोक नही है, आत्मा आगे भी नही रहता, आत्मा पहिले भी नही था, जब तक यह शरीर है तब तक ही यह चेतन है। इन लौकिक जनोकी भाँति थोडी देरको ऐसा मान लो, लेकिन ऐसा मानकर भी यह बतलाओ कि तुम सुख चाहते हो या दुख, शान्ति चाहते हो या अशान्ति ? तो इस सम्बन्धमे एक ही उत्तर मिलेगा कि हम शान्ति चाहते है। जो आत्माको आगे पीछे न माने, जिसने वास्तविक सत्यको नही समझा वह भी यही चाहता है कि मेरेको शान्ति मिले। तो चलो, न सही परलोक, नही आये हम किसी परलोकसे। जितना हमारा जीवन है उतनी देरके लिए ही हम सही, लेकिन शान्तिका उपाय तो करना अभीष्ट है ना ? इसका निर्णय कर लो कि शान्ति किस दशामे प्राप्त हो सकती है ? जब जब यह उपयोगभूत परिणाम भी मान लो, कुछ भी सत् कह लो, आगे पीछे नही है, ऐसा भी कह लो, मगर है तो कुछ ज्ञान। तो यह ज्ञान जब बाह्यपदार्थोकी ओर उपयुक्त होता है तो वहाँ वश तो नही

है। बाह्य पदार्थ उस रूप ही परिणम जाय। सब पदार्थ है, अपना सत्त्व लिए हुए हैं तो इसकी जब इच्छा पूर्ण नही है तो यह आकुलित होता है। अब देख लो—बाह्य जगत मे कहा-कहा दृष्टि लगाकर, उपयोग बसाकर हम शान्त हो सकते है ? उसका उपाय यह मिलेगा कि इस बाह्यदृष्टिको समाप्त करके अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानको उपयुक्त करे, जिस विधिसे बने वह शान्तिका उपाय सो कीजिये। तो जो लोग परलोक नही मानते हैं वे भी यदि गम्भीरतासे विचार करें तो इस निर्णयपर आयेंगे कि हम किन्ही बाहरी पदार्थोका ज्ञान न करे और यो ही शान्त रहे। बाहरमे जो हो सो हो, ऐसी स्थिति हो तब शान्ति प्राप्त होगी और ऐसी स्थिति कोई प्रयोग करके देखे तो उसको आत्माका विश्वास हो जायगा, अपने अन्त स्वसम्वेदन प्रत्यक्षका उसे अनुभव बन जायगा।

आत्मतत्त्वकी युक्त्यनुभूतिगम्यता—यह आत्मा प्रत्यक्षसे भी ज्ञात होता है, पर होता है अपने आपके स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे। और विदित होगा युक्तिसे भी और अपने आपमे किए गए अनुभवसे भी कि यह मैं चेतन इन अन्य सब पदार्थोसे विलक्षण स्वरूप वाला हू। ये बाहरी पदार्थ रूप, रस, गध, स्पर्श वाले है। और मैं यह चैतन्य स्वभावमात्र तत्त्व इन सबसे विलक्षण हूँ। विलक्षणताके आधारपर लौकिक जन भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक पृथक्-पृथक् तत्त्वोकी व्यवस्था करते हैं। तब उनसे विलक्षण असाधारण स्वभावको निरखकर इस चैतन्यको भी स्वीकार कर लेना चाहिए। तो यह आत्मा जो लौकिक जनोको प्रत्यक्ष नही है, स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष गम्य है, वह अनुमानसे भी तो सिद्ध हो जाता है। न किसीको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष बन रहा हो ऐसा, सो नही है। बन तो रहा है, किसी भी रूपमे बने, सो प्रत्यक्षगम्य भी है यह चैतन्यतत्त्व।

आत्मतत्त्वकी अनुमानगम्यता—यह आत्मतत्त्व अनुमानगम्य भी है। क्या अनुमान बनता ? ये इन्द्रियाँ, कान, आँख आदिक जो अपना काम करती हैं सो किसी न किसी कर्ता के प्रयोगसे करती है, क्योकि ये सब करण (साधन) है, इतना तो सभी कोई जान रहे हैं कि इन्द्रियाँ ये खुद नही जानती हैं, क्योकि जब मर गये याने वह चेतन शान्त हो गया, लौकायतिक की दृष्टिमे चेतन आगे नही रहता। चेतन शान्त हो गया फिर भी ये इन्द्रिया बनी हुई है, पर ये कहा कुछ जानती हैं ? तो प्रमाणित होता है कि ये इन्द्रिया करण हैं, जानने वाली नही, इन्द्रिया साधन है। तो जो साधन होते है उन साधनोके द्वारा कोई काम किया जाता है तो यह समझना चाहिए कि प्रयोग करनेवाला कोई पृथक् है। जैसे कोई लकडहारा कुल्हाडीसे काठके खण्ड-खण्ड करता है तो कुल्हाड़ी साधन है, उसका प्रयोग करनेवाली स्वय कुल्हाडी नही है, उसका प्रयोक्ता लकडहारा है। इसी तरह जब इन्द्रियके द्वारा यह सब जाना जा रहा है तो कोई कर्ता इन इन्द्रियोसे अलग है और वह

जो भी अलग है उसीका नाम चेतन है। तो लो अनुमानसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है। यो यह मैं आत्मा इस शरीरसे पृथक् कोई पदार्थ हू देखिये—यह प्रसंग बहुत महत्त्वपूर्ण है, भले ही चर्चा इसकी ज्यादह आती नही है क्योकि जो यहा भाषाप्रज्ञ है उनके कुछ विद्याभ्याससे ऐसा ज्ञान वैठा हुआ है कि चेतन तो है ही, इसमे क्या दिमाग लगाना कि यह शरीरका परिणमन है, लेकिन भीतरी विश्वासको देखा जाय तो इतना सब कुछ ज्ञान करने वाले भी प्राय अनेक पुरुष भीतरमे यह तत्त्व लिए बैठे है कि जो शरीर है सो मै हू। तो यहा जानना होगा कि यह मै चेतन हू, सत् हूँ, हू ना, और परिणमन करता हू तो जब मैं सत् हू तो यह मैं सत् किसी कारणके उत्पन्न नही होता। मैं सत् अनादि सत् हूँ। तो इस चेतनको इन भूतोने उत्पन्न नही किया।

भूतचतुष्टय द्वारा चैतन्यकी अभिव्यक्तिकी असिद्धता—अब कदाचित् शंकाकार यह कहे कि यो चेतनकी उत्पत्ति न सही, लेकिन चेतनकी अभिव्यक्ति तो हुई और यह दिखता भी है। लोग कहते है कि जीवने किया, मगर जीवने किया—यह बात हमे जाननेमे कब आयी? जब कि शरीर हो, इन्द्रियाँ बनी हो? तो उस जीवकी, चेतनकी, ज्ञानकी अभिव्यक्ति तो इन पृथ्वी आदिकसे होती है। तो अभिव्यक्तिकी बात देखो—अभिव्यक्ति चेतन की हुई, तो वे यह बतलायें कि सत्रूप चेतनकी अभिव्यक्ति हुई या असत्रूपकी याने जिस चेतनकी अभिव्यक्ति हुई वह पहिलेके सत् है या अत्यन्ताभाव है, असत् है ऐसे चेतन की अभिव्यक्ति हुई। यदि कहे कि सत्की अभिव्यक्ति हुई, तो चलो सब मामला निपट गया। हम भी मानते हैं कि तत्त्व है, अनादिसे है, सद्भूत है, सूक्ष्म है, अमूर्त है। यह जीव लौकिक लोगोको तब मालूम पडता रहता है जब वे शरीरको ग्रहण किये होते है। शरीरधारियोमे जीविका लोग अनुमान करते है, पर वह जीव शरीरसे निराला है, स्वयं सत् है। और यदि कहो कि असत्मे चैतन्यकी अभिव्यक्ति हुई है तो यह बात नितान्त असम्भव है। फिर तो जो सर्वथा असत् ही उसकी अभिव्यक्ति होने लगेगी। गधेके सीग, खरगोशके सीग, आकाशके फूल आदिकी भी अभिव्यक्ति वनने लगेगी। असत् सर्वथा हो, उसकी अभिव्यक्ति किसी प्रकार नही हो सकती। कदाचित् कहो कि वह न सर्वथा सत् है, न असत् है, किन्तु असत् सत्रूप है तो भला, बहुत अच्छा कहा। यह जीव चेतन सत् तो है मगर पर्याय रूपमे असत् है। तो जब जो पर्याय इसकी होती है वह पर्याय उस समय हुई, उस ढगमे पहिले न थी तो पर्यायरूपसे असत् है और द्रव्यरूपसे सत् है, ऐसे जीवकी वात तुम कर रहे हो तो इसमे किसी भी प्रकारसे विवाद नही वनेगा।

स्वतन्त्र सद्भूत चेतन पदार्थका निर्णयन—यहा यह ज्ञातव्य है कि मैं जीव (आत्मा) इस शरीरसे निराला हूं और स्वय सत् हू। किसीने इसकी अभिव्यक्ति नही वनायी है

और यह मैं अनादिसे हू, अनन्तकाल तक रहूगा, ऐसा मुझ आत्माको शान्तिका कोई सही उपाय खोज लेना चाहिए अन्यथा इस जगतमे जन्म मरण भोगनेका सकट लगा रहेगा। न इस भवमे ही शान्त सुखी हो सकेंगे, न आगे भी शान्त सुखी हो सकेंगे। अत हमारा कर्तव्य है कि हम वह उपाय बनायें, जिससे कि हम अपने आपमें शान्तिलाभ लें। उसका प्रथम उपाय यह है कि यह श्रद्धा तो करे कि मैं आत्मा कोई सद्भूत पदार्थ हू। अब इतना समझ लेना कुछ आसान है कि मैं हू, सत्रूप हू, अथवा मैं हू, जाननहार हू। अब इसके सम्बन्ध मे यह जानना शेष रह गया कि यह मैं पहिले भी था और आगे भी रहूगा। देखिये— उसकी सिद्धि अनुमानसे भी होगी। जैसे हम यहा देख रहे हैं कि इस क्षणका यह चैतन्य पूर्व चैतन्यके कारणसे हुआ और इस क्षणका यह चैतन्य अगले चैतन्यको करता है। अथवा जो प्रथम ज्ञान है यह ज्ञान पूर्वज्ञानके कारणसे हुआ है और उत्तर ज्ञानका कारण बनेगा। हमारे इस वर्तमान चैतन्यमे यह बात देखी जा रही है। चेतनके विवर्त है, पर्याय है, तो चेतनकी पर्याय होनेसे हमारी वर्तमान जानकारी ज्ञानपरिणमन पहिले ज्ञानपरिणमनसे हुई। और अगले ज्ञानपरिणमनको करेगा। तो अब चलते जाइये। आजके चेतनकी बात है तो कलके चेतनकी भी यह बात थी कि पहिले चेतनसे हो और अगले ज्ञानको करे। तो अब और चलते जाइये--इस जीवनका जो सर्वप्रथम चैतन्य हुआ वह भी पूर्व चैतन्यके कारणसे ही हुआ है। कारण कि हम यहाँ भी ऐसा कार्यकारणभाव समझ रहे हैं तो लो इससे सिद्ध हुआ कि इस जन्मके आत्मा चैतन्यसे भी पहिले चेतन था, जीव था, कही था, किसी रूपमे था। वह चेतन न हो तो यह जन्मसमयका पहिला चेतन भी न हो सकता था। और इसी तरह मरणके समयमे जो अन्तिम चेतन है वह भी चैतन्यकार्यवाला है, आगे वह चेतन चलेगा तब परिणमन आगे और रहेगा। यो पूर्वभव भी सिद्ध हो गया और अगिला भव भी सिद्ध हो गया। ऐसा अनादि अनन्त अपने ज्ञानस्वरूप मात्र यह मैं आत्मा इस शरीरसे निराला हू।

कायमल मिट्टी वायु आदिके मेलकी कदाचित् देहरचनामें निमित्तता होनेपर भी चैतन्योत्पत्तिमें कारणताका अभाव—लौकिक जनोको आत्मास्तित्वके सम्बन्धमे यह शका इस कारण भी हो जाती है कि वे यह सब देख रहे है कि कुछ चीजोको मिलाया तो वहाँ जीव उत्पन्न हो जाते है। जैसे—गदगी हो—लो मच्छर उत्पन्न हो जाते है। गोशालामे गो मलमूत्र व मिट्टी गधेका मलमूत्र आदिक कुछ चीजोका सम्बन्ध हो जाय तो वहाँ बिच्छू उत्पन्न हो जाते है। तो कोई यो कह बैठे कि देखो—तुम तो कहते हो कि जीव निराला है, पर देखो— हम तो अभी बिच्छू पैदा करके आपको दिखाये देते है, यो लोगोको शका हो जाती है, लेकिन शकाकी बात यहा सगत नही है। गोबर और बहुतसी चीजोका सम्बन्ध होनेसे

बिच्छू बन गए, लेकिन गोबर आदिकके सम्बन्धसे बिच्छूका शरीर बना, न कि चैतन्यपदार्थ। उस शरीरकी उत्पत्ति किस ही भी किसी प्रकार होती है, वे सम्मूर्च्छन जन्म वाले है, जिनकी उत्पत्तिके, जिस शरीरकी निष्पत्तिके जो साधन है उन साधनोसे उनकी निष्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य है वे माता पिताके द्वारा गर्भसे उत्पन्न होते है, चलो उनका शरीर तो यो बनता है पर देव और नारकी जीव माता पिताके ससर्गसे नही उत्पन्न होते। वे तो यो ही उत्पन्न हो जाया करते है। अभी कोई शैया खाली पडी थी, थोडा ही देरमे देखा कि एक देव-बालक उस पर खेल रहा है। अन्तर्मुहूर्तमे ही वह देव बालक युवक बन जाता है। तो उनकी उत्पत्तिके कुछ ऐसे ही साधन है। नारकियोकी उत्पत्तिके ऐसे साधन है। जैसे मानो छतके नीचे भागसे कोई चीज टपक पडे, उस तरहसे पृथ्वी तलके नीचे भागसे जो उनके बिलका ऊपरी हिस्सा है वहासे वे टपक पडते है। वे जन्मस्थान बडी खोटी सकल के है। वहासे औंधे गिरते है। वहासे गिरकर गेंदकी तरह उछलने लगते है। यो उनका जन्म इसी तरहसे होता है। यहा कीडा मकोडोका जन्म इसी तरहसे होता है कि यहां वहा की कुछ चीजे मिली, मल मूत्रादिक मिले कि शरीरोकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि भूत चतुष्टयके योगमे जीवकी उत्पत्ति होने लगे तो भोजन मिलना असंभव हो जायेगा। हण्डीमे जब दाल कढी बनाई जायगी तो वहा हण्डी तो पृथ्वी है, पानी, आग भी वहां है, भाप भी तेज वायु भी वहां है फिर तो वहासे सिंह, सांप, आदमियोकी फौज पैदा हो जायगी। सो भोजन मिलना तो दूर रहा, रसोइयाकी और आफत आ जायगी। तो देखिये—उन प्रसगोमे भी शरीर बना है, चेतन नही बना है। चेतन तो इस शरीरसे निराला ज्ञानमात्र है। जैसे किसी पुरुषको अपने इस सत्य ज्ञानमात्र तत्त्वका परिज्ञान बन जाय, आग्रह बन जाय कि मैं यही हूँ यही शरण है, यही मेरा परम देवता है, इसकी ही छायामे मैं रहूगा, ऐसी जिसकी धुन बन जाय, संसारसे पार वही जीव तो होता है, और जो अपने इस निज आधारसे उपयोग दृष्टिको हटा कर बाहरमे दृष्टि जमाते हैं उनको शान्ति सुख तो क्या मिले, उल्टा भवभ्रमण करते रहनेसे ही अवकाश नही मिलता। तो यहा यह बताया गया है कि जो लोग मानते है कि शरीर ही आत्मा है उनका यह अभिप्राय साव्यवहारिक दृष्टि का परिणाम है। तो इन्द्रियो द्वारा जो कुछ प्रत्यक्ष दीखा वह ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, ऐसा जो आग्रह किए हुए है उस आग्रहका यह परिणाम है जिसे सब समझने है।

ज्ञानादिनवगुणोच्छेदरूप मुक्तिके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा— ससारमे दुःख प्रकट है और प्रत्येक जीव अपने आपको सभी स्थितियोमे दुःखी अनुभव करता है। धनिक हो वह भी अपनेको दुःखी ही समझ रहा है, अधिकारी हो वह भी

समझता है, राजा, महाराजा, चक्री हो वह भी समझता है अपनेको दु खी । तो ससारकी कोई परिस्थिति ऐसी नही है कि जहा शुद्ध आनन्दवाली स्थिति हो, तव ऐसे दु खकी निवृत्तिके लिए, इस दु खसे मुक्ति पानेके लिए सोचने ही चले कुछ दार्शनिक तो यह ध्यान मे आया कि मुक्तिमे ही पूर्ण आनन्द है । जब ससारमे इतने दु ख नजर आ रहे हैं तो इन से छुटकारा हो इसमे ही आनन्द है, तो मोक्षको पसद किया प्राय सभी दार्शनिकोने । अव मोक्षको पसद तो कर लिया, पर जिसे पसद किया उसकी मुद्रा, उसका स्वरूप ध्यानमे तो रहना चाहिए । जब तक स्वरूप और मुद्रा ध्यानमे न रहे तव तक रुचिका, इच्छाका सवाल ही क्या उठ सकेगा ? तो कुछ दार्शनिकोके चित्तमे यह आया, यह समझ वैठी कि मोक्ष उसका नाम है जहा पर हमारी जैसी ही ये चीजे न रहे । वस एक सीधे रूपसे ससार और मोक्षमे यह अन्तर डाला और स्वरूप वनाया । ससारका स्वरूप तो यह है जो हम लोगोमे वाते पायी जा रही है । क्या पायी जा रही है ? यह बुद्धि है, ज्ञान है, विचार है, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, सुख, दु ख, सस्कार है, यहा ये ही वातें तो पायी जाती है । वस ये वातें न रहे तो भला तभी है, और उसीका नाम मोक्ष है । ऐसी उस मोक्षके स्वरूपकी व्यवस्था की तो मुक्तिका स्वरूप यह वना कि जहा बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार ये गुण न रहे उसीका नाम मोक्ष है । तो इस सम्बन्धमे कुछ चर्चा की जा रही है कि मुक्तिका जो यह स्वरूप रचा गया है तो इसका अर्थ क्या है ? और यह किस दृष्टिका परिणाम है ? कौनसी वह दृष्टि-मूलमे प्राप्त हुई इन दार्शनिको के कि जिसका आधार लेकर फिर पीछे कुछ भी वढकर यह स्वरूप रचा गया हो ।

नवगुणोच्छेदरूप मुक्तिके मन्तव्यकी संभावित आधार दृष्टि निजबुद्धिदृष्टि—अभिप्राय है निज बुद्धि दृष्टिका परिणाम । अर्थात् अपने आपकी बुद्धिमे जो आया, उससे ही तुलना की और उससे ही मोक्षकी व्यवस्था बनाई गई । देखिये मोक्षका जो उक्त स्वरूप बताया गया है इसमे कुछ बातें तो सही है । जैसे इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दु ख, सस्कार, इन ८ गुणोका तो अभाव है ही । एक ज्ञान गुणकी बात मीमास्य है जिसपर कि विवाद है। उन दार्शनिकोका कहना है कि मुक्त अवस्थामे ज्ञान गुण भी नही रहता । जहाँ ज्ञान-बिल्कुल समाप्त हो जाय, खाली आत्मा रह जाय उसीके मायने मुक्ति है । तो इसमे भी कोई विसम्वाद न था यदि इन्द्रियज व मानसिक ज्ञानका ही प्रतिषेध होता तो । जैसे हम आप लोगो की तरहका ज्ञान न रहे, इसके मायने मुक्ति है । इसमे क्या विवाद ? पर हमारी बुद्धिमे आनेवाले ज्ञानसे बढकर विलक्षण सहज ज्ञानस्वरूप है यह जिसके ध्यानमे न रहे और यही वर्तमान कुछ भीतरी सत्य स्वरूप है, यह जिसके ध्यानमे रहे, अतएव अपनी बुद्धिसे इस

संसारको नापा कि ये इसी कारण दुखी है, तो मुक्तिका स्वरूप भी यह बना कि जहाँ ये चीजें न रहे।

मुक्तिमें इच्छा व द्वेषकी निवृत्तिके कथनका समर्थन—देखिये--प्रकृत शेष ८ गुणोका अभाव तो मुक्तिमे पाया ही जा रहा। वहाँ इच्छा नही, इच्छा विकार परिणाम है, कलुषित भाव है, और मनुष्योमे, प्राणियोमे, ये एकेन्द्रिय तकमे ये सब इच्छायें पायी जा रही हैं। मनके बिना भी जो इच्छा है उसका नाम है संज्ञा। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं और जो मनसे इच्छा होती है उसे इच्छा स्पष्ट कहा ही है। तो प्रत्येक जीवमे चार संज्ञायें पायी जाती है--आहारकी इच्छा, भयका संस्कार, मैथुनका संस्कार और परिग्रहभाव। ये सभी जीवोमे पाये जा रहे है--इनका सर्वथा अभाव होना मोक्ष है, इसमे कोई अनुचित बात नही कही गई। इसमे तो केवल एक ज्ञानगुणपर जो हमला किया है वह एक विवादकी बात है। द्वेषके अभावका नाम मोक्ष है। यहाँ कौन ऐसा है जो कह देगा कि प्रभुके द्वेष है? देखिये--जब स्वरूपकी व्यवस्था बनानेको कहेगे उन्ही लोगोसे जो यह कहते है कि ईश्वर करनेवाला है। ईश्वर दूसरोको दुख भी देता है। किसीने पाप किया तो उसे दुख दिया, यह ईश्वरका न्याय है, और जो धर्मात्मा जन होते है उनपर वह राग करता है आदि, जो इस तरहकी बाते कहते हैं उन्हीसे जब स्वरूप पूछा जाय कि बताओ भगवानका स्वरूप कैसा है? तो उन्हे कहना पडेगा कि भगवानके न राग है, न द्वेष। वह तो सब जीवो पर समताभाव रखता है। इस द्वेषका नाम ही इतना बुरा है कि जिसको मोक्षमे माननेकी बात कही जाय तो वह कटुवचन ही होगा। तो द्वेषके अभावका नाम मोक्ष है। अब विचारणीय रह गयी अवमत ईश्वर चरित्रघटनाये जो रागद्वेषको जाहिर करती है, तो वहा भी स्वरूप कहेगे तो यही कहेगे कि ईश्वर वीतराग है, रागद्वेषरहित है, पर कथानक गढ़ेगे इस प्रकारके कि जैसे—देखो--ईश्वरने जाकर संहार किया, युद्धमे हारा, उन्हे जिताया, मगर जब स्वरूपकी अपेक्षा बात होगी तो वहा भी इसी तरह कहना होगा, जैसा पहिले कह दिया गया। सो देखो जैसे साप बाहरमे टेढा मेढा चलता है लेकिन जब बामीमे जायगा तो सीधा होकर ही जाना पडेगा। स्वरूपकी बात कहेगे तब कहना ही होगा कि वहा राग नही द्वेष नही, वैर नही, विरोध नही। जब कोई पुन प्रश्न किया जावे कि वहा तो घटनामे यो है कि उसने दुर्योधनको हराया, अर्जुनको युद्धमे जिताया। तो उन्हे उत्तर सूझता है यह कि उसने न्यायके लिए या धर्मकी स्थापनाके लिए ऐसा किया, परन्तु भैया! धर्म और अधर्म तो जीवोपर स्वय ही छोड देना चाहिए। वहा वस्तुस्वरूपको देखिये—कोई किसी अन्यका कुछ करता है क्या? कुछ नही, कोई किसी दूसरेको धर्म करा दे तो यह भी विडम्बनाकी बात बनेगी। धर्म नाम है एक शान्त शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि, अवलोकन, उसीमे

रमण, उसीके मायने धर्म है, इसको कौन दूसरा करा देगा ? तो प्रयोजन यह कि यह मानना होगा कि मुक्तिमे न इच्छा है, न द्वेष है, अर्थात् भगवानके राग द्वेष दोनो ही नही हुआ करते है।

मुक्तिमें प्रयत्नकी निवृत्तिके मन्तव्यका समर्थन--प्रयत्न भी मुक्तिमे नही रहता। जो शुद्ध द्रव्य हो गया, मुक्त हो गया, केवल आत्मा रह गया, कहते है ना कि कैवल्यकी प्राप्ति हुई है, तो उस कैवल्यका अर्थ क्या है ? एकत्व रह गया, केवल रह गया, प्योर रह गया, वहीका वही रह गया, इसको कहते हैं केवल, लेकिन केवल रह जानेपर तो वहाँ अनन्त गुण विकास होता है। तो अनन्त गुणविकासको देख करके कह दिया कि यह है कैवल्य अवस्था, पर शब्दोसे यही बात निकलती है कि यह आत्मा खाली आत्मा रह जाय उसीको कहते है केवलदशा। जहाँ ऐसी केवलता प्रकट हुई है, केवल ज्ञान अमूर्त प्रतिभास मात्र, यह शुद्ध चेतन रह गया, वहाँ प्रयत्न क्या करना है ? उसमे तो स्वभावत अर्थ पर्याय होती रहती है। यह शुद्ध पदार्थका स्वभाव ही है ऐसा इतना षड्गुण हानिवृद्धि रूप परिणमन होता हुआ भी वहा चलायमानपना जरा भी नही है। कोई सोचे कि इतनी अनन्तगुनी वृद्धि हानि होती है तो वहा कुछ बडा छोटा तो होगा, कुछ घटाव बढाव तो होता होगा, पर शुद्ध द्रव्यमे षड्गुण हानिवृद्धि होनेपर भी ऐसा घटाव बढाव कुछ नही हो रहा है, जिसका असर व्यक्त पर्यायपर हो। वह तो अचल है, वहां प्रयत्नकी क्या बात कही जाय ?

मुक्तिमें धर्म अधर्म सुख दुःख व संस्कारकी निवृत्तिके कथनकी मीमांसा--अब धर्म, अधर्मकी निवृत्तिपर विचार करिये। यहा धर्म अधर्मसे मतलब पुण्य पापसे है। मुक्तिमे न पुण्य रहता, न पाप। और जिसने शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शन किया है उसको यह पहिचान है कि पुण्य पाप दोनो समान है। पुण्यसे भी हम क्या पायेंगे, पापसे भी हम क्या पायेंगे ? जिसको अपने उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि प्राप्त हुई है उसके लिए जैसे पाप दु खरूप, भाररूप, कलुषता रूप मालूम पडता है इसी तरह उसको पुण्य कर्म भी दु खरूप, कलुषतारूप मालूम पडता है वह भी भार दिखता है, क्योकि उसकी दृष्टि तो पुण्य, पापसे रहित एक शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्वके दर्शनके लिए जग चुकी है। और फिर लोकदृष्टिसे देखो तो पापमे क्या होता है ? ये कीडा मकोड़ा बन गए, मनुष्योमे जरा विचार करो--निर्धन हो गया कोई अथवा परिवाररहित है कोई, या परिवार प्रतिकूल है कोई उसकी गोष्ठीके लोग शत्रु बन रहे है अथवा उसके स्वय गोष्ठीके, परिवारके जन कपटी मिल गए है आदिक बातें है तो कहा जायगा कि पापका उदय है और इससे ही यह जीव दु खी होता है। ऐसी तो स्थितिया करीब समझ लीजिए सभी पापोकी हैं और पुण्यकी स्थितिमे क्या मिलता है ? बडे महल मिलते है, आराम मिल रहा है, नौकर भी सेवायें करते है, और-और भी बडी सेवायें

चल रही है, प्रजाजन भी पूछताछ रखते है, बडी-बडी सभाओमे बडा सम्मान भी प्राप्त होता है, लोग आदरसे ऊँचेपर बिठाते है आदिक बाते पुण्यके उदयमे देखी जाती है। लेकिन जरा ऐसे पुण्यके उदयमे रहनेवाले व्यक्तियोके दु खपर कुछ विचार तो करो। अरे वे तो अन्दर ही अन्दर बहुत दु खी रहा करते है, उन्हे कहाँ विश्राम मिल पाता है ? अनेक प्रकार के झझट उनके सामने खडे ही रहते है। ये पुण्यके उदय तो ज्ञानी पुरुषको पापकी तरह प्रतीत होते है। पुण्य और पापसे रहित जो आत्माकी शुद्ध ज्ञान अवस्था है, जहाँ सुख दु खादिकका पूर्ण अभाव है उसका नाम मोक्ष है यह बात प्रसिद्ध है, लेकिन चर्चाकारके सुख से मतलब इन वैषयिक सुखोसे नही है, सुख मात्रसे मतलब है। उस चर्चाकारने जाना ही नही होगा कि इन वैषयिक सुखोसे अतिरिक्त कोई वास्तविक सुख होता है। अगर ये वैषयिक सुख ही लिए जाये तो साफ बात यह है कि ऐसे सुख दु खका अभाव होना, इसका नाम मोक्ष है। इसी प्रकार संस्कार जो विकल्पके सस्कार विषयभोग और उपभोगके संस्कार लगे हुए हैं उन सस्कारोके अभावका नाम मोक्ष है यह भी मतव्य संगत हो जाता है।

मुक्तिमें ज्ञान और आनन्दके अभावकी मान्यताका मिथ्यापन--उक्त मोक्षस्वरूपकी मीमाभामे यह ज्ञातव्य है कि जो इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कारकी निवृत्ति मुक्ति मे कही है वह तो ठीक है, किन्तु ज्ञानके अभावका नाम मोक्ष है, यह बात अटपट कही गई है। ज्ञान तो आत्माका स्वरूप ही है।

अच्छा बतलाओ कि आत्माका स्वरूप क्या है ? ज्ञान नहीं है तो उसको कहेगे चित्। चित् तो शब्दोसे कहा, मगर चित्मे बात क्या पडी है ? जहा कुछ भी प्रतिभास न हो, जहा कुछ भी प्रकाश नही, जानना नही, वहा चित्का मतलब क्या रहा ? शब्द कुछ भी रख लीजिए– जैसे कोई किसी गरीब आदमीका नाम रख दे लक्ष्मीचन्द, लक्ष्मीपति अथवा कुबेरराय, तो कही नाम रख देने मात्रसे वैसा हो तो नही जाता। और कोई व्यक्ति धनिक जैसा है उसका नाम भी यदि वैसा न रखा जाय तो भी वह लौकिक धनसे भरापूरा है। ऐसे ही आत्माका स्वरूप चेतना, प्रतिभासन, ज्ञान, दर्शन आदिक कुछ भी न माना जाय तो फिर वह आत्मा रहा ही क्या ? तो ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है और इसी प्रकार आनन्द भी शुद्धरूपसे बर्तनेवाला जो भीतरी एक परम आल्हाद है वह भी आत्माका स्वरूप है। उनके अभावका नाम मोक्ष कैसे हो सकता है ? तो यद्यपि ज्ञान और आनन्दके अभाव का नाम मोक्ष नही कहा जा सकता, फिर भी अपनी ही बुद्धिसे ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप तकनेवाला दार्शनिक अन्य और ऐबोके अभाव बतानेके साथ-साथ ज्ञान और आनन्दके अभावको भी बता देता है कि जहा ये ९ गुण नष्ट हो जायें उसको मोक्ष कहते है, सो ऐसे इस स्वरूपको रचनेवाले दार्शनिकोने क्या तका अपने को ? मेरेमे ज्ञान जो वर्त रहा जो

और अन्य लोगोसे भी विशिष्ट ज्ञान है। बहुत बारीक हम धर्म, मत आदिक की चर्चा भी करते है तो ऐसे अपने आपकी बुद्धिमे परखे गए ज्ञानको तका, जो क्षायोपशमिक और अपूर्ण है। किसका ज्ञान यहा ऐसा नजर आता जो कि सर्व विषयोमे कुशल हो, पूर्ण हो? लेकिन जहा मिथ्याभाव है, जहाँ कषायमे तीव्रता है, जहा मिथ्यात्व लगा है वहा कोई अपने आपको सोचता ही नही कि मैं कुछ नही जान रहा हूँ, और जो जान रहा हूँ वह विकार जैसी स्थिति है, अपूर्ण है। मिथ्यात्वमे ऐसा ही प्रतीत होता है, लेकिन कितना भी विशाल ज्ञान पाया हो, केवलज्ञानसे पहिले के सब ज्ञानको अज्ञान ही बताया गया है। औदयिक-मिथ्याज्ञान न सही, केवलज्ञानी होनेसे पहिले सम्यग्दृष्टिका भी ज्ञान अज्ञान है, पूर्ण नही है, केवलज्ञान नही है। मिथ्याज्ञानकी बात नही कह रहे। खैर, मिथ्यात्वके उदयमे जो पुरुष चल रहे है उनके ज्ञानको क्या कहा जाय? जैसे क्षायोपशमिक ज्ञान (मलसहित ज्ञान) अपना है वैसा ही तो दूसरी जगह देखना चाहा, सो दिखा मुक्तिमे, इसका भी अभाव है। यो तुलना की और जैसे आकुलतापूर्ण विनाशीक पराधीन कल्पनामात्र जो सुख है उसीको उन्होने सुख का स्वरूप करार किया। तब इसके अभावका नाम मोक्ष रखा गया। यो अपनी बुद्धिसे जो अपने आपमे तका है और साथ ही साथ एक मोक्ष सिद्धान्तकी रचना बनाने चले तो यह उन्हे दीखा कि इन ज्ञानादिक ६ गुणोका अभाव होना सो ही मोक्ष है।

शून्यवादके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा—अब एक नवीन चर्चा और आ रही है। बडे दार्शनिक छाँट करने की धुन रखनेवाले लोग जब जिसे कहते हैं कि परमाणुकी भी खाल निकालना अर्थात् बडी बारीक चर्चा करे ऐसी चर्चाकी धुनमे रहने वाले दार्शनिकोने अन्तमे यह देखा कि सब गपोडा है, तत्त्व तो शून्य है। जैसे हम भीतमे देख रहे है तो कह रहे कि हा है यह भीत, यह इतनी लम्बी चौडी है, पर इसमे भी तत्त्व निर्णय करनेवाले अन्य लोग कहते है कि उसमे एक भीत कहा है, इसमे तो करीब ६ हजार ईंटें है। तब कोई बोला कि प्रत्येक इंट भिन्न-भिन्न ही है। और मिट्टीके असख्याते कणोसे मिल मिलकर यह ईंट तैयार हुई है, तो कोई अन्य व्यक्ति फिर बोला कि वह कण भी एक चीज नही है, वह एक कण भी अनन्त परमाणुवोका पुञ्ज है तो कोई नया व्यक्ति फिर बोल उठा कि अरे वह परमाणु भी एक तत्त्वकी चीज कहा है? उसमे भी रूप, रस, गध, स्पर्श आदि अनेक चीजें पडी है, उसे तुम एक चीज कैसे कहते हो? उसके अन्दर और देखो तो कोई कहता कि रूप भी एक उसमे कहाँ है, उसमे उसकी अनेक डिग्रियां पडी है। कहा अविभाग प्रतिच्छेद है? वहा तुम दृष्टि कहा देते हो? लो परमाणुकी भी खाल नोचने वाले दार्शनिक अथवा सत्की खाल नोचनेवाला, समयकी खाल नोचनेवाला कहता है कि एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर कोई परमाणु मदगतिसे जा रहा है वह एक समयमे पहुचता है।

तो मदगतिसे जा रहा परमाणु तो उस गतिके बीच एक ही प्रदेश रहा क्या ? प्रदेश रहा ही नही बताते है, उससे लगे हुए दूसरे प्रदेशपर पहुंच गया। अरे जब अणु मदगतिसे चल रहा है तब वहा कितने ही प्रदेश होगे ? जब तेज गतिसे चले तो कितना ही मद चले तो और ज्यादह हो गया, मंदगतिसे चलेगा तो प्रदेश ज्यादह हो जायेगे। लो प्रदेशकी भी खाल नोच ली। और समयकी बात देखो--एक समयमे परमाणु १४ राजू गमन कर जाता है। अरे १४ राजू गमन करे तो एक-एक समयमे करे। उचक कर भी जायगा तो बीचकी जगह छोडकर तो न जायगा। इतने प्रदेशोको लाघा तो वह एक समय कैसे कहलायगा ? जब तर्क वितर्कपर ही उतावली हो जाती है तो उन्हे ऐसा दीखता कि कुछ नही है, शून्य ही तत्त्व है, अथवा मानो किसी निर्जन स्थानमे बहुतसे साधु सन्यासी रहते है, स्याद्वादकी नीतिसे अनेकान्तका वर्णन चलता है। वर्णन चलनेकी पद्धतिया दो होती हैं--बडेसे छोटेकी ओर आना और छोटेसे बडेकी ओर आना। संक्षेपसे विस्तारकी ओर आना, विस्तारसे सक्षेपकी ओर आना, यह ही तो पद्धति होगी वर्णन करनेमे। अब वर्णन हो रहा है स्याद्वादविधिसे और साथ ही साथ वहा भेददृष्टिसे भी वर्णन चल रहा है तो जहा समझा गया पर्यायसे गुण सूक्ष्म है, गुणोमे भी अनन्त गुण है और अविभाग प्रतिच्छेद उनमे अनेक है, अस्ति भी है, नास्ति भी है, क्रोधरूपमे आया हुआ परिणमन भी है। एक दृष्टिसे देखते हैं तो क्रोधमे मान आदिका स्वरूप नही है, बहुत-बहुत वर्णन होनेके बाद किसी दार्शनिकको उन सभी विषयोमे कुछ कुछ प्रवेश करनेसे यह ज्ञात हुआ कि न तो यह ही है यहा और न यह ही है यहा। न कषाय है, न कषायरहित है, न शान्ति है, न अशान्ति है, न व्यक्त है, न अव्यक्त है। शून्य ही है वह तत्त्व। तो किसी भी पद्धतिसे जिसको उस शून्य तत्त्वकी बुद्धि हुई है उसके सम्बन्धमे यहा जिज्ञासा की जा रही है कि सर्व कुछ शून्य है। यह कौनसी दृष्टिका परिणाम है ? तो इसके उत्तर दो हो सकते है--एक तो अवक्तव्यदृष्टिका परिणाम है और दूसरी पद्धतिसे अनधिकृत पैनी दृष्टि बनाने का परिणाम है।

शून्यवादकी मीमांसा--मान लो शून्य है, लेकिन शून्य माननेवाले इस शून्य तत्त्वपर व्यवस्थित रह सकेंगे क्या ? अच्छा, यह ही बतायें शून्य माननेवाले लोग कि तत्त्व शून्य है—यह बात प्रमाण सिद्ध है या नही है ? यही बात सोचे आप कि अगर प्रमाण सिद्ध है तो शून्य ही है यह क्यो कहा ? प्रमाण भी है। जिस प्रमाणके बलसे शून्यपना सिद्ध किया गया है वह प्रमाण क्या शून्य है ? वह प्रमाण क्या नि स्वरूप है ? अगर नि स्वरूप है, प्रमाणशून्य है, कुछ भी तत्त्व नही है तो झूठसे सत्य की गई बात सच कैसे हो सकती है ? और फिर जिसे तुम समझाते जा रहे हो कि यह है शून्य तत्त्व। तो वह पुरुष, शिष्य भी

कुछ है कि नही याने शिष्य भी शून्य है अथवा शून्य भी सत् है या असत् ? अगर वह कुछ नही है तो इसके मायने तुम समझानेवाले पागल हो रहे हो, याने चीज कुछ नही है, समझनेवाला भी कोई नही है और तुम ऐसा परिश्रम किये जा रहे हो, क्योकि कोई समझने वाला है नही। तुम मानते हो कि सब शून्य है। अगर समझनेवाला है तो चलो अभी कोई हुआ तो सही। अब यह बताओ कि तुम कहनेवाले भी कुछ हो कि नही ? शून्यवाद बताने वाले तुम भी वास्तवमे पदार्थ हो कि नही ? अगर नही हो तुम पदार्थ तो फिर तुम ही जब कुछ चीज नही हो, तुम ही सच नही हो तो फिर तुम्हारा शून्यवाद कैसे मान लिया जाय ? तो शून्यवाद तत्त्वकी व्यवस्था शून्यत्वके एकान्तमे की नही जा सकती। शून्यवाद यह तो अवक्तव्यदृष्टिका परिणाम है। अथवा कुतर्कका परिणामहै। जब वस्तुमे अनेक प्रकारके धर्म विदित होते है और वहाँ इन्हे एक साथ देखना चाहते हैं, कहना चाहते है, एक है, वह कहा नही जाता, तब फिर उसकी दृष्टि यह बनती है कि अजी वह तो कुछ नहीं है, शून्य है और स्याद्वादसे अपेक्षायें लेकर भी सही सबका निषेध चल रहा है। एक तरफ कहते कि आत्मा है, दूसरी तरफ कहते कि नही है परकी अपेक्षा नही है। अच्छा नही है। अरे नही है, ऐसा भी नही है ? वह स्वरूपसे है। लो किसी बातपर जब व्यवस्थित न हो सके तो वह तत्त्व शून्य ही है तो वहाँ कुछ विकल्पका आधार नही बन पाता, ऐसे इस कुतर्कवादमे अथवा अवक्तव्य दृष्टि रखनेमे शून्य ही तत्त्व है, वह ही सत्य है, ऐसा अभिप्राय बन जाता है, तो शून्यवाद भी एक अपने आपमे उठे हुई कुतर्कोंका परिणाम है। वस्तुत जिनकी अर्थक्रिया हो रही है वे सब पदार्थ है, शून्य कैसे कहे जा सकते है ?

चित्राकारमय विज्ञानाद्वैतमात्र तत्त्वके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टि--पहिले दो चर्चायें आयी थी--एक ब्रह्माद्वैतवादकी, दूसरी,विज्ञानाद्वैतवादकी। ब्रह्माद्वैतवादमे तो ऐसा सकलन है, ऐसा एकत्व जाना है कि यह चराचर जगत चेतन अचेतनरूप समस्त विश्व यह सब एक ब्रह्मस्वरूप है। यहाँ ज्ञान और ज्ञेय इनकी कोई चर्चा न थी। सभी एक ब्रह्म है और भ्रमसे यह सब ज्ञान भी भ्रमरूप लग रहा है और ये पदार्थ भी भ्रमसे ही जच रहे हैं। सब कुछ भ्रान्त है, एक ब्रह्म ही है। इसके बाद ज्ञान ज्ञेयमे से एक ज्ञानतत्त्वको स्वीकार करते हुए विज्ञानाद्वैतवाद हुआ कि नही, इतना गफला मत करो। एक ज्ञानतत्त्वको मान लो कि सारा विश्व एक ज्ञानमात्र ही है और वह भी कैसा ज्ञानमात्र ? शुद्ध ज्ञानमात्र। ये बाहरी पदार्थ तो हैं ही नही। ये भ्रमसे जच रहे हैं, और यह ज्ञानमे भी जो कुछ जंच रहा है वह भी भ्रमसे जच रहा है। वह तो केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र है। यह विज्ञानाद्वैत क्षणिकवादियोका सिद्धान्त है। ऐसा विज्ञान ध्रुव नही है, किन्तु क्षण-क्षणमे नया-नया होता चल रहा है और केवल वही एक विज्ञान है अथवा समस्त विज्ञानोको एक विज्ञानमे ही डाल लिया

गया है। तो ब्रह्माद्वैतसे कुछ भेद बना विज्ञानाद्वैतमें और विज्ञानाद्वैतसे भेद करके अब एक दार्शनिक कह रहा है कि हाँ मान लिया कि विज्ञानमात्र तत्त्व है किन्तु वह ज्ञान कोरा शुद्ध ज्ञान नही है, किन्तु वह ज्ञान नाना आकारमय है। इस सिद्धान्तने बाहरी पदार्थोंको तो भ्रमरूप ठहरा दिया। ये बाहरी पदार्थ भ्रमसे जच रहे है, लेकिन ज्ञानमे आकार बन रहा, प्रतिभास बन रहा, वह विविधता सत्य है। जब कि विज्ञानाद्वैतने ज्ञानमे आये हुए आकारको भी सत्य नही माना और ब्रह्माद्वैतने तो ज्ञान और ज्ञेय इस प्रकारका द्वैत भी सत्य नही माना।

चित्राकारमय विज्ञानमात्र अद्वैततत्त्वकी कल्पनाके स्रोतका एक चित्रण—शून्यसे लेकर चित्राद्वैत तककी बातको यदि इस कल्पनामे सुनो कि मानो किसी निर्जन स्थानमे संन्यासी लोग बैठे हुए है, जैन साधु भी साथमे बैठे है, व्याख्यान चल रहा है स्याद्वादकी पद्धतिका तो वह व्याख्यान तो सूक्ष्म है और समय-समयपर दृष्टियोकी अपेक्षासे विभिन्न कथन वाला है तो ऐसा कथन और सूक्ष्म तत्त्व सुनकर कोई दार्शनिक शून्यवादपर उतर आया। यह भी नही, यह भी नही, और बहुत ही अन्त सूक्ष्म दृष्टिसे देखने गए तो लगा कि शून्य ही तत्त्व है। बात क्या है? और ऐसा जचता भी है। कोई अगर चेतनकी व्याख्या सक्षिप्त और सूक्ष्म करे तो चेतन है, तो है तो वह क्या करता ? जानता ?···नही, जानना भी मोटी बात है। · तो क्या करता ?·· जाननमात्र है ?···नही, वह भी एक मोटी बात है, वह तो चिन्मात्र है।·· तो वह चिन्मात्र क्या हुआ ? · शून्य जचा। इस तरह जब तत्त्वकी सूक्ष्म व्याख्या सुनी तो उन्हे जंचा कि शून्य है। शून्यके बाद मानो उसीको लग रहा है कि शून्य है, यह भी तो कुछ प्रतिभासकी चीज बन रही है। तो वहांसे फिर थोडा हटकर दर्शन बनता है उसका कि नही, प्रतिभासस्वरूप है। तो फिर बुद्धिमे आया कि वह प्रतिभासस्वरूप केवल आकाशकी कोपल ही तो नही है, कोई असत्का ही तो वर्णन नही है। कोई है तो सत् चीज। तो ब्रह्माद्वैत जचा, लेकिन ब्रह्माद्वैतमे ज्ञान ज्ञेयकी कोई व्यवस्था न थी। विकल्प हुआ तो ज्ञानाद्वैत जचा और उसमे जब नाना आकार दिखे, ज्ञानमे तो जंचा कि यह चित्राद्वैत है। नानाकार स्वरूप यह ज्ञानमात्र है। यहा उस दर्शनकी चर्चा की जा रही है कि जो ऐसा मानते है कि यह सारा विश्व क्या है ? नानाकार स्वरूप ज्ञानमात्र है, और कुछ नही है, यह अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम हो सकता है ?

नानाकारित विज्ञानाद्वैतके मन्तव्यकी संभावित दृष्टिका आरोपण—उक्त जिज्ञासाके समाधानमे कहते है कि ज्ञानाकार ज्ञानमात्रके उस मतव्यके आधारको खोजते हैं तो विदित होगा कि वह सब एक ज्ञानाकारदृष्टिके एकान्तका परिणाम है। बात यहाँसे चलाये कि ज्ञानके विषय अनन्त धर्म है अर्थात् ज्ञान अनन्त भावोको, अनन्त पदार्थोको, अनन्त धर्मोको जानता है और जब उन अनन्त भावोको, अनन्त धर्मोको जाना तो विषय करनेवाला

ज्ञान भी उन अनन्त आकारोरूप परिणाम गया। अर्थात् ज्ञानमे वह इतना ही विकल्प हुआ, इस तरहसे यह ज्ञान, इसका यह आकार ज्ञानकी मुद्रा ज्ञेयाकार रूपमे बनकर नानाकार हो जाती है। सो यहाँ यह नानाकारोका तो ध्यान कर रहा, नानाकारोकी पकड रखी, साथ ही आग्रह रखा विज्ञानाद्वैतका तो ऐसे अभिप्रायमे अर्थात् ज्ञानाकार दृष्टिसे सम्मिलित विज्ञानाद्वैत दृष्टिके अभिप्रायमे। यह मतव्य बना कि यह सारा विश्व नानाकारमय एक विज्ञान मात्र है। इस अभिप्रायकी दृष्टि तो है और जिस दृष्टिसे यह मतव्य है सो भी बात है, ऐसा एकान्त हो जानेके कारण अर्थात् बाह्य पदार्थोंका अभाव करार कर लेनेके कारण यह मंतव्य मिथ्या हो जाता है। इस मतव्यमे यह समाया हुआ था कि घर, भीत, लोग आदिक ये कुछ भी चीजें नही हैं, ये सब भ्रमसे दिख रहे है। जैसे किसीको स्वप्नमे कुज चीजें दिखी तो भ्रमसे दिखती है और भ्रम मिट जानेपर फिर ये चीजें कुछ नही दिखती, तो उस सिद्धान्तका यह भ्रम मिटता कैसे है कि जब इसके विकल्प मिट जायें, इसे कुछ चीजें दिखें नही तो समझो कि भ्रम मिट गया। केवलज्ञान ही तक्त, सो उनकी अभ्रान्त दशा है तो इस बुद्धिमे यह मतव्य आया, इस ज्ञानसे दिखा, नानाकारमय जचा और इस ही ज्ञानका एकान्त किया तो दृष्टिमे आया।

अद्वैतवादमें स्वप्नदृष्ट मिथ्या पदार्थोंकी भांति पदार्थोंके भ्रम करनेका भ्रम—भ्रममे ही नाना अर्थके मतव्यका मुख्य उदाहरण यह है कि स्वप्नमे देखी हुई बात जैसे असत्य होती है, जग जानेपर फिर उस बातको चाहे कि देख लो तो किसी तरह देख भी नही सकते। जैसे एक कथानक है कि किसी पुरुषको सोते हुएमे एक स्वप्न आया कि मुझे राजाने ५०० गायें इनाममे दिया, वे सब गाये बहुत बडी गौशालामे बधी हुई हैं। ग्राहक लोग खरीदनेके लिए आये, उन्होने ५० गायें छाँट ली। ग्राहकोने पूछा ये गायें कितने कितने रुपयेमे बेचोगे ? ·दो दो सौ रुपयोमे। ग्राहकोने भी कुछ रुपये लगाये, उसने भी कुछ रुपये कम किए, फिर ग्राहकोने कुछ रुपये बढाये। इस तरह तय होते-होते मान लो ८०) रुपये प्रति गायके हिसाव से ग्राहकोने लेना निश्चय किया और १००) रुपये प्रति गायके हिसाबसे उस पुरुषने गायें देनेका निश्चय किया। जब दोनोकी बात तय न हुई, तय होनेमे थोडी ही कसर रह गई तो उस समय बेचनेवालेके कल्पनाओका वेग बढा, और कल्पनाओका वेग बढनेसे नीद भी कुल गई। अब नीद खुल जानेपर वह पुरुष क्या देखता है कि न वहाँ गायें है, न कोई खरीददार है, वह तो एक स्वप्नकी बात थी। अब चूंकि करीब ४०००) मिट रहे हैं, इसलिए वह पुन आँखे मीचकर उसी तरहकी स्थिति बनाना चाहता है जैसी कि स्वप्नके समय थी। उस समय जो सुख (मौज) मान रहा था वह स्थिति बनाना चाहता है, पर कहाँसे बन जाय वह स्थिति ? अरे वह तो एक स्वप्नमे देखी हुई बात थी। तो ऐसे ही समझ लो कि

यहाँ जो कुछ दिख रहा है वह स्वप्नवत् है, मिथ्या है, कुछ नही है। इसी तरहसे ये नानाकारमय विज्ञानवादी बाह्य अर्थको मिथ्या सिद्ध करते है।

ज्ञानाकारसम्मिलित विज्ञानाद्वैताग्रहका परिणाम—नानाकारमय विज्ञानमात्रके मन्तव्य का अभिप्राय तो ज्ञानाकारको निरखने और विज्ञानके अद्वैतकी हठ करके उत्पन्न होता है। वस्तुत तो पदार्थ ६ प्रकारके होते है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पदार्थोंकी संख्याकी कितनी सुन्दर व्यवस्था बता दी इन स्याद्वादी सैद्धान्तिकोने कि यहाँ किसी तरहका व्यभिचार नही आता। अर्थात् कोई पदार्थ ऐसा नही कहा गया कि किसी असाधारण धर्मके द्वारा एक बन बैठे और कोई पदार्थ ऐसा नही कहा गया कि जिसकी प्रमाणता सिद्ध न हो। तो ज्ञान तो जीवका परिणमन है, जीवका स्वरूप है। उसके अतिरिक्त ५ पदार्थ तो अभी और पड़े हुए है। पुद्गल—जो आँखो दिखते है, जो इन्द्रिय द्वारा समझमे आते है, आकाश—जिसका लोग अनुमान कर लेते है, और काल तकको भी किसी न किसी रूपमे परख लेते है, मगर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यका तो नाम तक भी अनेक लोग नही जानते। एक गतिहेतुक और स्थितिहेतुक द्रव्य है उसे कुछ समझते ही नही। यो जो भी दर्शन निकले वे सब दर्शन आखिर वे भी चेतन है, उनके ज्ञानसे निकले, उनकी दृष्टिसे निकले। तो जो उनकी दृष्टिया है ये सब नय है। नय और प्रमाणसे कोई मनुष्य अलग नही है। इतना फर्क हो गया कि किसीने नयका एकान्त किया, किसीने नयका समन्वय किया, पर नय न हो किसी इस मनुष्यके चित्तमे तो फिर वह मनुष्य ही न रहेगा। बुद्धि है, ज्ञान है, दृष्टि है, वह ही तो नय कहलाता है। तो सभी जीव (मनुष्य) ये सब नयस्वरूप है। कोई किसी विचारमे मग्न है, कोई किसी दृष्टिमे मग्न है। यहाँ इन दार्शनिकोको यह नजरमे आया कि ज्ञान तो है तत्व, लेकिन वह नानाकाररूप है।

बाह्यार्थप्रतिषेधक चित्राद्वैतवादकी मीमांसा—अब जरा उस ज्ञानकी नानाकारताके सम्बन्धमे विचार तो करो। नानाकार होकर भी ज्ञान सब एक है तो एक कैसे हो गया? क्या ये पदार्थ जो प्रतिभासित हुए है वे और ज्ञान एक है? इस कारण चित्रित विज्ञान मात्र अद्वैत है अथवा एक साथ यह ज्ञान भी उत्पन्न हुआ, पदार्थ भी उत्पन्न हुआ और ज्ञानके साथ ही हैं, ये चल रहे है इस कारण एक है। अज्ञान और पदार्थोंके एकत्वके कितने विकल्प हो सकते है? या तो यों कहो कि जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ही पदार्थ उत्पन्न हुआ। इन लोगोकी दृष्टिमे यह समझमे आया कि जब तक हम जानें नही किसीको तब तक वे उत्पन्न ही नही होते। जब हमने जाना तब उसकी सत्ता है और न जाना तो उसकी सत्ता नही। इस आशयमे ऐसा भी दिखता है कि मेरे ज्ञानमे आये तो वह पदार्थ उत्पन्न है, सो ज्ञानके साथ ही उत्पन्न होता है पदार्थ, इस कारण ज्ञानकी और पदार्थोंकी

एकता है। अब इस पर विचार करिये–इन दार्शनिकोका जो भगवान है सुगत, यह यौगाचार बौद्धका सिद्धान्त है। तो जब सुगत सर्वज्ञ हुए तो उसके ज्ञानमे इन सब जीवोके ज्ञान भी तो आये। तो इसके मायने है कि सुगतके ज्ञानके साथ हम सब ज्ञानोकी भी उत्पत्ति हुई तो इन सुगतज्ञान व लोकज्ञान दोनो ज्ञानोमे इनका अभेद हो जाना चाहिए अर्थात् या तो वे भगवान हमारी तरह मूर्ख बन जायें या हम सब भगवानकी तरह सर्वज्ञ बन जायें, सो ऐसा ये नही मानते। ऐसा भी नही कह सकते कि जब सुगत भगवान भगवान हुए थे तो ये मनुष्य लोग न थे। यदि ये मनुष्य न होते तो उनकी कौन प्रणाम करता, उनका उपदेश कैसे होता ? तो यह कैसे कह दिया कि ज्ञानमे जो आकार आ रहे है वे तो सत्य हैं, पर उस आकारकी तरह जो बाहरमे पदार्थ जच रहे हैं वे असत्य हैं। यदि कहो कि हम इनका अन्तर नही सिद्ध कर सकते है यहाँ ज्ञानमे कि यह तो शुद्ध ज्ञानरूप तत्त्व है और ये पदार्थोंके आकार, ये इनके आकार है। जब हम यहा ही अन्तर नही कर पाते, इससे हम जानते कि सारा ज्ञानमात्र है सो भी बात नही है। अन्तर क्यो नही कर सकते ? यह आकार है वह ज्ञानस्वरूप है, स्वभाव है। प्रयोजन यह है कि ऐसा एकान्त करना भी सही नही है कि सारा विश्व एक चित्रविचित्राकारमय ज्ञानस्वरूप मात्र है अर्थात् ज्ञानातिरिक्त कुछ नही है। जो यह चित्रता दिख रही है वह सब भी ज्ञानरूप ही है, ऐसा अभिप्राय कोई बनाये तो ज्ञानाकारकी दृष्टि की और पहिले सस्कारमे बसे हुए विज्ञानाद्वैतकी दृष्टि रहे तो उस मेलमे यह अभिप्राय है।

शब्दाद्वैतवादकी मीमांस्य चर्चा—अब एक दूसरी चर्चा आ रही है, जिसका यह कथन है कि धीरे-धीरे आपको शून्यसे निकालकर चित्राद्वैत तक ले आये, लेकिन यह भी परख लेना चाहिये कि जब भी वह ज्ञान हुआ तो भीतरमे कुछ शब्द उठते हुए ही हुआ। जैसे आखे खोलकर जब हम सामने देखते हैं तो भीत भी दिखी और भी और त ऐसे शब्द भी जगे। कुछ भी पदार्थ देखते है तो उसका जो कुछ भी ज्ञान बनता है वह कुछ शब्दोको लिए हुए बनता है, अन्यथा बतलाओ कोई किसी ज्ञानका विवरण दिया जाय और शब्दोकी छुट्टी रखे तो क्या कोई दे सकेगा ? अन यह बात तो ठीक ही जंच रही है कि जो कुछ है वह शब्द मात्र है शब्दके सिवाय और कुछ नही है, जिसे तुम ज्ञान कहते हो वह भी शब्द-मात्र है। ज्ञान शब्दके सिवाय जब और कुछ नही है तब जिसे ज्ञान कहते हो वह भी शब्दमात्र है, क्योकि यह क्या चीज है ? कहते हैं कि भीत। अच्छा इन शब्दोको छोड करके फिर यह अर्थ क्या रहा ? इसमे ये शब्द भिदे होते है। इस भीतके नस-नसमे वे अक्षर पडे हुए हैं तब हम कह सकेंगे कि यह भीत है और तब हम जान सकेंगे कि यह भीत है। दार्शनिकोकी सूझ है और सामान्यतया कुछ ऐसा लगता ही है—जिसे हम जानते हैं वहा शब्द

भीतर उठा करता है। शब्दोके उठे विना ज्ञानकी मुद्रा ही नही वन पाती। इससे यह जाहिर होता है कि यहा सब कुछ जो नजर आ रहा है वह सब शब्दस्वरूप है। दुनियामे ऐसा कोई ज्ञान नही है जो शब्दके सम्बन्धसे रहित हो। यह शब्दाद्वैतवादी दार्शनिककी ओर से वात कही जा रही है। कोई बताये ऐसा ज्ञान जो कि शब्दके सम्बंधसे रहित हो। जो भी कोई ज्ञान करेगा उसमे अन्तर्जल्प होगा। अधिवसे अधिक कोई अपने ओठसे ओंठ मिला ले, कुछ बोले ही नही तो मत बोले, लेकिन जब भी वह ज्ञान करेगा तो अन्तर्जल्प उसके उठेगा, तो शब्दोके अन्वय विना, सम्बन्ध बिना जब कोई ज्ञान ही समझमे नही आ रहा है और इतना ही क्या, कोई बाहरमे पदार्थ भी समझमे नही आ रहा, बडी जल्दी जल्दी दृष्टि करके भी चारो ओर निरख लो तो बोलनेमे तो देर लग जायगी, मगर जो कुछ भी दिखा– घडी, टेबिल, चौकी, भीत आदि, ये सारे शब्द भीतर उठ रहे है और तब ज्ञान बनते जा रहे हैं। इससे हम यह जानते है कि साराका सारा विश्व शब्दमे से बीधा हुआ है और शब्दोमें ही समाया हुआ है। शब्दको छोडकर और विश्व कुछ भी चीज नही है।

पदार्थों की शब्दानुविद्धताके मन्तव्यका निराकरण––अब जरा इस दर्शनपर विचार करो––इनका कथन है कि सारा विश्वसमूह शब्दोसे बीधा हुआ ही ज्ञानमे प्रतिभासित हो रहा है। तो यह बतलाओ कि सारा विश्व जो शब्दोसे बीधा हुआ ज्ञानमे आ रहा तो किस प्रमाणसे आ रहा, प्रत्यक्षसे या अनुमानसे ? यदि कहो कि प्रत्यक्षसे ज्ञानमे आ रहा, शब्द से बीधा हुआ है यह पदार्थ, तो प्रत्यक्ष तो दो तरहके होते है––एक इन्द्रियजन्य, एक स्व-सम्वेदनवाला। तो इन्द्रियजन्य ज्ञानसे तो यह बात नही समझमे आती। जब हम भीत देख रहे है तो यह भीत पदार्थका ज्ञान आंखोद्वारा हुआ हैं, न कि कर्णद्वारा। और जो शब्द सुनाई देते हैं वे कर्णद्वारा सुनाई देते है, और कितना अन्तर है कि शब्दका ज्ञान तो हुआ कानोसें और पदार्थका ज्ञान हुआ ५० हाथ दूरपर स्थित भीतका और फिर भी कहते हो कि ५० हाथ दूर रहनेवाला पदार्थ शब्दसे बीधा हुआ होता है। तो इस बातको कौन मान लेगा ? तो इन्द्रियाँ तो अपने-अपने रूपादिक ज्ञानोको विषय करनेमे नियत है। कर्ण शब्द इन्द्रियका विषय है, वह आँखोके द्वारा कैसे जाना जा सकता है ? तो इन्द्रियसे तो पदार्थ शब्दसे बीधा हुआ है, यह समझमे नही आता और स्वसम्वेदनसे समझना चाहे तो वहाँ शब्द की चर्चा ही नही है। तो कैसे समझ लिया जाय कि यह सारा विश्व शब्दोसे बीधा हुआ है ? शायद यह कल्पना कर सकते हो कि जब हम ज्ञानद्वारा पदार्थको जानते हैं तो इस ज्ञानमे ऐसा जच रहा कि शब्द भिडे हुए है, क्योकि ज्ञान करते है तो शब्दोके साथ ही यह ज्ञान जगता है। तो शब्दोसे भिडा हुआ है ज्ञान, इसका अर्थ क्या है ? सारा विश्व शब्दोसे भिडा हुआ है, क्योकि पदार्थको जानता है सो उसका नाम तुरन्त ध्यानमे आ जाता है।

यह कहना गलत है कि जहाँ पदार्थ है वही शब्द पडा है। शब्द तो अन्यत्र है और पदार्थ अन्य जगह है, यहा जो दिख रहा है पदार्थ वह शब्दरहित दिख रहा है। वहासे कहाँ शब्द निकलते है ? तो पदार्थ और शब्द ये एक जगह नही हैं। पदार्थ और शब्द ये एक रूप नही है, क्योकि अगर एक रूप होते तो जैसे आंखोसे भीत दिखी तो आखोसे शब्द भी दिखते। जब भिन्न-भिन्न इन्द्रिय द्वारा जाना जा रहा है तो कैसे कहा जायगा कि इनका तादात्म्य है तो इस तरह शब्दाकारसे रहित ये सारे पदार्थ इन्द्रियज्ञानमे दिख रहे हैं और श्रोत्रसे केवल शब्द ही समझमे आ रहे। तो कैसे कहा जाय कि यह सारा जगत शब्दमय है ?

शब्दाद्वैतवादका आशय—देखिये—बात यहाँ यह कही जा रही है कि लोगोको जब कुछ ज्ञान होता है तब ऐसा लगता है कि ज्ञान भी हुआ और उसका नाम भी या उसका शब्द भी जगा। अरे और कुछ न सही कोई आश्चर्य वाली चीज दिख रही, जिस चीजको कभी देखा ही न हो तो वहाँ भी इस रूपमे ज्ञान जगता है कि कुछ है। किसीका नाम ईंट है, किसीका नाम भीत है, तो किसीका नाम कुछ भी पड सकता है। जब भी ज्ञान जगता है तो भीतरमे शब्द उठता हुआ ही जगता है। इस कारण इन दार्शनिकोको यह ज्ञान बना कि सारा विश्व शब्दमय होता है। ऐसा एक शब्दाद्वैत ही तत्त्व है, अन्य कुछ तत्त्व नही है। इस सम्बन्धमें ये शब्दाद्वैतवादी तीन प्रकारके शब्द मानते है। एक तो जो बोलने मे आ रहे है, जिनको हम सुन लेते है। इनको कहते है वे बैखरी, अर्थात् जो स्पष्ट बोल-चालमे आये, जो कानोमे भी चोट लगाये। जैसे कि बैखरी बोलनेसे एक चोट सी आयी। ख यह महाप्राणवाला शब्द है। तो जैसे उससे एक कर्णको चोट पहुचे तो ऐसा शब्द कौन होगा ? ऐसा शब्द है यह बोलचालमे आया हुआ जिसे कहते है बैखरी वाणी। दूसरी होता है अन्तर्जल्परूप बोली। इसको वे बोलते है मध्यमान, और तीसरा शब्द होता है अन्तर्ज्योति स्वरूप, उसे भी शब्दमय देख रहे है चर्चाकार। इस तरह तीन शब्दोसे व्याप्त है सब कुछ, इसके अतिरिक्त कुछ नही है, ऐसा कुछ दार्शनिकोका अभिमत है।

शब्दाद्वैताभिमतकी मीमांसा—बैखरी वाग्रूपता तो प्रकट ही भौतिक है, उसे कैसे ज्ञानानुविद्ध कहा जा सकता है ? हाँ इन दिखने वाले बाह्य पदार्थोंसे विलक्षण भीतरमे जो अन्तर्जल्प चलता है उसही के सम्बन्धमे कुछ शका की जा सकती है कि वह तो ज्ञानमय ही है। शकाकारका आशय यह था कि भीतर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह कुछ न कुछ शब्दो को लेकर उत्पन्न होता है। हम जिस किसी भी वस्तुका ज्ञान करते हैं तो अन्तरसे उसके सम्बन्धमे कुछ शब्द उठा करते हैं। अमुक है यह। इस तरह वह ज्ञान शब्दमय है और ज्ञान ही क्या, समस्त विश्व शब्दमय है। तो अन्तर्जल्पकी बात यह है कि अन्तर्जल्प जो

होता है वह तो है एक भीतरी काल्पनिक वाणी और उन शब्दोके साथ-साथ जो ज्ञान हुआ है वह है एक प्रतिभासमात्र। सो इस अन्तर्जल्पके बिना भी वह ज्ञान हुआ करता है। यह सोचना असंगत है कि अन्तर्जल्प न हो तो ज्ञान नही हुआ करता। अनेक ज्ञान ऐसे होते हैं सूक्ष्म कि जिनमे अन्तर्जल्प नही हो पाता। हम जितना जानते है वह सारा ज्ञान अन्तर्जल्परूपरूप नही है। उनमे अधिकाश बिना अन्तर्जल्पके निकल जाते है। यद्यपि उन ज्ञानो का हम ग्रहण नही कर पाते, उनको ग्रहण करनेवाला कोई विशिष्ट ही आत्मा होता है, लेकिन अन्तर्जल्पके बिना ही ज्ञानकी मुद्रा हुआ करती है और एक तीसरी वाणी चर्चाकार ने बतायी है अर्न्तज्योतिरूप तो वह तो कोई पीडा ही नही है। वह तो अन्त स्वरूपका दर्शन है। शब्दाद्वैतमय जगत है, ऐसा किसी दार्शनिकका सोचना यह अपनी बुद्धिसे अपने अन्तर्जल्पकी दृष्टि रखकर कहा गया है। वस्तुत ज्ञान स्वरूप जुदा है और अन्तर्जल्प यह एक विकारकी अवस्था है। ज्ञान तो शुद्धरूपसे रह सकता है, पर शुद्ध स्थिति होने पर अन्तर्जल्प नही ठहर सकता है और बहुत शुद्धताकी बात तो दूर रहो, वहाँ तो अन्तर्जल्प रहित अवस्था है ही, किन्तु यहाँ भी योगीश्वरोके अन्तर्जल्परहित ज्ञानानुभव हुआ करता है। तो शब्दके विना यह अर्थ है। जैसे यह दृश्यमान अर्थ है इसी प्रकार शब्द भी एक अर्थ है और वह है भाषावर्गणाके स्कधोका परिणमन तो ऐसा जिनने अभिप्राय किया है उनके अभिप्राय मे अन्तर्जल्प मुख्यतासे है और विज्ञानदृष्टिका मिश्रण है, इस स्थितिमें यह अभिप्राय बन जाता है कि सारा विश्व शब्दमय है।

जीव, आत्मा व परमात्माको जुदा-जुदा पदार्थ माननेके अभिप्रायकी संभावित मूल जिज्ञासा—अब एक नई चर्चा यह आ रही है कि कुछ पढे लिखे लोगोमे यह प्रसिद्धि चला करती है कि जीव, आत्मा, परमात्मा ये तीनो जुदे-जुदे है। तो ये तीनो जुदे जुदे है इस अभिप्रायकी आधारभूत दृष्टि क्या हो सकती है, यह एक जिज्ञासा की गई है। ब्रह्मवाद आदिक अनेक दर्शनोमे इस बातको प्रमुख रूपसे कहा गया है कि जीव जुदी चीज है, आत्मा जुदा है और परमात्मा जुदा है, तथा मुक्तिके सम्बन्धमे उसकी व्यवस्था यो बनी है कि जब यह जीव आत्मामे मिलता है और आत्मा परमात्मामे मिलता है तो उसकी मुक्ति कहलाती है। तो यो जो मिलान वताया गया है वह पृथक्-पृथक् सत्ताको लेकर बताया गया है। तो इस तरहका कथन किस दृष्टिके आधारपर बना है, इस तरह यहा यह जिज्ञासा की गई है। इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि पर्यायदृष्टिका परिणाम है। पर्यायको मुख्यतया निरखा और पर्यायको जो कुछ समझा गया है उसके अनुरूप नाम करके यह बताया गया है कि ये तो जुदी-जुदी चीजें है। आत्मा जुदी वस्तु है, परमात्मा जुदी वस्तु है। ऐसा कहने वालोके चित्तमे यह बात नही पडी है कि जीव स्वय शुद्ध होकर परमात्मा बनता है, किन्तु परमात्मा तो परमा-

त्मा ही है। जीव जब आत्मामे मिलता हुआ परमात्मामे मिल जाय तो उसका नाम मुक्ति है। अर्थात् जीवकी मुक्ति उधार है, सही नही है, तो ऐसा अभिप्राय किस दृष्टिके आधारपर बना ?

शब्दार्थविधिसे ज्ञान जीवादि पर्यायोंके एकान्तके परिणाममें जीवादिके पार्थक्यवादकी निष्पत्ति—उक्त अभिप्राय है पर्यायके एकान्तका परिणाम। जैसे जीवका, आत्मा और परमात्माका जो शब्दार्थ है उसपर विचार करेंगे तो ऐसा प्रतीत होगा कि हा जो जीव है वह आत्मा कैसे हो सकता ? जो आत्मा है वह परमात्मा कैसे हो ? जीवका अर्थ है जो पर अपेक्षासे दसप्राणो करके जीवे। इन्द्रियसे और शरीरमे रहनेवाले मर्म स्थानोकी सुरक्षासे जो जीवे उसको जीव कहते है, ऐसे ही जीवके लक्षण माननेवाले बहुतसे लोग हैं। प्राय लोग यह समझते हैं कि अगर गला ठीक रहे, श्वास न रुके, गला न घुटे तो यह जिन्दा रहता है, अथवा अन्न खाया, भोजन खाया तो यह जिन्दा रहता है और अन्नसे, अगकी सुरक्षासे, इन्द्रियसे जीव जीवित रहता है उसका नाम जीव है। यह हुआ जीवका लक्षण। जिसको हम कह सकते बहिरात्मा, जो प्राणोपर दृष्टि रखे है, बाह्य साधनोपर दृष्टि रखे है, उससे ही जीवन मान रहा है वह है बहिरात्मा। जीव तो हुआ बहिरात्मा, लेकिन पार्थक्यवादी जन बहिरात्माके रूपसे भी नही मानते, उनका सिद्धान्त है कि जीव तो जीव है, ऐसा नही है कि वह बहिरात्मा है और वह फिर कभी अन्तरात्मा बने और परमात्मा बने। बहिरात्मा शब्द तो आपेक्षिक नाम है। होगा कोई अन्त आत्मा तब यह बहिरात्मा है, ऐसे अपेक्षाको लेकर बहिरात्मा शब्द प्रकट हुआ है, लेकिन जीव तो एक स्वतन्त्र सत् है और वह प्राणो करके जिन्दा रहता है, सुख दुख भोगता है। तो यो पर्यायदृष्टिसे जब निरखा और जो बहिरात्माका रूप है वही पूरा जीवका बनाया गया। उसे जीव कह लीजिये। आत्मा-अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा, अर्थात् जो निरन्तर जानता रहता है उसको आत्मा कहते है। जो जाननशील है, जिसका ज्ञान प्रताप है वह कहलाता है आत्मा। इसमे कुछ अन्त दृष्टि करके स्वरूप निरखा उसीको और विशुद्ध दृष्टिसे देखो तो जो अन्त जानता रहता है उसका नाम है आत्मा। अर्थात् अन्तरात्मा हुआ यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, और परमात्मा—जो परम हो जाय आत्मा उसको कहते है परमात्मा। उत्कृष्ट हो जाय, ज्ञानलक्ष्मीका पूर्ण विकास हो जाय ऐसे आत्माको कहते है परमात्मा। बात तो दृष्टि अपेक्षा से सही है कि बहिरात्मत्वसे उसे जीव कह लीजिए, अन्तरात्मत्वसे आत्मा कह लीजिए। और विशुद्ध पूर्णतासे उसे परमात्मा कह लीजिए। लेकिन ऐसा नही माना है उस दार्शनिकने। जो जीव है वह सदा जीव ही रहेगा, हा उसकी कल्याणअवस्था उसमे है कि वह परमात्मामे मिल जाय।

जीवको परमात्मामें मिलाकर अस्तित्व समाप्त कर देनेके आशयका निराकरण— जीव जुदा सत् है, उसका भला परमात्मामे मिलने से है। इसके लिए उदाहरण देते है कि जैसे कोई जलबिन्दु समुद्रमे मिल गया तो बूंदका जुदा अस्तित्व अब न रहा, वह समुद्रमे मिल गया है, इसी तरह जीव जब परमात्मामे मिल गया है तो जीवका भी जुदा अस्तित्व न रहा, वह परमात्मामे मिल गया, लेकिन यह उदाहरण यो ठीक नही बैठता कि बूंद समुद्रमे भी मिल जाय तब भी वह वही रहेगी, वह अपना अस्तित्व न खो देगी। समुद्र नाम है अनगिनते बूंदोके समूहका। तो एक जलबिन्दु समुद्रमे डाल दी जावे तो अब जलबिन्दुको हम अलगसे क्या परख सके ? वह शकल तो हमको नही मिली, लेकिन उस जलबिन्दुका जो अस्तित्व है वह तो नही खतम हुआ। वह अस्तित्व तो वहाँ पडा हुआ है और कोई समय पाकर वह जलबिन्दु अलग भी हो सकता है। तो इस तरह जीव परमात्मामे मिलकर मुक्त कहलाये और फिर वह अपना अस्तित्व समाप्त करदे तो ऐसी मुक्तिका फायदा क्या रहा ? तो उसमे यह मिल गया। यो मिल जानेसे कही उस व्यक्तिका अस्तित्व खतम नही हो गया, व्यक्ति तो रहेगा ही। जैसे मानो कोई पार्टी किसी बडी पार्टीमे मिल गई, मानो बामपथी पार्टी काग्रेसपार्टीमे मिल गई तो मिल जाय, विचार एक हो गए, संलग्न हो गया, लेकिन उस बामपथी पार्टीके मिल जानेपर कही उस पार्टीका नाश तो नही हो गया ? अरे वे तो विचारोके न मिलनेपर फिर अलग हो सकते है। अरे यह जीव परमात्मामे मिल गया और उस जीवका अस्तित्व खतम हो गया, ये दोनो ही बाते असंगत है।

जीव, आत्मा, परमात्माके एकानेकवादका प्रकाशन— शुद्ध दृष्टिसे निरखिये तो यह जीव चैतन्यपदार्थ है। है कोई चैतन्यपदार्थ, वह चैतन्यपदार्थ जब कर्मोसे मलीमस है, अनेक विकल्प विचारोसे आकुलित है, जन्म मरण कर रहा उस समयमे चेतनको जीव शब्दसे कह दिया तो प्रधानतया वह ठीक है, कह दीजिए—उसका अर्थ है कि उस चेतनकी इस समय ऐसी पर्यायदशा है और वही जीव, वही चेतन जिसको कि पहिले जीव-जीव कहा करते थे, वह जब सम्यक् प्रकाश पाता है और अपने अन्त स्वरूपको सम्हाल लेता है तो उस ही का नाम आत्मा कहलाने लगेगा और वही चेतन जब अपने स्वरूपसंयमके बलसे समस्त विभावो को, विकारोको नष्ट कर देता है तो शुद्ध स्वर्णवत् शुद्ध स्फटिकवत् उसका सहज स्वरूप विकसित होता है, तो उस ही चेतनका नाम परमात्मा कहलाता है। तो यो यद्यपि एक चेतनके ही ये तीन नाम हैं—भिन्न-भिन्न अवस्थाओमे, लेकिन यहाँ यह दार्शनिक उस प्रत्येक ही को पूर्ण द्रव्य समझता हुआ यह मान रहा है कि जीव अलग है, आत्मा अलग है और परमात्मा अलग है।

जीव, आत्मा व परमात्मासे परे ब्रह्मकी तुरीयपादताकी चर्चा—अब इसीसे सम्बं-

दित एक चर्चा और आ रही है। ब्रह्म कोई एक चौथी चीज है। जो जीव, आत्मा और परमात्मा इन तीनोसे परे है। तो अब इस परिच्छेदमे व्यक्तरूपसे बतायी गई चर्चाओ मे यह अन्तिम चर्चा है। इसके सम्बन्धमे जिज्ञासा हो रही है कि यह किस दृष्टिका परिणाम है जो यह समझा जा रहा है कि ब्रह्म, जीव, आत्मा, परमात्मा इन तीनोसे परे है? यह है पारिणामिक दृष्टिके एकान्तका परिणाम। देखिये स्याद्वाद शासनमे पारिणामिक दृष्टिकी मुख्यतासे क्या विषय आया करता है? एक शुद्ध आत्मद्रव्य। शुद्ध चैतन्यस्वरूप, सहज आत्मतत्त्व। उसीका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म नाम उसका कारण रखा गया है कि यह चेतन द्रव्य अपने गुणोमे बढते रहनेका स्वभाव रख रहा है। जैसे कोई स्प्रिग विस्तार रूप मे बना रहनेका ही स्वभाव रखा करता है, उसे कोई यदि दबा दे तो वह स्प्रिग भले ही दब जाय, पर उसका यह दबना स्वभावत नही है, वह प्रयोगसाध्य है। उस प्रयोगके हट जानेपर स्प्रिगमे एक विस्तृत दशा ही बनती है। उसका बढनेका ही स्वभाव है, फैलनेका ही स्वभाव है। यो ही समझिये कि इस चेतनद्रव्यका, इस आत्मद्रव्यका बढनेका ही स्वभाव है, सकुचित होनेसे दबनेका, घटनेका स्वभाव नही है। इसी कारण इसका नाम ब्रह्म रखा गया है। ब्रह्म कहो, आत्मा कहो, चेतन कहो, सब अनर्थान्तर है, ऐसे ही ब्रह्म वह आत्मा है। वह शुद्ध सहज स्वरूप जीव, आत्मा, परमात्मा इन तीनोसे परे है, क्योकि ये तीनो इस पर्यायरूपमे निरखे गए है। जो बहिरात्मा है वह तो है जीव, जो अन्तरात्मा है वह है आत्मा और जो विशुद्ध है, विकसित है, भगवान है वह है परमात्मा। तो इन तीनोमे अवस्थायें देखी गई है। एकमे शुद्ध अवस्था है, एकमे मिश्र अवस्था है, एकमे अशुद्ध अवस्था है। तो ऐसे इन तीन परिणमनोकी दृष्टिका यह नाम है, लेकिन ब्रह्म वह चैतन्यस्वरूप, वह सहज-स्वरूप यद्यपि इन तीनोमे गत है और तीनोमे गत रहता हुआ भी किसी एक रूप ही शाश्वत नही है। ऐसा वह इन तीनोसे परे ब्रह्म है।

तुरीयपाद ब्रह्मके अभिमतकी आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा—ब्रह्मको वे दार्शनिक तुरीयपाद कहते है। चार पैरो वाला कहते है। चार पैरोके बिना न चौकी टिकती, न टेबिल टिकती, न जानवर टिकते, न मनुष्य टिकते। मनुष्योके भी दो पैर होते और दो हाथ होते, इस तरह इन चारके बिना तो कोई जीव जन्तु नजर नही आ रहा है। पक्षियो के भी दो पैर हैं और दो पख हैं, इस तरह जगतकी व्यवस्था वे चार पादोमे बना रहे हैं। प्रथम पाद है जीव, दूसरा पाद है आत्मा, तीसरा पाद है परमात्मा और तुरीयपाद (चतुर्थ-पाद) है ब्रह्म। उनकी इस व्याख्यामें जीवका लक्षण तो है जागृति रूप दशा और आत्माकी अवस्था है सुषुप्तरूप अवस्था और परमात्माकी अवस्था है अन्त प्रज्ञ अवस्था और ब्रह्म इन इन तीनोसे परे है। यद्यपि साधारणतया ऐसा कहना ठीक बैठ रहा कि जीव तो सुषुप्त

दशाको कहना चाहिए। जो सोया हुआ हो वह बहिरात्मा है और कहते ही है लोग कि मोहनीदमे सोये हुए है लेकिन यहाँ कही गई जागृति अवस्था खोटे भावमें जगनेको अर्थात् जो जीव जग रहा है इस बाहरी लोकमे, बाहरी परिणतियोमे, बाहरी विकल्प तरगोमे वह है बहिरात्मा। सोया हुआ अगर कहे तो उसका अर्थ यह निकला कि जो अपने अन्त स्वरूपके जाननेमे प्रमादी है, सोया हुआ है वह है सुषुप्त। किसी भी शब्दसे कह लो–स्वरूप सही नजरमे आना चाहिए। तो यह जीव जग रहा है विषयोमे, कषायोमे, इससे उसकी चेतना नही रही है सो वह कहलाता है जीव और आत्मा है सुषुप्त याने बाहरी बातोमे जो नही जग रहा है किन्तु जैसे सोया हुआ पुरुष शान्त है, जैसा पडा है वैसा ही बडा है, हिलडुल भी नही रहा है ऐसे ही जो ज्ञानी पुरुष अपने आप यह दृष्टि बनाये हुए है कि हिलडुल भी नही रहा है और अविचलसा बना हुआ है वह कहलाता है आत्मा। और परमात्मा है अन्त प्रज्ञ, परमज्योतिस्वरूप, जिसकी प्रज्ञा बहुत विशाल है, सर्वज्ञ है, तीन लोक, तीन कालका जाननहार है, ऐसा जो कोई है वह है परमात्मा, और ब्रह्म इनसे परे है। वह ब्रह्म क्या चीज है ? अद्वैतरूप है आदिक कहकर ब्रह्मको तुरीयपाद कहा गया है, तो यह अभिमत किस दृष्टिका परिणाम है कि ब्रह्म इन सबसे परे है ? यह है पारिणामिक दृष्टिका परिणाम।

पारिणामिक भावका अर्थ व उपयोग—पारिणामिक दृष्टिका अर्थ कोई सही समझ ले तब तो उसका उक्त एकान्त न रहेगा, पर पारिणामिक भाव करके जो एक फलित अर्थ निकाला गया है, केवल वही ध्यानमे रहे तो ऐसा विद्वान् पुरुष भी चूक कर सकता है। पारिणामिक भावका फलित और रूढ अर्थ क्या बना हुआ है ? पारिणामिक भाव जो अपरिणामी है, शाश्वत है, निर्विकल्प है, जिसमे पर्यायें नही, पर्यायोसे रहित है ऐसा कोई जो भाव है उसको कहते है पारिणामिक भाव। यह हुआ रूढिवश एकान्त। अब पारिणामिक शब्दका अर्थ समझियेगा—परिणाम प्रयोजन यस्य स पारिणामिक अर्थात् परिणमन ही जिसका प्रयोजन है उसे कहते हैं पारिणामिक। देखिये—इस शब्द व्याख्यामे इस तरहसे भी जगा दिया है कि वह कही परिणामशून्य नही है, उसमे परिणमन होता है, पर्याय होता है, मगर यह पर्याय जिसका प्रयोजन हो, जिसके लिए हो उस एक भावको, उस एक पदार्थको कहते है पारिणामिक। तो अब फलित अर्थमे यह बात आ गयी कि पर्याय जिसके लिए है, पर्याय जिसका प्रयोजन है वह भाव तो परिणामशून्य है, निष्पर्याय है, यह फलित अर्थ आ गया। शाश्वत है, एक रूप है, निर्विकल्प है, अभेद है, मानना चाहिए यह किन्तु इसका ही कोई एकान्त करले तो उसकी ये विचारणायें बन जाती है कि वह सबसे परे है, बिल्कुल निराला है। यह अनादि शुद्ध है, अनन्त शुद्ध है, पारिणामिक भावके द

जिस जीवको बताया गया है वह न संसारी है, न मुक्त है, अभिन्नरूप है, लेकिन इसही रूप मे कोई सर्वांगितया देखें, आगे पीछे, सारे रूपमे देखे तो उसके बन जाता है यह अपरिणामी ब्रह्म तत्त्व । इससे भी उसमे अन्तर क्या रहा ? द्रव्य अनादि अनन्त ध्रुव है तो क्या उसके परिणाम कुछ नही होते ? पर्याय बराबर निरन्तर चलती है,इस प्रसङ्गमे कोई यह हठ कर ले कि परिणामोका, पर्यायोका समूह ही पारिणामिक है जो एक एक पर्याय है वह है वास्तविक तत्त्व और उनके समूहका नाम रख दिया पारिणामिक । सो यह हठ भी बेतुकी है । देखिये पारिणामिका अर्थ है—परिणाम स्वभाव प्रयोजन यस्य स पारिणामिक । जिसका प्रयोजन स्वभाव है उसको पारिणामिक भाव कहते हैं । इस व्याख्यासे यह सिद्ध हुआ कि पारिणामिक भाव शाश्वत एक रूप है । इस पारिणामिक भावकी दृष्टिमे ब्रह्म, शुद्ध आत्मद्रव्य जीवादि तीनसे परे ही क्यो, वह तो नव तत्त्वोसे भी विलक्षण है । किन्तु ऐसा मानकर कही पर्यायदृष्टिका प्रतिषेध नही करना है । स्याद्वादानुयायी होकर ही वस्तुस्वरूपकी बना सकते है, अन्यथा नही । अब उसको एक भाव शब्दसे कह लो—द्रव्यस्थानीय—वह एक स्वभावी अनादि अनन्त है, शाश्वत है, एक रूप है, तो किसी पर्यायसे रहित ही है । अरे जिस भावको निरखा है इस पारिणामिक दृष्टिमे भी भाव निष्पर्याय है, पर सर्वथा निष्पर्याय हो यह बात वहाँ नही आती । पारिणामिक शब्द स्वय परिणामको सिद्ध कर रहा है । है पर्याय, पर जिसके लिए है, जिसका प्रयोजन है वह है पारिणामिक भाव । बस पारिणामिक शब्दका यह अर्थ न घटित करनेसे एक ऐसा ही ब्रह्म स्वतत्र मान लिया गया कि जो ब्रह्म है, अविकार है, शाश्वत शुद्ध है, जो कुछ बन रहा है विकार वह सब प्रकृतिका विकार है । प्रकृति माया है, मिथ्या है, इन्द्रजाल है, ब्रह्म है, पर एक सदा शुद्ध है । तो यो पारिणामिक दृष्टिका एकान्त करनेका यह परिणाम है ।

जीव, आत्मा व परमात्मासे अविभक्त व विभक्त ब्रह्मका आख्यान—अब उक्त चर्चा पर पुन विचार करें । जीव, आत्मा व परमात्मा, ये तीन अवस्थायें चैतन्यमय चेतनमे होती है, चेतनाके सम्बन्ध बिना जीवका कोई स्वरूप व्यवस्थित रह सकेगा क्या ? आत्माका स्वरूप चेतन सम्बन्ध बिना कोई व्यवस्थित नही कर सकता, इस तरह जीव, आत्मा व परमात्मा ये तीनो चैतन्यमय चेतनकी अवस्थायें हैं और इन तीनो अवस्थाओका स्रोत यह चैतन्य है ऐसा वह चैतन्य स्वभावत इस पारिणामिक दृष्टिमे जिस रूपमे निरखा गया वह चैतन्य अकर्ता हैं, अभोक्ता है, अहेतुक हैं और जीव, आत्मा, परमात्मा—इन तीनोंका स्रोत है । ब्रह्मको इन तीनोसे सर्वथा अलग नही समझना, किन्तु वह चैतन्य ब्रह्म है और उस चैतन्यब्रह्मकी ये तीन परिणतियाँ है । अशुद्ध परिणतियोमे जीव कहलाता है और मिथ्या परिणतियोमे आत्मा कहलाता है और शुद्ध परिणतियोमे परमात्मा कहलाता है । ब्रह्म

सामान्य है और जीव आत्मा परमात्मा विशेष है। केवल सामान्य कोई तत्त्व नही है, केवल विशेष कोई तत्त्व नही है। मनुष्यत्व सामान्य न हो तो आप बता सकते क्या कि यह बूढा है, यह बालक है, यह जवान है ?···नही बता सकते। कोई बालक, बूढा, जवान आदिक कुछ भी न हो तो क्या बता सकते है कि यह मनुष्य है ? तो पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही होता है, उनमे जो सामान्य चेतन है वह हुआ ब्रह्म और जो उसका विशेषण है वह कहलाया जीव, आत्मा और परमात्मा। ब्रह्म उनसे सर्वथा विभक्त है, यह अभिप्राय मिथ्या है। यदि उन्हे स्याद्वाद नीतिसे विचारा जाय तो यह मालूम होता है कि पारिणामिक दृष्टिका प्रताप है जो ऐसा मंतव्य बना।

स्याद्वाद विधिसे चलकर निर्विकल्प स्थितिमें दृष्ट ज्ञानज्योतिकी सुरक्षाका आवश्यक स्मरण—जिस प्रकार दीपक हवासे न बूझ जाय, वह सुरक्षित बना रहे, एतदर्थ लोग प्रयत्न करते है किसी मिट्टीके घरगूलामे छिपानेका, किसी ओटमे रखनेका और इतने भी साधन न मिले हो तो प्रयत्न करते हैं थोडा हाथ ही लगा लेनेका। इसी तरह यहाँ परखिये—जो यह ज्ञानज्योतिकी दृष्टि हुई है और जो ज्ञानकी दृष्टिमे चल रहा है, प्रकाशमान हो रहा है उसको कही बाहरसे कोई झोका न लग जाय तो जिसके पास जितना साधन है वह उसके द्वारा अपनी ज्ञानज्योतिको रक्षित बनाता है। निर्विकल्प समाधिकी योग्यतावाला पुरुष उस निर्विकल्प समाधि द्वारा सुरक्षित बनाये रहता है, तो प्रमत्त विरत साधु अपने उस उच्च शुभोपयोगके द्वारा जहाँ शुद्धोपयोगका भी स्पर्श होता रहता है उस ज्योतिको सुरक्षित बनाये रखते है। तो दार्शनिक जन या अन्य जन उस तरह बनाये रहते हैं जैसे उनके पास साधन हो, पर जितने भी ज्ञानी पुरुष है उन सभीका लक्ष्य एक समान है कि यह ज्ञानज्योति बुझ न जाय। अनादिकालसे जो कभी प्राप्त नही हुआ और जिसके प्राप्त होनेका अबसे अन्य कोई अवसर भी नही दिखता है, वर्तमान यह अवसर, इतना उत्कृष्ट क्षयोपशम, इतना उत्कृष्ट संस्कार, वातावरण, सत्सङ्ग सब कुछ प्राप्त हुआ है तो इसमे कर्तव्य यही मात्र है कि मेरा वह सहज ज्ञानस्वरूप मेरी दृष्टिमे रहे। बाहरी अन्य पदार्थ किसी प्रकार कुछ परिणमे, मेरा तो मेरेसे ही पूरा पडेगा। ऐसी दार्शनिक दृष्टि रखनेवाले अनेक लोग भी प्रयत्न तो इसीलिए करते है और करना चाहिए, पर इस विधिसे प्रयत्न करते हुए अनेक दार्शनिकोने कुछ बीचकी बातोका आग्रह करके ज्यो विकल्पों को पकडा त्यों भीतर की बात हाथसे खुल गई और इस तरह एकान्तके आग्रहमे वे अपना भी सर्वस्व खो बैठे। हाँ सन्तोष जरूर थोडा बहुत कर रहे है कि हम कोई विलक्षण बात परख रहे हैं। तब वे अपनी कल्पना माफिक सन्तोष कर रहे है, पर हाल यह हुआ कि जो एक थोडी कुछ ओट थी, दार्शनिक मंतव्य था कि जिससे इस ज्ञानज्योतिको सुरक्षित बनाये

रहनेमे मदद मिले, मतव्योको ही एकान्त आग्रहसे दूषित कर लिया, तब इस तत्त्वसे वे हाथ धो बैठे। प्रयोजन यह है कि स्याद्वादका आग्रह, आश्रय किए बिना आत्माकी पर्यायकी सिद्धि नही होती है।

एकान्तके आग्रहमें हानि—इस परिच्छेदमे अनेक दार्शनिकोकी दृष्टियाँ बतायी गई है और साथ ही यह भी जाहिर किया गया कि ऐसा दार्शनिक अभिप्राय बननेकी सम्भावित आधार दृष्टि क्या हो सकती है? उन वर्णनोको सुनकर उसी तरह अन्य अन्य दृष्टियोंके सम्बन्धमे भी समझना चाहिए कि और भी अनेक प्रकारकी जो दृष्टियाँ है वे दृष्टियाँ भी यदि स्याद्वादका आश्रय लेकर हुई है तब तो वे सम्यक् मार्गसे च्युत कराने वाली न होगी, किन्तु स्याद्वादका आलम्बन छोडे हो और आग्रहमे आ गया हो तो उसको स्वरूपसे च्युत होना पडता है। बच्चा माँ को प्रिय होता है, वह एक दो ऐब कर बैठे तो माँ उसपर दृष्टि नही देती है। और मा उस बच्चेपर अनुराग रखती है, पर कदाचित् बच्चा किसी एक बात पर आग्रह करके बैठ जाय तो माँके प्यारसे भी वह हाथ धो बैठता है। और चाहे कुछ कालके बाद वह प्रीतिसे बोल ले, मगर तत्काल तो उसको पीटना, डाटना, उपेक्षा करना, छोडकर भागना इन सब बातोका बोझ उस बालकको ही सहन करना पडता है। तो किसी एकान्तका आग्रह उसकी बरबादीका ही हेतुभूत होता है।

लोकदृष्टिमें तथा निरंशवादियोंकी दृष्टिमें सामान्यका स्वरूप—अब कुछ अन्य दृष्टियोके सम्बन्धमे भी एक दो उदाहरण ले लीजिए। प्रमाण निर्णीत बात है कि पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है। न वह कोई विशेष मात्र होगा, न कोई केवल सामान्य मात्र होगा। और यह भी परख लीजिये—वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमे जितने दर्शन बने हैं वे सब दर्शन इस सामान्य और विशेषके किसी आग्रह या विपरीत वर्णनके आधारपर बने है। कितने दर्शन है जगतमे? सैकडो। और ३६३ पाखण्डमत तो उल्लेखमे बताये गए ही हैं, पर वस्तुस्वरूपके दर्शनमे जो विभिन्नताये आयी है उन सबका मूल आधार यह है कि सामान्य और विशेषके स्वरूपमे कोई समझनेमे गल्ती की। केवल इतना ही आधार है सारे दर्शनोका, क्योकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक हुआ करती है। अब उसके बारेमे कोई कुछ भी निर्णय बनायेगा तो सामान्य और विशेषका सम्बन्ध रखकर ही बना सकेगा। और कोई पद्धति ही नही है। तो अब इस सामान्यविशेषात्मक पदार्थमे सामान्य क्या है, विशेष क्या है और किस-किस प्रकारकी त्रुटियाँ होती है सामान्यको समझनेमे और विशेषको समझनेमे, उसके दो उदाहरण दे रहे हैं। तत्त्व तो इतना विस्तृत है कि जिसका वहुत बडा विस्तार किया जा सकता है। कितने ही दिन तक समझा जाय, कहा जाय, तो भी पर्याप्त न होगा, लेकिन यह दार्शनिक विषय थोडा कठिन विषय है और आध्यात्मिक प्रसग

मे इसको लम्बा नही किया जाना चाहिए, तो हम एक सामान्यतया बतला रहे है सामान्य। साधारणतया लोगोने सामान्यके सम्बन्धमे बताया कि जो सबमे बात पायी जाय उसे सामान्य कहते है। यह तो लोगोका एक सीधा निर्णय है।

अब शब्दपद्धतिसे देखें तो सामान्य किसे कहते है ? तो समाने भव सामान्यं। जो समान समानमे बात हो उसे सामान्य कहते है। यह बात भी वहाँ मिल गई। अब उसका यह विश्लेषण कीजिए कि वह सामान्य उस उस व्यक्तिमे बसा हुआ है, किस तरह बसा हुआ है ? तत्त्व तो यही है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक पदार्थ सामान्यरूप और विशेषरूप हैं लेकिन इस मतव्यसे हटकर कोई दार्शनिक यह कहता है कि सामान्य तो कुछ भी चीज नही है। केवल अतदव्यावृत्ति है। अर्थात् वह नही है, वह नही है, यह व्यावृत्ति जहाँ नही हो, इस तरहके हटाव न हो उन हटावोके अभावका नाम सामान्य है। जैसे मनुष्य, सामान्य क्या ? गाय नही है, घोडा नही है, मकान नही है, बिच्छू नही है, उस मनुष्यके अतिरिक्त जितने अन्य अन्य पदार्थ है उन सब पदार्थोका जो हटाव है उसका तो लोगोने विशेष नाम रख दिया और मनुष्य मनुष्योंमे तद्व्यावृत्ति न होना इसका सामान्य नाम रखा है। अब दार्शनिककी सूझ देखियेगा—किस-किस ढंगसे वे सामान्यकी तहको टटोलना चाहते थे, लेकिन अतद्व्यावृत्ति ही यदि सामान्यका स्वरूप माना जाय तो वह तो अभावमात्र है। तो जो अभावरूप है वह कभी अर्थक्रियाकारी नही हो सकता।

अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्यके स्वरूपकी मीमांसा—अब इस अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्य की मीमासा कीजिये—वहाँ अतद्व्यावृत्ति तब ही लोग बता रहे है जब कि समानपरिणाम मौजूद है। सामान्य मनुष्यमे यदि समान परिणाम, समान शकल, समान स्वरूप, समानशील न हो तो कौन यह कह सकता है कि मनुष्य मनुष्यमे तद्व्यावृत्ति नही है। घोडा न हो, हाथी न हो, बिच्छू न हो, इन बातोको उसने कैसे कहा ? तब कहा कि जब सब मनुष्योमे समान-समान परिणाम नजर आये। तो यदि समान परिणाम नही है और समान परिणाम का निषेध करके अतद्व्यावृत्तिके द्वारा उस सामान्यको बता रहे है तो समान परिणाम का यदि आधार न हो तो अतद्व्यावृत्ति नही बन सकती। उसकी व्यावृत्ति नही है, यह कथन नही बन सकता। वह तो हुआ विशेषका स्वरूप कि घोडा नही, अमुक नही, पर अतद्व्यावृत्ति जैसे यह मनुष्य अन्य मनुष्यसे अलग नही, यह मनुष्य अन्य मनुष्यसे भिन्न नही, उससे भिन्न नही। भिन्न न होनेका नाम सामान्य है। तो जैसे व्यक्तिमे विशेषतत्त्व न माना जाय तो वहाँ अन्यापोह घटित नही हो सकता, तद्व्यावृत्ति घटित नही हो सकती, इसी प्रकार समान परिणाम न माना जाय तो अतद्व्यावृत्ति भी घटित नही होती। किसी सामान्यका स्वरूप किसी तरहसे तोड़मरोड करके जो रखा है उसका निराकरण सुनकर

एक दूसरा दार्शनिक आया, बोला कि यह तो ठीक नही कहा जा रहा है--हमारी बात सुनो—वह सबको ठीक जंचेगी। "क्या बात है ? सामान्य दुनियाभरमे एक है और सब जगह व्यापक है। लो ये भाई भी बहुत भले आये, कहते कि एक सामान्य है और सारी दुनियामे व्यापक है। तो भला वे बतलायें कि जिसको सर्वव्यापक कह रहे है उनके सर्व-व्यापकका मतलब क्या है ? क्या वह सब जगह सर्वपदार्थोंमे सारे क्षेत्रमे व्यापक है या उस व्यक्तिमे सबमे व्यापक है जिसका सामान्य बताया जा रहा है ? जैसे कोई कहे कि मनुष्यत्व सामान्य है और वह एक है, सर्वव्यापक है तो क्या सर्वव्यापकके मायने जितनी दुनियामे जगह है सबमे व्यापक है या जितने मनुष्य हैं उन सब मनुष्योमे व्यापक है ? क्या मतलब है ? यदि कहोगे कि जितनी जगह है दुनियामे उतने सबमे व्यापक है तो यह तो प्रत्यक्षसे भी गलत बात लग रही है। आप हमसे १० हाथ दूर बैठे हैं, यहाँ बीचमे कोई मनुष्य नही है तो यहाँ कहाँ मनुष्यत्व भरा है ? और फिर वे यह बतायें कि वह मनुष्यत्व जब सब जगह व्यापक है तो यह क्या वजह हुआ कि बीचमे जो गाय खडी है उसमे तो मनुष्यत्व लग नही बैंठा और जो ये दो हाथ पैरके आदमी हैं इनमे मनुष्यत्व चिपक गया ? सो क्या कारण है ? क्योकि वह मनुष्यत्व यदि सारी दुनियामे एक सर्वव्यापक है, वहा जो आया सो ही मनुष्य कहा जाना चाहिए। उस मनुष्यत्वकी चिपक अथवा उस मनुष्यत्वका स्पर्श जिसको हो जाय वही मनुष्य बन बैठेगा, लेकिन ये दो हाथ पैर ऐसे अगके ऊपर ये मस्तक, मुख आदिक धारण करनेवाले इन मनुष्योमे ही मनुष्यत्व क्यो आया ? अन्यमे क्यो नही आया ? सो सामान्य एक व सर्व सर्वगत है, ऐसा यहाँ सिद्ध नही होता। यदि यह कहा जाय कि जो व्यक्ति व्यक्ति है मनुष्य उन सब मनुष्योमे मनुष्यत्व व्यापक है। तो इसका अर्थ यही तो हुआ ना कि अन्य जगह नही है। मनुष्यत्व मनुष्यमे है। अब इसकी भी बात सोचो--मनुष्यमें मनुष्यत्व है, इसका अर्थ आप क्या लगा रहे ? क्या यह अर्थ है कि मनुष्योमे ही मनुष्यत्व है या मनुष्योमे मनुष्यत्व ही है या मनुष्योमे मनुष्यत्व रहता ही है। आपका वह निर्णयात्मक एव कहा लगा है, इसको तो बताइये--यदि कहोगे कि मनुष्यमे ही मनुष्यत्व है तब अब यह बतलाओ कि वह मनुष्यत्व प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिमे ही व्यापक है या उसकी चीज फैलकर दूसरे मनुष्यमे है ? यदि इस तरह है तो पहिले वाले दोष हैं और यदि नही है तो यही हम कह रहे हैं कि मनुष्योमे ही मनुष्यत्व है, वह मनुष्यत्व समान समान व्यक्तिमे ही है और साथ ही उसमे विशेष हैं तब वह सामान्यविशेषात्मक हो गया। यदि यह कहा जाय कि मनुष्योमे मनुष्यत्व ही है तो इसके मायने हुआ कि मनुष्यमे और कुछ नही है, न अस्तित्व है, न वस्तुत्व आदिक है, बस मनुष्यत्व ही है। एक एवका अर्थ अन्यका निषेध हुआ करता है सो बात है गलत। यही क्रियामे एव लगानेका प्रसङ्ग है।

मनुष्यमे मनुष्यत्व रहता ही है। इसके मायने औरमे भी मनुष्यत्व रहता है। तो वस्तुको सामान्यविशेषात्मक माने बिना वस्तुकी व्यवस्था नही बन सकती। तब यह एकान्त आग्रह चला कैसे ? तो उनकी दृष्टि रही सामान्य की द्रव्यदृष्टि, सबमे साधारणतया निरखनेकी साधारण दृष्टि, पर उसका एकान्त होनेमे वस्तुकी व्यवस्था नही बनती।

पृथक् सामान्यरहित विशेषके मन्तव्यकी मीमांसा—अब कुछ जरा विशेषकी भी बात समझ लीजिए। विशेषके सम्बन्धमे लोग इतने आग्रहमे आ गए कि अनेक दार्शनिकोंका यह कहना है कि जो विशेष है वही पूरा पदार्थ है। जैसे क्षणिकवादी लोग, अथवा जो विशेष है वही पूर्ण पदार्थ है, कोई अवयवी नही है, एक-एक परमाणु ये स्वतंत्र स्वतत्र पदार्थ है। कोई अवयवी, कोई प्रतिमा पिण्ड, कोई वस्तु नहीं है। लो विशेषके एकान्तमे इतना उतर गए, किन्तु सामान्यरहित विशेष भी असिद्ध ही है। सामान्यरहित विशेषको स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ माननेवाले दार्शनिक विशेषका स्वरूप यो कहते है—"नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या." नित्यद्रव्यमे रहनेवाले अन्तिम अवच्छेदक भाव याने जिनमे फिर और विशेष भेद सोचनेकी गुंजाइश न हो सके वे विशेष कहलाते है। ये व्यावृत्तिप्रत्ययके हेतुभूत है किन्तु यह लक्षण असगत है—प्रथम तो सर्वथा नित्य द्रव्य कुछ होता ही नही है सो लक्षण असंभव दोषसे दूषित है। दूसरी बात यह है कि पदार्थमे स्वय तादात्म्यरूपसे रहनेवाले विशेषभाव स्वय व्यावृत्तिप्रत्ययके हेतुभूत है। जैसे गायोमे पाये जाने वाले सफेद, पीली, काली आदि गायके विशेष एक दूसरेसे जुदा परखानेवाले विशेष है। ये विशेष जिस द्रव्यके है वह द्रव्य सामान्य रूप भी है, यो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जो लोग विशेषको पृथक् पदार्थ मानते है और ये विशेष एक दूसरेको व्यावृत्त बतानेवाले ज्ञानके कारणभूत है वे यह बतायें कि विशेष भी तो अनन्त माने गये है, फिर उन विशेषोको परस्पर पृथक् बतानेके कारणभूत कोई अन्य विशेष है या ये ही विशेष अपनेमे भी परस्पर व्यावृत्तिका ज्ञान करा देनेके कारण है। यदि विशेषोमे व्यावृत्तिप्रत्ययका हेतुभूत अन्य विशेष है तब उसके लिये अन्य विशेष माना जायगा यो अनवस्था हो जायगी, यदि कहा जाय कि वे ही विशेष परस्पर व्यावृत्तिप्रत्ययके कारणभूत हैं तो पदार्थमे स्वयं ही पाये जानेवाले विशेषोको ही व्यावृत्तिप्रत्ययका कारण मान लो पृथक् विडम्बित विशेषोकी कल्पना व्यर्थ है। पदार्थ स्वय सामान्यविशेषात्मक है।

पृथक् सामान्य विशेषके मन्तव्यका वैयर्थ्य—अब यहाँ यह निरखिये कि ऐसे सामान्य और विशेषके आग्रहमे उनको भीतरमे सन्तोषका साधन क्या मिला ? कुछ भी नही मिला। जैसे कहते है ना कि चले तो थे छब्बे होनेके लिए और हो गए दूबे, तिबे, चौबे आदि। चौबे कहते है चार वेदोके जाननेवाले को, तो चले तो थे चार वेदोके जाननेवाले चौबे छब्बे बननेको और हो गए दुबे (दो वेदोके जाननेवाले)। सो यही हाल है इन एकान्तका अ

करनेवालोका। वे सब ईमानदारीके साथ चले तो थे आत्मकल्याण का पोषण करनेके लिए, मगर इतने आग्रहमे चले कि उनका जो अन्तः तत्त्व था वह भी छूट गया। और जब सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ माना गया—यह मैं स्वय आत्मा सामान्यविशेषात्मक हू—ओह ! यह मैं हू, लो हो गया विशेषवाद। और जहाँ होनेका अनुभव मात्र है वह हुआ सामान्यवाद। यह तो कही योगस्थितिकी बात और यहाँ ही जब निर्णयमे आता है, उपयोग निर्णयमे आता है तो इसका स्वरूप इसकी मूर्ति क्या दिखाई जाय ? वे अनन्त शक्तियां है, उन सबका जो अभेद पिण्ड है वही मैं हू। शक्तियोरूपमे जो नजर आता था उन सबका अभेद हो तो उसके मायने एक आत्मस्वरूपकी व्यवस्था बनी, सो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हुआ। यो पदार्थ जिस तरह सामान्यविशेषात्मक है उसी तरहसे मानकर चलें। तो हमको कल्याण क्यों करना चाहिए ? उसका उत्तर भी मिलता है।

अब एक थोडीसी बात और भी समझनेके लिए कही जा रही है कि लोग कहते हैं कि वेद अपौरुषेय है। ऐसा क्यो कहा ? चाहे उन्होने यह जाना हो कि यदि यह कह दिया जाय कि ये वेद ये शास्त्र आकाशसे उतरे हैं तो लोगोमे प्रमाणताकी छाप ज्यादह बैठ जायगी। इसमे गल्ती हो ही नही सकती। ये तो आकाशसे उतरकर आये या जो भी बात हो, लेकिन इसको यदि शब्दानुसार देखा जाय तो देख लीजिए। पौरुषेयका अर्थ है कि लोकमे जो मनुष्य पाये जा रहे हैं उन सबकी जो करतूत हो उसको कहते हैं पौरुषेय, और इससे विलक्षण किसी शक्तिसे सम्बन्धित हो तो उसे कहते हैं अपौरुषेय। तो वेद मायने ज्ञान। वह ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान अपौरुषेय है, साधारण पुरुषोमे सम्भव नही हो सकता है। वह तो भागवत वेद है, याने भगवानका ज्ञान है, भगवानमे सम्भव है। यो वेद अपौरुषेय है। यदि यह आगमकी बात समझी जाय तो यह आगम भी अपौरुषेय है। यह स्याद्वाद आगम, यह समस्त तत्त्वोका यथार्थ निरूपण करनेवाला आगम क्या साधारण पुरुषोसे आया हुआ है ? क्या इसको किसी मनुष्यने किसी झौपड़ीमे एकान्तमे बैठकर इरादा करके बनाया है ? यह साधारण पुरुषोसे समागत नही है। यह तो अपौरुषेय है। इन साधारण पुरुषोसे विलक्षण जो भगवान जिनेन्द्रदेव हैं उनके ज्ञानमे जो कुछ भी भाषित हुआ वह उनकी दिव्यध्वनिसे प्राप्त हुआ है। अत यह ज्ञान, ये आगम, ये वेद अपौरुषेय है। लेकिन अपौरुषेयका मर्म यह लोगोने न समझ पाया। उनकी समझमे यह बात आयी कि इन दिखने वाले पुरुषोसे विलक्षण तो कोई हुआ ही नही करता है, कोई अभी तक दीखा ही नही है, इससे उनको ये आगम किसी आप्तसे प्रकट हुए यह उन्हे रुचिकर न हुआ। वेद मायने ज्ञान, सो पूर्ण ज्ञान पुरुषोमे नही है, किन्तु भगवानमे है। वेद मायने आगम सो यह पूर्ण ज्ञान अपौरुषेय है, पुरुषप्रणीत नही है, यह तो अपौरुषेय है। वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनि

से उतरा है, आया है। ये आगम भागवत है, भगवान् श्री जिनेन्द्रसे चले आए हुए है। इसकी कथामे कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि चतुर्मुख ब्रह्माके मुखसे ये वेद प्रकट हुए है। उनकी यह बात भी इस अपौरुषेयके मर्मको साबित कर रही है। चतुर्मुख भगवान जिनेन्द्र देव के मुखसे निकली हुई दिव्यध्वनि हमे शिवमार्गको प्रदान करनेवाली है। उन जिनेन्द्रदेव के कुछ ऐसा ही अतिशय है कि उनका मुख चारो ओर दिखता है। यदि ऐसा न हो तो बैठनेके पीछे ही बड़ा झगडा पड जाय। कोई पीठ पीछे बैठकर भगवानके दर्शन ही न करना चाहे। सभी भगवानके मुखके सम्मुख बैठकर दर्शन करना चाहे, पर वहाँ ऐसा कोई झगडा नही है। प्रभु चतुर्मुख हुये, उनका मुख चारो ओर दीखा, उन प्रभुके मुखसे दिव्यध्वनि खिरी, गणधरो ने उस दिव्यध्वनिको झेला, उस आगमको बादमे फिर अन्य महर्षियोने प्रकट किया। देखिये तात्विक बात तो यह है, पर लोगोने इस बातको अन्य-अन्य ढंगोसे माना। खोटे चारित्र वाले देव, गणेश, महर्षि आदि जिनका चारित्र रागी द्वेषी जीवोके समान दिखाई देता हो, इस तरहसे प्रसिद्धि हो गयी।

नय चक्रकी गहनता व नयचक्रसे निर्णय करके नयपक्षातुएण अन्तस्तत्त्वमें मग्न होनेके कर्तव्यका स्मरण—जितने अभिप्राय है सबकी आधारभूत कोई मूलमे दृष्टि हुआ करती है, अतएव बड़े विवेकपूर्वक समझने समझानेका उद्यम करनेवाले लोग ईमानदारीसे चिग गए हो, यह तो विश्वासमे नही आता, पर ज्ञानकी, नयकी ही कोई चूक बन गई, यह संभव है, क्योंकि नयचक्र एक ऐसा घनघोर जंगल है कि इसमे चलते हुए पथिक कई जगह भूल भटक सकते है। तो केवल एक नयकी भूलके परिणाममे जो ऐसे अनेक वस्तु-स्वरूपके बतानेवाले दर्शन है उनकी सम्भावित आधारभूत दृष्टिको निरखा जाय तो यह सब समन्वित हो जाता है। इन दृष्टियोके अतिरिक्त और भी इतने मत है कि जिनकी निश्चित कोई सीमा नही, क्योंकि जितने विचार है उतनी ही दृष्टियाँ हैं और जितनी दृष्टियाँ है उतने ही मत है, लेकिन उन सब मतोका निर्णय युक्तिबलसे, न्यायबलसे कर लेना चाहिए और उस विसम्वादसे हटकर अपने आपमे अपना निर्णय बनाकर इस अन्तस्तत्त्वकी उपासना मे अपना समय अधिक लगाना चाहिये। इन सब नयोकी परख हो जानेसे सत्य दृष्टिका दृढ-तम निर्णय हो जाता है। सही निर्णयमे पहुचनेके पश्चात् निर्णय व नयके विकल्पसे भी परे होकर अखण्ड सहज ज्ञानस्वभावके दर्शन ज्ञानमे तृप्त होना चाहिये। प्राप्त बुद्धिका वैभव व सदुपयोग यही है।

ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्ति !!!

॥ इति अध्यात्मसहस्री प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ॥

अध्यात्मसहस्री प्रवचन नवम भाग

संसारमे यह जीव अब तक अपनी रक्षाके लिए, अपने हित और आनन्दके लिए जगह जगह अनेक पदार्थोंमे अपना लगाव जोड जोडकर श्रम करता आया, किन्तु इसने कभी भी अपने परमपिताकी सुध नही ली। वह परमपिता एक चैतन्यस्वभाव अनादि निधन सहज निश्चल जो इस मुझ उपयोगके विमुख होनेपर भी अलग होता नही है और मुझ उपयोगके सही हो जानेपर व्यक्तरूपमे अपना प्रसाद ला देता है। इस परमपिताकी सुध न लेनेसे, इसकी शरण न गहनेसे अब तक इसने लाखो योनियोमे, लाखो करोड कुलोके देहमे जन्म ले लेकर विडम्बनाये सही। उस ही परमशरण, परमपिता चैतन्यस्वभाव कारणसमयसार जो किसी भी ज्ञानी योगीको प्रियतम हो सकता है, जिससे प्रिय ससारमे और कुछ भी चीज नही है, उस ज्ञायक स्वभावका विशद वर्णन करनेके लिए अब इस परिच्छेदमे प्रयत्न किया जा रहा है। उस परमशरण, परमगुरु, परमदेव समयसार परमात्मतत्त्वका वर्णन करनेके लिए पहिले उसके अनर्थान्तिर शब्दोका परिचय दिया जा रहा है। उसके कितने नाम हैं ? उसके नाम तो कितने ही रखे जा सकते हैं। और १००८ नाम सहज सिद्ध सहस्रनामस्तोत्रमे बताये गए हैं जिनसे उसका परिचय होता है। नाम रखा जाता है परिचयके लिए। कुछ लेना देना हो, कोई काम हो ऐसे ही प्रयोजनसे तो उसका नाम रखा जाता है। नाम रखे विना लेना देना किसी प्रकार बन नही सकता है, इसलिए उसका नाम तो रखा ही जाना चाहिए। तो उसके यद्यपि अनेक नाम हैं फिर भी कुछ प्रसिद्ध नाम बतला रहे हैं।

सामान्य आत्मा—इस अतस्तत्त्वको यहाँ विशेष्य शब्दसे अतस्तत्त्व कह लीजिए जिसका कि यहाँ नाम बताया जायगा। वह अन्तस्तत्त्व सामान्यात्मा है। सामान्य आत्मा का अर्थ है जो प्रतिक्षण, प्रतिकालमे, प्रतिपर्यायमे रह ही रहा है, वह कभी बदला नही है। जो बात अन्त नही बदली है, परिवर्तन भीतर नही हुआ है उस स्वरूपकी दृष्टिसे कहा सामान्यात्मा। जो बात बदल गई, जिनका परिणमन हो गया उनको सामान्य न कहेगे। वह सामान्य क्या हुआ ? सब अवस्थाओमे रहकर भी जो एकत्व कभी छूटा नही है, शाश्वत रहे उस एकत्वको कहते है सामान्य। वह सामान्य आत्मा सुधमे न आये, इसकी दृष्टिमे न आये, ऐसी ससारमे चीजे दो ही तो हैं—उत्थान और पतन, भ्रमण और मुक्ति, उलझन और सुलझन। तो उलझन और सुलझनके बीचकी बात देखेगे तो बडीसे बडी दिखेगी और छोटी देखेगे तो छोटीसे छोटी दिखेगी। बडी दिख रही है कब ? जब उलझने भरी हो तब। कितना बडा आवरण है, कितनी बडी विडम्बना है, कितने कठिन काम हो रहे है। चारो

गतियोमे भ्रमण, कीडा मकोडा आदिकके शरीरोमे जन्म, कितनी-कितनी आकुलताये, बहुत बडी चीज दिख रही है और जरा उस सुलझनकी दृष्टिमे आया तो उसे लगा कि वहाँ तो एक जरासे नुक्ता बराबर ही काम था उल्टे और सुल्टे होनेका। दृष्टि ज्ञान, चारित्र, गुण, कला, वही सबके सब है। जरा भी थोडा बाहरकी ओर दृष्टि उन्मुख हो गयी बस यह सारी विडम्बना बन गयी और कभी अपनी ओर उन्मुख हो गयी दृष्टि, तो सारा श्रेय अभिमुख है। सो इसकी इस उन्मुखता और परान्मुखतामे भी क्षेत्रकृत कुछ भी अन्तर नही आता। एक अगुली है, इसको बाहरकी ओर मुडाये, सकेतमे लाये और अपने आपकी ओर सकेतमे लायें तो इसमे तो थोडा कुछ श्रम अथवा क्षेत्रकृत अन्तर आ जायगा, लेकिन इस उपयोगसे बाहरकी ओर मुख करनेमे और अन्दरकी ओर मुख करनेमे क्षेत्रकृत कोई अन्तर नही आता। तो अब ध्यानमे लाइये कि कितनी छोटीसी बात है जिसका कि इतना बतगड़ बन गया है। अन्दरमे देखिये इसका उपाय भी कितना छोटासा है कि अनन्त संसारका भ्रमण भी ध्वस्त हो जायगा। उपाय भी क्या है ? बस अपने उन्मुख हो जाय, यही तो उपाय है। मुख तो करेगा कही न कही। किसी न किसी ओर उपयोग तो होगा ही। तो आत्मामे चाल ही यह है, आदत यह है कि उपयोग करना। इससे आगे तो आत्माका दूसरा कुछ प्रयोजन नही। बाकी तो सब सोचनेका ऊधम है। तेरी चाल इतनी है कि तू उपयोग कर तो तेरी चाल तो नही काट रहे। अरे तू विश्रामपूर्वक बैठकर, वहीका वही रहकर, एक प्रदेश भी टससे मस न होकर, किसी भी प्रकारका जरा भी कष्ट न मानकर अपने आपके अन्दर गुप्त तो हो जा। तुझे कोई जरा भी बाहर खीचेगा नही, तू तो बस वही आरामसे रह, खुश रह, और वहीका वही रहकर एक विलक्षण उपयोगकी अभिमुखता कर ले। इस कामके करने पर तुझे कोई श्रम भी विशेष नही करना है। तेरे इस प्रयासका फल यह होगा कि ससार का इतना बडा बतंगड जो तेरे पीछे लगा फिर रहा है वह सब क्षणभरमे ही खतम हो जायगा। अरे इतनी बडी बात न कर सके तब तो फिर संसारका यह भटकना ही बना रहेगा। यहा उस सामान्यात्माकी बात बतला रहे है जो परमपिता परमशरण, लोकोत्तम, मगल, सर्वस्वशरणभूत है उस सामान्य आत्माका वर्णन इस परिच्छेदमे आयगा।

चैतन्यस्वरूप--इस अन्तस्तत्त्वका नाम लोग चैतन्यस्वरूप कहते है, यह अन्तस्तत्त्व चैतन्यस्वरूप है। अन्तस्तत्त्वके मायने स्वय निज भीतरी असली सही चीज, वह चैतन्यस्वरूप है। उसमे चेतनेका स्वभाव पडा है, वह रचा ही इसी प्रकार है, अनादिसे स्वयसिद्ध ही इस तरहका हैं, उसमे कला ही यह है, चीज ही यह है। जैसे कोई प्रकाशस्वभावी रत्न है, उसे कहीसे कही उठाकर धर दो, पर वह प्रकाश बना ही रहेगा, रत्नका ऐसा स्वभाव ही है। वह स्वभाव जायगा कहा ? ऐसे ही इस अन्तस्तत्त्वका स्वभाव ही है कि वह चेते,

चैतन्यस्वभाव मात्र। तो ऐसे चैतन्यस्वभाव मात्र इस अन्तस्तत्त्वकी सुध लेनेमे ही हम आपका हित है। जिसने अपनी दृष्टि इस ओर की उसके लिए सब समस्या सुलझ जाती है। अभी तो लोगोको कोई ठौर ही नही मिल रहा है कि हम किसको पकडकर रह जायें, किसको मानकर रह जायें ? कही ठौर नही मिल रहा है। गृहस्थीमे, परिवारमे, धनिकोमे, किन्ही लोगोमे, सब जगह देख लो—घरके स्त्री, पुत्र, माता, पिता, बन्धु, मित्र आदिकको मानते कि ये मेरे है, ये ही मेरे लिए सर्वस्व हैं, शरणभूत है, ये ही मेरे लिए सहाय हैं, इनसे मुझे कभी धोखा हो ही नही सकता, ये सब एक है, ऐसा मानकर जिसको ग्रहण किया है उसको ही स्वेच्छानुसार ग्रहण नही कर सकते। कषायें बनती है, बदलती हैं, मन-मोटाव होता है, अनुकूल प्रतिकूल बाते बनती हैं, आपसमे टूटाफाटी हो जाती है. इसमे क्या तत्त्व रखा है, ये मेरे कुछ भी हितरूप नही हैं, ऐसा सोचकर वे ही इष्ट परिजन विलग-विलग हो जाते है। बताइये जगतमे ऐसी कौनसी चीज है, धन वैभव सोना चाँदी रत्न, साम्राज्य आदिक कि जिसमे लगे ही लगे रहना चाहे, वहाँसे हटें नही, व्याकुल न हो ? तो कोई पद ससारमे ऐसा नही है, लेकिन अपने आपमे अन्त प्रकाशमान यह कारण-समयसार, यह अतस्तत्त्व, यह सहजस्वरूप जो ज्ञानियोको स्वसम्वेदन गम्य है, अज्ञानियोको जिसका कुछ सम्वेदन नही हो पाता है ऐसा यह शरणभूत समयसार यह जिसकी दृष्टिमे आया. उसको फिर कभी बदलनेका भाव नही हो सकता कि अब इसको बदलकर और कुछ पकड़कर देखे। जिसने अपने अन्त प्रकाशमान इस ज्ञायकस्वभावका ग्रहण किया है उसका यह निर्णय बना कि सदाके लिए बस मेरे लिए यही है अन्य कोई नही, उसका अनुभव भी होता है तो चेतनरूपमे होता है इस कारणसे वह चेतना स्वभावरूप है।

चेतन——इस शरण्य आत्माका नाम चेतन भी है, जो चेते सो चेतन। तो केवल चेतनके रूपमे निरखकर उसे पुकारो। दादा, मामाके रूपमे उसे मत निरखो, वह तो चेतन है, दादा मामा नही है, वह भिन्न-भिन्न पोजीशन वाला नही है। मेरा जो स्वरूप है उसी रूपमे उसे देखिये——यह मैं अन्तस्तत्त्व एक जाननेवाला हूँ। चेतन सामान्यतया जहाँ बन रहा हो वह मैं हूँ, यह विचार, ये विकल्प तरग, ये परिचय, ये बाहरी सुख, ये सब मैं नही हू। मैं चेतन हू, इस चेतनका इस परिच्छेदमे वर्णन होगा—जिसका कि शरण गहकर ससारके ये सर्व सकट टाले जा सकते हैं।

ब्रह्म एवं परमब्रह्म—इस अन्तस्तत्वका नाम है ब्रह्म और परमब्रह्म। ब्रह्म शब्दसे यो कहते हैं कि यह अन्तस्तत्व अपने गुणोसे बढता हुआ स्वभाव रखता है। इसके गुण है ज्ञान, दर्शन, जानन देखन, प्रतिभास करना, तो ज्ञान ऐसा सन्तोष खुदमे नही भरा है कि मैं इतना ही ज्ञान करके रह जाऊँ, और मुझे जरूरत क्या है ? देखिये—ज्ञान करनेवाले

सम्यग्दृष्टि या वर्तमान स्थितिमे ज्ञानका धनी आत्मा तो संतोष कर लेगा, ज्ञानका मालिक यह आत्मा यह सतोष कर लेता है कि मुझे तीन लोकके पदार्थ जाननेसे क्या मतलब पड़ा है ? स्वको स्व जाने, परको पर, लेकिन ज्ञानमे यह सब्र नही पडा है कि हमने थोड़ासा ही जान लिया बस काफी हो गया । अरे वह तो ब्रह्म है, उसके बढनेका स्वभाव पडा हुआ हैं, ठीक है, तुम कर लो सन्तोष कि मेरे लिए इतना ही ज्ञान काफी है और सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्दृष्टिमे यह भाव बनता भी है । क्या करना ? स्वको स्व जानो, परको पर जानो, ठीक है, अपने प्रयोजनसे ऐसा हो गया, मगर ज्ञानगुणमे स्वयंमे ऐसी अधूरी जैसी बात रखना सगत नही है । वह तो बढेगा, बढकर इतना बढेगा कि इसमे लोकके सिवाय अलोकमे भी समा जायगा अर्थात् इसमे लोक अलोक सब समा जावेगे । और फिर भी भीतर इतनी हिम्मत रखेगा यह ज्ञानगुण कि ऐसे असख्याते लोक हो, कितने ही लोक हो उन सबको अपनेमे समा लेगा । इस तरह यह ज्ञानमे चूकि बढनेका स्वभाव पडा हुआ है वह कही रुकता नही है, इस कारण इसे ब्रह्म कहते हैं । इसीको परमब्रह्म कहते है, क्योकि इसका ऐसा शीलस्वभाव यह सब बात इस जीवमे एक विलक्षण है, उत्कृष्ट है, इस कारणसे इसीका नाम परमब्रह्म है । उस अंतस्तत्त्वके कुछ नाम बताये जा रहे है जो वास्तवमे मेरे लिए शरणभूत है, मेरे देव है, शास्त्र है, गुरु है, प्रमाण हैं । मुझे क्या करना चाहिए ? ऐसा कोई अगर प्रश्न करे तो उसके लिए यही प्रमाण है, यही करना चाहिए । क्या करना चाहिये ? बस यो रहना चाहिए, जैसा कि यह स्वरूप है । तो उस स्वरूपकी यहाँ चर्चा करते है उसके लिए कुछ उसके अनेक नाम बताये जा रहे है जिससे उस प्रभुकी विशेषता भी जाहिर हो और आगे प्रश्नोत्तर रूप यह वर्णन चलेगा तो प्रश्न करनेमे भी मदद मिलेगी ।

समयसार--इस अतस्तत्वका नाम है समयसार । समय कहते हैं सर्व पदार्थोको । जो अपनी गुण पर्यायोको प्राप्त हो उसे कहते है समय । सम् और अय ये दो शब्द इसमे पडे हैं । सम् का अर्थ है सम्यक्प्रकारसे, अय मायने चलना । अर्थात् जो भली प्रकारसे चले उसे कहते हैं समय । ये समय याने पदार्थ अनन्त है । उन सबमे सारभूत पदार्थ यह चेतन समयसार है, उन सब चेतनोमे भी सारभूत यह रत्नत्रयस्वरूप है और उसमे भी सार याने जिसके आधारपर रत्नत्रय है वह है, यही अन्तस्तत्व जो ९ तत्त्वोमे गत होकर भी अपनी एकताको नही छोडता । इसका नाम कोई समयसारसार रखले तो अच्छा है । रख ले अथवा समयसारसारसार रख लें कितने ही सार लगा दें और इसकी महिमा पा ले ? यह कुछ नही कह सकते । हम कितना ही सार लगा ले, सब सार लुप्त हो जायेंगे, केवल एक सार रहेगा, अतिनिकट वाला सार रहेगा । व्याकरणकी पद्धति भी यही है । राम शब्दका बहुवचनमे रुप बनता है तो अजैन व्याकरणके अनुसार यह बताया गया कि राम, राम, राम

ऐसा अनेक बार लिख लिखकर फिर उसमें बहुवचनका प्रत्यय लगायें और फिर अन्य सबका लोप करके एक राम शब्द रख ले, फिर उसकी संधि करके "रामा" ऐसा अपना पद बना लें। जैन व्याकरणके अनुसार हम कल्पनामें अनेक नाम रखलें, रख लेनेकी जरूरत नही, बहुवचनकी विवक्षा होनेसे कल्पनागत होते यो उसमें बहुत्व मानकर ही हैं। बहुवचन का प्रत्यय कर लें, तो कितने सार लिखे जायें ? लिख लिया, अन्तमें रहेगा एक सार, ऐसा यह समयसार है।

समयसार सहज रत्नत्रय भावका संकेत है। सम्, अय और सार ये तीन शब्द हैं। सम् मायने सम्यक्, अय मायने ज्ञान व सार (सरण) मायने आचरण, अर्थात् सम्यक्त्व, ज्ञान और आचरण ऐसा रत्नत्रयात्मक यह समयसार है। ऐसा रत्नत्रयस्वरूप, ऐसा यह शील रखनेवाला, परम आनन्दमय जिसका सहज शान्तस्वभाव बसा हुआ है उसकी ओर दृष्टि ले जाना चाहिये। प्रयोग करके धीरेसे मौन रहकर जैसे कोई सक्षिप्त छोटी चीज हो तो उसमे धैर्यतासे ही काम निभा पाते हैं इसी प्रकार धीर होकर, गम्भीर होकर, निश्चल होकर अपने आपमे हिलाव डुलाव न रखकर उस तत्त्वकी दृष्टि कर लीजिए। एक बार भी वह परमपरमात्मा, उसकी परख, उसका लक्ष्य दृष्टिमे आ जाय, नजरमे आ जाय तो फिर संसारसंकट उसका नियमसे टलेगा। एक बार तो दृष्टिमे आ जाय, फिर इस ज्ञानीकी यह धुन रहती है कि हे परमशरण, हे अविकार स्वभाव ! अब तुम मुझसे ओझल मत हो। इसके एवजमे चाहे कितने ही संकट आयें, उपद्रव आये, वे सब सह लेंगे, मगर हमसे अब ओझल मत हो। इसीका चित्रण है सुकौशल गजकुमार आदिकका उपसर्ग। इसे कहते है परमप्रीति, परम अनुराग। जिससे परम अनुराग होता है उसको ग्रहण करनेके प्रसगमे कितने ही कोई उपद्रव करे, मारे पीटे तो उसकी भी परवाह न करके उसे ही ग्रहण किया करते हैं। तब जिसे अविकार ज्ञानस्वभावका दर्शन हुआ है और जिसको इतने बडे भारी ससारके बोझको दूर कर देनेका मार्ग मिल गया है, आनन्द प्राप्त हुआ है, उसकी धुन यही है कि अब तुम ओझल मत होओ। उस तत्त्वको कहते है समयसार।

कारणसमयसार——इस अन्तस्तत्वका नाम है कारणसमयसार। समयसारको दो रूपोमे निरखियेगा——(१) कार्यसमयसार और (२) कारणसमयसार। कार्यसमयसार तो हैं प्रभु अरहत सिद्ध परमात्मा। तो हुआ क्या वहा ? जैसे कोई मिट्टीका घडा बनाता है तो पानी भी मँगाता, कुछ बारीक भूसा भी उसमे सानने के लिए मगाता, कुछ रग भी उसमे मिलाता और दड चक्र, थपथपा आदिक साधन भी मगाता, और उसके अनुकूल कुछ उत्साह भी जगाता, तब कही वह घडा बना पाता। तो इस तरहसे जो प्रभु हुए, परमात्मा हुए उनके परमात्मा बननेमें बताइये कहासे कौनसी चीज ला लाकर संचित की गई ? उस

परमात्माका निर्माण करनेके लिए बाहरसे क्या क्या साधन इसमे चिपटाने व जुटाने पड़े, जरा बताओ तो सही ?· ·अरे बाहरसे कुछ भी तो साधन नही लाने जुटाने पड़े। बाहरसे कुछ बात नही हुई ?· तो क्या प्रभु तारीफके लायक नही है ?···हाँ है भी। और दिख रहा कि नही भी है तारीफके लायक, क्योकि वह तो जो थे सो ही हो गए। वहाँ कोई विलक्षण बात नही हुई। जो स्वभाव था वह रह गया। वहाँ हटाव हटाव तो हुआ, ग्रहण कुछ नही हुआ। तो जो था वही रह गया, इस ही का नाम तो है कार्यसमयसार। वहाँ क्या रह गया ? जो था सो ही रह गया। "जो था" इस ही का नाम है कारणसमयसार। जो रह गया उसका नाम है कार्यसमयसार। तात्पर्य यह है कि जैसा जो सहजस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है, चैतन्यमात्र है, अपने आपके सत्त्वके कारण जो इसका सहजस्वरूप है वह है कारणसमयसार याने वह ही तो अब है। उसका प्रताप व्यक्त हो गया, प्रकट हो गया। जो अप्रकट है वह प्रकट हो गया। यही तो बात होती है परमात्मतत्वमे। तो इसी कारण उसको कारणसमयसार कहते है। उस परमात्मपदकी प्राप्तिमे अनिवार्य कारणता इसी तत्वमे है, अन्य पदार्थोमे नही है। यह कारणसमयसार यद्यपि सब जीवोमे बस रहा है लेकिन जब जैसा सुयोग जिसको मिलता है तब उसकी व्यक्ति होती है। जैसे घडा बननेकी योग्यता सब मिट्टीमे है। लेकिन जिस मिट्टीके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका योग मिल गया उसमे घडा रूप बन गया, पर कारणता सब मिट्टियोमे है। और ऐसी कारणता कारणसमयसार स्वभाव दृष्टिसे तो अभव्यमे भी पडी हुई है। सुमेरुपर्वतकी जडके नीचेकी मिट्टीमे भी घडा बननेकी योग्यता पडी हुई है। वहाँ वे मिट्टीके कण मिल तो न सकेंगे, मगर योग्यता वहाँ भी पडी हुई है। और इस मिट्टीमे तो कुछ बात बनावेंगे, करेंगे तब घडा बनेगा, किन्तु यहाँ समयसारको तो दृढता से निहारना भर है, केवल उपयोगको बदलना भर है। वह तो बडा सरलसा काम है, सीधा और स्वाधीन काम है। इस ही वृत्तिके द्वारा वह परमात्मा व्यक्त होता है, साध्य होता है। तो ऐसे इस अन्तस्तत्वको कहते हैं कारणसमयसार। इस अन्तस्तत्वका वर्णन किया जायगा, इसके लिए कुछ नामकरणकी बात यहाँ कही गई है।

कारणपरमात्मा—जिस अंतस्तत्त्वके आलम्बन करनेमे तत्काल भी संकट दूर हो जाते हैं और सदाके लिए संकट दूर हो जायें ऐसा पौरुष बन जाता है उस अंतस्तत्त्वके यहा कुछ नाम बताये जा रहे है। इसका एक नाम है कारणपरमात्मा। कारणसमयसार की तरह कारणपरमात्मामे भी वैसा ही स्वरूप है, फिर भी यहा परमात्मा शब्दसे कहकर यह स्पष्ट किया गया है कि लो परमात्मा उसे कहते है जो परम आत्मा हो। मा कहिये ज्ञानलक्ष्मी वह जहां कहो उत्कृष्ट प्रकट हो गयी हो ऐसे आत्माक नाम है परमात्मा। तो वह परमात्मा तो है व्यक्त कार्यपरमात्मा और कार्यपरमात्माका पर्यायदृष्टिसे कारणभूत

कारणपरमात्मा है १२ वें गुणस्थानवर्ती जीव। जिस पर्यायके बाद यह परमात्मापन प्रकट होता है उस पर्यायको कहेगे कारणपरमात्मा। और स्वभावदृष्टिसे कारणपरमात्मा है वह चैतन्यस्वरूप जो कि परमात्मा बनने पर प्रकट हुआ है उसे कहते है कारणपरमात्मा। तो कारणपरमात्माको यहाँ दो रूपोमे निरखना है। द्रव्यदृष्टिसे कारणपरमात्मा तो है शाश्वत अनादिनिधन अहेतुक असाधारण एक चैतन्यस्वभाव और पर्याय दृष्टिसे कारण-परमात्मा है १२ वें गुणस्थानवर्ती योगीश्वर। तो वहाँ जो परमात्मत्व प्रकट हुआ है, उस शुद्ध अवस्थामे भी कारणपरमात्मत्व प्रकट है और वह परमात्मत्व प्रतिक्षण प्रकट रहता है। परमात्मत्व एक परिणमन है। आत्माकी शुद्ध अवस्था वह प्रतिक्षण परिणम रही है। सो प्रतिक्षण परिणमनेके लिए कारण चाहिए उपादान कारण। तो वहाँ भी कारण-परमात्मत्व सदैव है। परमात्मत्व प्रकट होनेकी स्थितिमे यह द्रव्यदृष्टि वाला कारणपरमात्मा तो कही विदा नही हो गया है। ऐसी आशका यहाँ नही रखना कि जब कार्य-परमात्मा बन गया है तो कारणपरमात्मत्वकी क्या जरूरत है? अरे कार्यपरमात्मा हो तो गया है, किन्तु वह अपरिणामी नही है, प्रतिक्षण कार्यपरमात्मापन प्रकट हो रहा है, तो वह कार्यपरमात्मापन किसका आलम्बन लेकर प्रकट हो रहा है? वह है कारणपरमात्मत्व। अब वह कारणपरमात्मत्व जीवमे शाश्वत है, निगोदमे भी है, पर वहाँ कारणपरमात्मत्व की व्यक्ति कार्यपरमात्माके रूपमे नही है। सिद्धमे भी कारणपरमात्मत्व है और उसको कारणरूपसे उपादान करके प्रतिक्षण केवलज्ञान रूप हो होकर परिणम रहा है यह। जैसे अमृतचन्द्र सूरिने भी कहा है कि अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके प्रवेश करते हुए केवल ज्ञानोपयोगरूप हो होकर परिणमता रहता है ऐसा वह स्वयभू है, इस स्वयभूताका मात्र यह अर्थ न लेना कि पहिले क्षणमे केवली बन गए, स्वयभू हो गए अब तो स्वयंभू हो चुके। अब बारबार स्वयभूताकी क्या बात है? सो बात नही है। जब पदार्थ प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है तो प्रतिक्षण स्वयभूता है, प्रतिक्षण परमात्मत्व है, प्रतिक्षण केवलज्ञान है, ऐसा होनेके लिए जो वह निज कारण अनादि अनन्त ज्ञानस्वभाव है वह कारण बन रहा है। उपादानरूपसे वही चल रहा है। तो जो कारणपरमात्मत्व सर्व जीवोमे शाश्वत बना हुआ है उसकी दृष्टि जिसने की उसका संसार-संकट दूर हो गया।

संसारसे विरक्त संतोंका आराध्य कारणपरमात्मा—यह जीव जिस भवमे जाता है उस भवके थोड़ेसे ही समागमोको पाकर ऐसा विभोर हो जाता है कि मानो हमको यह अपूर्व ही सम्पदा मिली है, जो अभी तक कभी न मिली थी। जैसे कि भोजनकी आसक्ति रखनेवाले लोग वैसी ही दाल रोटी रोज-रोज खाते है लेकिन रोज ही उनको नई चीज मालूम होती है, अपूर्व चीज मालूम होती है। ऐसे ही ये व्यासक्त जन जिस भव

मे जाते हैं, जिस समागमको पाते है उस समागमको अपूर्व मान लेते है और उस ही आदतके अनुसार यह संस्कार इस भवमे भी पडा है कि जो समक्ष हो उसीको अपूर्व मान लिया। अपूर्व है समागम, लेकिन इतनासा परिचय यह क्या दम रख रहा है ? अनादिकाल हो गया भ्रमण करते-करते। कितने ही संग छोड चुके है, इससे भी इष्ट-इष्ट पदार्थ अनेक प्राप्त हुए थे, उन्हे भी छोड दिया, फिर वर्तमानका क्या समागम है ? कितनेके लिए संकोच करना, लिहाज करना, परिचयकी दृष्टि बनाना। किन्तु उनके ही आधारपर अपना सब कुछ निर्णय करनेका वही संस्कार यह मोही जीव लादे हुए है, इसका भी उच्छेद तत्वज्ञानी जीव कर लेता है। तीन लोक तीन काल कितना बडा है, यह जिनके ज्ञानमे प्राय: नाचता रहता है ऐसे जीवोके संस्थानविचय धर्मध्यान बताया गया है। करणानुयोगकी दृष्टि से चौथे गुणस्थानमे चारो ध्यान बताये गए है, लेकिन पूर्णताकी दृष्टिसे सस्थानविचय धर्म-ध्यान होता है छठे गुणस्थानसे। छठे गुणस्थानमे विशिष्ट संस्थान विचय धर्मध्यान होता है वह वहाँ परम वैराग्यका कारण है। जिसके यह निर्णय है कि तीन लोक कितना बडा, तीन काल कितना बडा और यह दृष्टिमे रहे तो यह छुटपुट मोह उसे सता नही सकता। तो यहाँ क्या समागम है, क्या परिचय है ? इसमे क्या उलझना है ? एक अपने अन्त स्व-रूपका आलम्बन करके सदाके लिए अपनेको नि संकट बनाना है तो जिस अतस्तत्वका आलम्बन लेकर सदाके लिए नि संकट हो जाता है वह अन्तस्तत्व यही है कारणपरमात्मा।

सहजसिद्ध परमात्मा—इस अन्तस्तत्त्वका नाम है सहजसिद्धपरमात्मा। लोग सिद्ध-पूजाके भाषाष्टकमे पढते है—"सहजसिद्धमह परिपूजये" अर्थात् मैं सहजसिद्धको भजता हू। भावपूजा है तो सहज सिद्ध पूज्य हैं। अब भावमन्दिर हो जाय तो यह भी मनुष्य तुच्छ कुछ नही रहा, यह भी भावरूप हो रहा, ऐसा जहाँ सब कुछ भावरूप ही हो रहा है, ऐसे उस सहजसिद्धमे जो उपयोगका होना है वह है नोआगम भावसिद्धपूजा। अद्वैतसिद्धपूजा—इसमे बडी विशेषताओसे ऐसी तारीफ की गई है कि जो सिद्ध भगवानमे भी घटित हो और अपने आपके उस अतस्तत्त्वस्वरूपमे भी घटित हो और पूजनकी विधि भी यही बतायी गई है भावाष्टकमे कि उस विधिके लिए कोई परतत्रता नही होती। कुवाँ जाना पड़े, पानी छानना हो, द्रव्य धोना हो या दूसरे लोग कोई इतराज कर सकें– तुम द्रव्य नही लाये, मुफ्त क्यो पूजा कर रहे हो ? अथवा अन्य प्रकारका भी विवाद ला सके, इन सबकी जहाँ कुछ भी गुंजाइश नही है ऐसी विधि भी बतायी गई है। इस भावाष्टकमे पूजा किसे है ? सहजसिद्ध को। सहजसिद्ध, अनायाससिद्ध, अर्थात् कोई बाहरी खटपट साधन नही, कोई मूर्तिक पदार्थ जुटाकर तैयार किया गया हो सिद्ध ऐसी बात नही है। किन्तु जो आवरण थे विषय कषाय भाव उन आवरणोको हटाया कि स्वयं ही सहज वहाँ शुद्ध भाव प्रकट हो गया। जिनके

यह मर्म विदित नही है वे इस भावपूजापर क्या अधिकार पायेगे ? वे तो बाहरी चीजें देखेंगे। जो मर्मसे अपरिचित है वे अर्थ बाहरी बातोमे ही लगा देते हैं, और तब विडम्बनायें हो जाती हैं ऐसा कि जो उद्देश्य है उससे कितना ही दूर पहुच जाते है। भगवद्भक्तिका प्रयोजन है कि भगवन्तोने जिस विधिसे अपने आपमे पौरुष किया है वह पौरुष उसकी दृष्टि मे आये और उस ही पौरुषके प्रति उत्साहवान रहे, यह है पूजनका प्रयोजन, लेकिन बाहरी चीजे ज्ञानियोकी देखकर उसमे श्रद्धा कर लेते हैं कि ऐसी पूजासे धर्म होता है, पर वासना अपनी वैसी ही रखी। बाहरी क्रियाये तो ले ली ज्ञानियोकी और वासना रखी, बस इसके जोडका ही नाम याने अपनी वासना व ज्ञानियोकी क्रिया, इनका जो समन्वय है बस उसका नाम आजकी पूजा है और तब विडम्बना क्या बनी ? मेरे संतान हो, मेरा धन बढे, मुकदमेमे जीत हो, इसके लिए अतिशय क्षेत्रमे लोग अपनी पूजा क्या करने लगे ? मनौती मनाने लगे। विडम्बना यहा तक हो जाती है।

अमर्मज्ञतामें विडम्बना––एक कथानक है कि कोई एक वैद्य कही जा रहा था। उसे रास्तेमे एक ऊँटवाला मिला। उसके एक ऊँटके गलेमे कूम्हडा अटक गया था जिससे वह बेहोशी हालतमे था, मरणासन्न दशाको प्राप्त हो गया था। वह ऊँट वाला बहुत दुखी हो रहा था। वैद्यने उससे पूछा––भाई क्यो दुखी हो रहे हो ? तो ऊँट वालेने बताया कि हमारे ऊँटके गलेमे कूम्हडा अटक गया है जिससे यह मरणासन्न दशाको प्राप्त हो गया है। अगर यह मर गया तब तो हमारे ५००) रुपयो पर पानी फिर जायगा। इसीसे हम दुखी हो रहे है। तो वैद्य बोला––अजी एक काम करो—दो पत्थरके टुकडे लाओ, अभी हम तुम्हारा ऊँट ठीक किए देते हैं। सो झट दो पत्थरके टुकडे वह ऊँट वाला उठा लाया। वैद्य ने ऊँटके गलेके नीचे एक पत्थरका टुकडा रखा और दूसरे पत्थरसे धीरे-धीरे विधिपूर्वक पत्थर मार मारकर कूम्हडेको फोड दिया। कूम्हडा फूट जानेपर ऊँट उसे निगल गया और अच्छा हो गया। ऊँट वालेने वैद्यको २०) रुपये इनाममे दिए। अब वैद्य तो चला गया, ऊँट वालेने सोचा कि हम व्यर्थ ही ऊँटपर घास लाकर बेचनेका काम करते, उसमे तो गुजारा नही चलता, अब हम वैद्यका काम करेंगे, क्योकि इसमे अच्छी आमदनी होगी। सो ऊँटका काम छोडकर वैद्य बन गया। एक दिन क्या घटना घटी कि वह किसी नगरमे यह आवाज दे रहा था कि हम सब बीमारियोकी अचूक दवा करते हैं। जिसे चाहिये वह दवा करवा सकता है। तो एक सेठके घर उसकी माँ बहुत दिनोसे बीमार थी, वह ठीक ही नही हो रही थी, तो बुलाया उस वैद्यको और उसकी दवा करनेको कहा। तो उस बनावटी वैद्य ने कहा—ठीक है, यह बुढिया माँ अभी ठीक हो जायगी। दो पत्थरके टुकडे लावो। आ गए टुकडे। एक पत्थर बुढियाके गलेके नीचे रखा और एक पत्थर ऊपर गलेमे मारा तो

बुढिया टें बोल गयी अर्थात् मरणको प्राप्त हो गई। अब वह सोचता है कि देखो हमने काम तो सही किया, जैसा कि उस वैद्यने किया था वैसा ही काम मैंने भी किया, पर ऐसी क्या चूक हो गयी जिससे यह बुढिया मर गई ? वह वैद्य तो यो पछता रहा था। सेठने उसे धक्के मुक्के मारकर भगा दिया। अरे तो देखिये—उसकी यह विडम्बना क्यो बनी ? इसलिए कि उसने उसके मर्मको न जाना था। यही हाल तो यहाँ भी हो रहा है। लोग ज्ञानियोंकी क्रियायोको देखकर, पूजन आदिककी क्रियायोको देखकर पूजन आदिककी क्रियाये करते है। पर उसके मर्मको न जानकर उन क्रियावोको करके वे कुछ लाभ नही उठा पाते, और इस अपूर्व अवसरको पाकर भी अपनी बरबादी कर बैठते है।

प्रभुपूजाका लाभ--देखिये--प्रभुपूजा करनेका उद्देश्य यह था कि जैसे प्रभुने सिद्ध अवस्थाको प्राप्त किया ऐसे ही हमे भी प्राप्त करना चाहिए। उसको प्राप्त करनेके लिए कही बाहरमे कुछ आडम्बर नही जोडना है, बाहरमे कोई क्रियाकलाप नही करना है। वह तो सहजसिद्ध है। प्रभुने क्या किया ? अरे जो थे सो ही रह गए। वह अवस्था तो सहजसिद्ध है। सहका अर्थ है साथ और ज का अर्थ है प्रकट होना, उत्पन्न होना, अर्थात् जबसे मैं हू तबसे ही उत्पन्न होनेवाला। तो यह मेरा चैतन्यात्मक भाव यह भी अनादिसे है और यह सहजसिद्ध है, किसी दूसरे पदार्थकी कृपासे नही बना है, किन्तु अपने आपके सत्वके कारण ही स्वयमे जो स्वरूप है ऐसा वह सहज ज्ञानस्वभाव, सहज आनन्द चतुष्टय है सहजसिद्ध। उस सहजसिद्धकी पूजा करते हुए ऐसे इस सहजसिद्ध परमात्माका जो आलम्बन लेते है उनको तत्काल भी सकट नही और सदाके लिए सकट मिट जाये, ऐसा उनका अपूर्व पौरुष बन जाता है। यह इस समयका जो भव है, समय है, जो हम आपको मिला हुआ है यह अपूर्व है, उत्तम है। भला कैसी जाति शुद्ध, कुल शुद्ध, इन्द्रिया परिपूर्ण, इतना ज्ञान मिला है, इतना सत्संग मिला है, कुछ ग्रन्थोका अध्ययन है, कुछ ज्ञान है, ये सब बाते हम आपको प्राप्त हुई हैं। **अब इस समयमे थोडी और** हिम्मत बनाना है। क्या ? कि बाह्य पदार्थोंकी लोलुपता तजकर भाव यह बनाना है कि मेरेको तो जीवनमे एक मात्र काम यही पडा है कि मैं अपने आपमे बसे हुए इस सहज सिद्ध परमात्माकी दृष्टि बनाये रहू। उस ही को हम अह रूपसे अनुभवते रहे, इस कार्यको करते हुएमे कितना ही काल व्यतीत हो जाय, बस यही एक मात्र करनेका है, यह निर्णय होना चाहिए, और दूसरी बात यह है कि जब तक हम इस शरीरमे है तब तक भोजन भी चाहिए, और और भी तत्सम्बधी साधन चाहिएँ और उनके लिए फिर व्यवहार भी हमे चाहिए। बोलचाल बिना, व्यवहार बिना, परस्परके सम्बन्ध बिना हमारी ये देह सम्बन्धी क्रियाये— (भूख, प्यास, सर्दी आदिककी बाधाये मेटनेकी युक्तिया) न निभ सकेगी। तो इस जीवनमे जीवित रहकर हम अपने वास्तविक प्रयोजन

साध लें तब व्यवहारमे हमारे मंदकषाय होना चाहिए। हममे यह लिहाज न रहना चाहिए कि अमुक इस प्रकार कर रहा है और लोग यो जान गए हैं तो मुझे इसकी कोई प्रतिक्रिया करनी चाहिए। अरे कितना ही उपद्रुत हो गए हो, पर दूसरोका बुरा विचारनेका हमारा भाव न होना चाहिए, इतनी मदकषाय हो। तो सहजसिद्ध परमात्मत्वकी दृष्टि और व्यवहारमे मन्दकषाय—इन दो के सिवाय और कुछ करनेको हम आपको पडा क्या है ? तो इस सहजसिद्ध परमात्माके दर्शन, आलम्बन, आश्रयसे संसारके सकल संकट समाप्त हो जायेंगे। इस ओर दृष्टि हो।

आराध्य समय—इस अतस्तत्वका नाम है समय, जिसे स्वसमय और परसमय ऐसी दो अवस्थाओके नामसे कहा गया है। उन दो अवस्थाओमे रहनेवाला जो एक तत्त्व है उसका नाम है समय। स्वसमय कहते हैं दर्शन ज्ञानचारित्र परिणाममे स्थित आत्माको। और परसमय कहते हैं पुद्गलकर्मके उदयसे होनेवाले विभावोमे ही स्थित आत्माको। उसमे यह जो अहंरूपसे अनुभव करता है वह मूढ परसमय है। तो जीवकी स्थितियाँ इन दो मे ही तो है सब। स्वसमय और परसमय। दो की बात ले लीजिए—एक विधिरूप और एक उसका निषेधरूप। इन दो मे उसकी सारी दुनिया आ जाती है। पदार्थ दो है—जीव और अजीव। इसमे सब आ गए। जीव दो हैं—मनुष्य और अमनुष्य। इसमे सब आ गए। कोई भी पदार्थ विधिरूप कहे और उसमे एक निषेध लगाये तो उसमे सब आ जाते हैं—स्वसमय और परसमय (अस्वसमय) इसमे सब आ गए। तो इन सब स्थितियोमे रहने वाला जो एक द्रव्य है वह कहलाता है समय। वह एक क्या ? जैसे एक अगुलीकी कई दशायें बन जायें, सीधी, गोल, टेढी आदि तो उन सबमे कोई एक चीज तो है ना ? तो जो इन स्थितियोमे चलकर भी किसी एक स्थितिरूप नही बन सकी है वह अगुली ज्ञानद्वारा समझमे आती है। ऐसे ही जो सर्व परिस्थितियोमे रहनेवाला आत्मा है वह एक आत्मा सर्वविशुद्ध वह क्या है ? ज्ञायकस्वभावरूप। उसको कहते हैं समय। समयका सदुपयोग करो अर्थात् जो काल बीत रहा है उस बीत रहे हुए कालका सदुपयोग कर लीजिए। समय का सदुपयोग करो। जो सिद्धान्त मिला है, समय नाम सिद्धान्तका भी है, जो मत मिला है, दर्शन मिला है उस समयका सदुपयोग कीजिए। उसका पूरा लाभ उठा लीजिए, संसार-बन्धनसे, कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय बना लीजिए। इस समयका सदुपयोग करो जो समय जो मेरे आत्मामे अनादि अनन्त शाश्वत अहेतुक विराजमान है, अन्त.प्रकाशमान है उसकी दृष्टि कीजिए, इसका आश्रय लीजिए। यह हुआ समयका सदुपयोग। समयके विषय मे, अन्तस्तत्वके विषयमे शुद्धोपयोगको बनाया तो इस समयके आलम्बनसे आत्मा नि संकट हो जाता है।

आराध्य आत्मा––इस अन्तरतत्वको आत्मा भी कहा है। यह अतरतत्व आत्मा है, जो निरन्तर चले, निरन्तर जाने उसे कहते है आत्मा। निरन्तर चले, अपनी पर्यायोको प्राप्त करता रहे, इन अर्थो वाला आत्मा तो सभी पदार्थ है। कितने आत्मा है जगतमे ? उनकी ६ जातियाँ है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये सब आत्मा है, क्योकि ये निरन्तर चलते रहते है अपनी यात्रामे। अतति सततं गच्छति, अनवरतरूपसे निरन्तर जो अपनी गुण पर्यायोमे चलता रहे उसको कहते है आत्मा। उस आत्माकी बात यहाँ नही कह रहे है किन्तु गमनार्थक धातुयें जितनी है उनका ज्ञान अर्थ भी होता है। तब ज्ञानार्थकमे इस धातुको ले लीजिए। जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते है। तो इसमे निरन्तर जाननेका स्वभाव पडा हुआ है। और जितने ज्ञान होते हैं उन सब ज्ञानोमे रहकर भी किसी एक ज्ञानरूप ही स्वभाववाला नही बनता है, किन्तु जो सहज ज्ञानस्वभाव है ऐसा यह आत्मा अन्तरतत्व कहलाता है। लोग बडे प्यारसे आत्माको बोलते हैं, जैसे यह बच्चा तो मेरा आत्मा है। परिवारमे कोई बडा ही प्यारा बालक गुजर गया तो उसको लोग कहते कि वह तो मेरा आत्मा था। देखिये––कितना प्रियताका रूप दिखाते हैं—मेरा आत्मा। अरे इस समूचे आत्मामे भी देखो मेरा आत्मा क्या ? यहाँ पर भी आत्माके दो रूप रख लीजिए (१) बाह्यरूप और (२) अन्तस्तत्व। इस मेरे आत्मामे, अनेक प्रकारके परिणमन कर रहे इस आत्मामे मेरा आत्मा तो यह सहजज्ञानस्वभाव है और सब नही है। जिसको आध्यात्मिक महर्षियोने स्पष्टरूपसे बताया है कि सयम स्थान आदि तक भी ये सब मैं नही हू। है वह सब आत्माका विस्तार पर इस समूचे आत्मामे तो मेरा आत्मा यह ज्ञानभावमात्र है उस आत्माकी बात कह रहे है। तो सर्व पदार्थोसे हट कर और आत्मामे रहनेवाले इन सब साधनोसे हटकर जो एक शुद्ध ज्ञानमात्र है उसे आत्मारूपसे पुकारो। मेरा आत्मा तो यह है, मेरा प्राण तो यह है, अन्य कुछ यह नही है, यह मेरी बरबादी है। तो इस आत्माकी दृष्टिके प्रसादसे यह जीव सदाके लिए संकटमुक्त हो जाता है। तो इन सबके परिचयमे हमारा निर्णय यह होना चाहिए कि बस मेरेको काम अन्त करनेका एक ही पड़ा है। इस सहज अपने सत्वके कारण जो कुछ होता हो बिना बनावटके, बिना सजावटके जो कुछ इसमे पडा हुआ हो बस वही दृष्टिमे रहे और उसके रूप ही परिणमन बने। देखिये - इसके दर्शनमे वे सब गाँठें, शल्य, गुत्थियाँ सब खुल जाती है। और इसका मार्ग इतना स्पष्ट हो जाता है कि अन्त' उसको फिर अप्रसन्नता नही आ पाती। लोग तो अप्रसन्नता बाह्य परिणमनोमे ही हिसाब लगाकर करते है, लेकिन यह तत्वज्ञानी जीव तो अपनेमे ही हिसाब बनाता है, इस कारण यह कभी अप्रसन्न नही होता।

पारिणामिक भाव और परमपारिणामिक भाव—जो परमार्थतया मंगल है, लोको-

त्तम है, शरणभूत है उस अंतस्तत्त्वकी पहिचान बिना जीव निरन्तर दुखी रहता है, ऐसे अज्ञानी जीवको सन्तोपका कोई आधारभूत ही नही होता। समझते तो है ये भौतिक पदार्थोके प्रति कि मेरे सन्तोषका यह आधार है लेकिन वह सन्तोषका आधार हो ही नही सकता। जो मेरे लिए ध्रुव रूप हो वह मेरा आधार, शरण, लोकोत्तम और मगल हो सकता है, ऐसे उस अतस्तत्वके सम्बधमे इस परिच्छेदमे वर्णन किया जायगा और उसकी विशेषतायें कही जायेगी। उससे पहिले उस अन्तस्तत्वके कुछ नाम बताये जा रहे हैं। इसका एक नाम है पारिणामिक भाव। परिणामका अर्थ है स्वभाव। स्वभाव ही जिसका प्रयोजन है अर्थात् स्वभावको ही स्वभावके लिए दृष्टिमे रखकर जो भाव विदित होता है उसे कहते हैं पारिणामिक भाव। यह पारिणामिक भाव यद्यपि समस्त पदार्थोमे रहता है, कोई चेतनसे ही सम्बंध रखनेवाली मात्र बात नही है, फिर भी चूकि आत्माका प्रकरण है अतएव पारिणामिक भावसे अर्थ उस ज्ञायकस्वभाव, चैतन्यस्वभावका ही ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि आत्मामे अनेक पारिणामिक हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व आदिक, केवल जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन ही नही है, अनन्त हैं, किन्तु वे सब एक इस जीवत्वभावमे ही अन्तर्भावी हो जाते है और इन तीनोमे भी विशुद्धतया तो एक जीवत्व भाव है, उस पारिणामिक भावकी बात बतायेंगे कि वह बधा कि नही बधा है? आदिक अनेक प्रश्नोमे उसकी चर्चा की जायगी। इसको ही कहते है पारिणामिक भाव। जब इसकी उत्कृष्टतापर और विशेष-दृष्टि गयी अथवा जगतके अन्य समस्त पदार्थोसे विशेषतया जब यह निहारा गया तो यही भाव कहलाता है परमपारिणामिक भाव। जो स्वभावभाव है वह शाश्वत है, अनाद्यनत रहता है अन्त प्रकाशमान है। शुद्ध अवस्थामे इसकी व्यक्ति भी स्वभावके अनुरूप ही हुई है और जहाँ व्यक्ति स्वभावके अनुरूप नही है वहाँ भी यह स्वभाव पडा है, ऐसे सहज शाश्वत निज भावको परमपारिणामिक भाव कहते है।

अखण्डात्मा—इस अन्तस्तत्वका नाम अखण्ड आत्मा भी है। आत्मा है यह स्वय अपना। आत्माके अनेक अर्थ होते है—आत्माका स्वरूप अर्थ है। आत्माका इस तरह भी अर्थ है जैसे स्वय सहज जिसका नाम लेकर चर्चा करे और आत्म शब्द जोडे तो उससे उसका ही अर्थ होगा, और आत्माका अर्थ चेतन पदार्थ भी है, और इस चेतन पदार्थमे जो आत्मा है, सारभूत है, जैसे लकडीमे जो भीतर ठोस कुछ हिस्सा रहता है उसे कहते हैं लकडीका सार, लकडीका आत्मा। बाकी तो सब फोकस है। तो लकडीका आत्मा जैसे उसके अन्त प्रविष्ट है यो ही इस आत्मामे भी देखो—यह आत्मा अखण्ड है, इसका खण्ड नही है। खण्ड तो व्यवहारदृष्टिसे प्रयोजनके लिए किया गया है समझनेके लिए। जीव दो प्रकारके हैं—ससारी और मुक्त। ससारी जीव—त्रस, स्थावर जैसे दो प्रकारके हैं। उनमे

भी भेद प्रभेद करना यह सब प्रयोजनके लिए है। लोग कैसे समझे कि इस इस प्रकारके जीव होते है और ऐसे इन पदार्थोमे रहा करते है। इनमे भी वही चैतन्यस्वरूप है जो मुझमे है, इनकी हिसा न करें, बल्कि इनके उस स्वभावकी भावना बनायें आदिक जो कार्यकारी कर्तव्य हैं उनको समझनेके लिए भेदपूर्वक समझना होता है। तो जीवके भेद द्वैत तो व्यवहारसे किए गए हैं। वस्तुत यह तो अपने आपमे अखण्ड है। प्रत्येक अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत, प्रत्येक आत्मा अपने आपमे अखण्ड है। कही सब मिलकर एक हो जाये यह बात नही होती। वह तो एक ब्रह्माद्वैतकी बात हो जायगी। अरे प्रत्येक जीव अपने आपमें अखण्ड है, जो है सो है। उसके खण्ड होते है प्रयोजनवश। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पदार्थकी परख हुआ करती है। लोकमे भी परख करनेका यही उपाय है और परमार्थ तत्त्वमे भी परखका यही उपाय है, और उस परखके लिए द्रव्यसे जब भेद किया, परख किया तो गुणरूप है। पर्यायरूप है, यह भेद निकला। क्षेत्रसे जब परख की तो इसमे असंख्यात प्रदेश है, यह विदित हुआ। कालसे परख की तो यह कषायवान है, अप्रमत्त है, प्रमत्त है, यो गुणस्थान भेद समझ मे आये और भावसे परख की तो उसमे अनन्त गुण नजर आ रहे है। इसमे ज्ञान है, दर्शन है, श्रद्धा है, चारित्र है तो परखके लिए यह भेद बना करता है। वस्तुत: आत्मामे खण्ड नही है और आत्मा ही क्या, जो भी सत् होता है प्रत्येक पदार्थ अखण्ड ही होता है। ऐसा यह मैं अखण्ड आत्मा नही समझा गया था, इस कारण जगतमे अब तक रुलता आया। उस अखण्ड आत्मरूपको मै जानू, वैसे जानते सभी लोग है अपनेको, कोई किसी रूपमे परखता है कोई किसी रूपसे, लेकिन इस मोही जीवने अपने आपको उस अखण्ड रूपमे नही निरखा और नाना रूपोमे अपनेको माना तब उनके आधारसे अनेक विकलतायें इसे सहनी पडी।

आराध्य ज्ञायकभाव—इस अन्तस्तत्त्वका नाम ज्ञायकभाव भी है। ज्ञायकका अर्थ तो जाननहार है। शब्दश तो जाननहार अर्थ होनेसे एक ज्ञानको ही इसने ग्रहण किया, लेकिन ऐसे भेद बुद्धिसे परखे हुए धात्वर्थको न लेना अन्यथा तब कोई किसी पदार्थका सही नाम ले न सकेगा और इसी कारण पदार्थ अवक्तव्य बताया गया है। जो कोई कुछ कहेगा पदार्थके सम्बन्धमे वह अपूर्ण कह सकेगा। पूर्ण पदार्थको बतानेवाला कोई नाम ही नही है। तो ज्ञायकभावका अर्थ लेना है, सहज ज्ञानस्वभावमय वह परिपूर्ण आत्मा। वह ज्ञानमात्र है ज्ञायकभाव है। ज्ञायकभाव शब्द इस स्वभावपर ले जाता है कि वह सर्वत्र ज्ञानघन है। कही भी प्रदेशमे अन्तर न आयगा कि चलो सारा ज्ञानघन है तो बीचका प्रदेश या अगल बगलके कहीका भी एक प्रदेश वह ज्ञायकतासे शून्य हो, सो नही है, वह तो पूर्ण अखण्ड है, सर्वत्र ज्ञानरसमे मग्न है, ऐसे ज्ञायकभाव शब्दसे उसे पूर्ण ज्ञानमात्र जाने। जिस मे प्रतिक्षण ज्ञान निकल रहे है उन अनन्तोके निकलनेपर भी वह ज्ञायकभाव परिपूर्ण

का त्यो बना हुआ है। यद्यपि जिस समय जो ज्ञान प्रकट हुआ है वह वहाँ उस पर्यायमे पूरा ही है, अधूरा कभी परिणमन होता नही है। कभी किसीके कैसा ही ज्ञानपरिणमन हो तो वह भी ज्ञानघनका पूरा परिणमन है। मिथ्यादृष्टि जीवके अज्ञानपरिणमन चल रहा है लेकिन वह ज्ञानस्वभावका एक देश परिणमन नही, किन्तु उस ज्ञानगुणका पूरा ही परिणमन है। उस रूप है, वे परिस्थितयाँ ऐसी है। तो इस ज्ञायकस्वभावसे प्रतिक्षण परिपूर्ण परिणमन निकलता है और पूराका पूरा बहनेपर भी पूराका पूरा ही रह जाता है। वहाँ कही अपूर्णपना नही आता। ऐसा ज्ञानमग्न ज्ञायकस्वभावरूप यह अन्तस्तत्व है।

ध्रुव आत्मा—इस अन्तस्तत्त्वका नाम ध्रुवात्मा भी है, यह ध्रुव, सदाकाल रहने वाला है। कोई उसकी सुध ले रहा हो तब भी है, न ले रहा हो तब भी है, निगोद जीवो की क्या अवस्था है ? लेकिन वहाँ यह ध्रुव आत्मा सतत प्रकाशमान है, और जहाँ स्वभाव पूर्ण व्यक्त हो गया है ऐसी शुद्ध अवस्थामे भी यह ध्रुव आत्मा सतत् प्रकाशमान है। इसकी यह तो है रीति, परन्तु व्यवहारमे कितना अन्तर पड गया ? सदा है, समीप है, खुद है, निरन्तर है, लेकिन सुध न लेनेसे यह पूरा गरीब बना हुआ है। जगतमे अमीर केवल सम्यग्दृष्टि ही कहा जा सकता है, जिसके अमीरीका अनुभव है। अमीरी उसे कहते है कि जिसमे ऐसी दृष्टि हो, साधन हो कि वह कह उठे कि हमे अब कुछ न चाहिए। मेरे पास सब कुछ है। अमीर नाम लोकमे भी उसे कहते है कि जिसके प्रति लोगोकी यह धारणा बन जाय कि इसके पास तो सब कुछ है। चाहे वह अमीर ऐसा कुछ नही मान रहा है कि मेरे पास सब कुछ है लेकिन अमीरका लक्षण तो यही बनेगा कि जिसको यह अनुभव हो कि सब कुछ है, अब कुछ नही चाहिये। दूसरे लोग समझ रहे है कि इसके पास तो सब कुछ है, क्या कमी है, तो वह लौकिक अमीरी है। परमार्थकी अमीरी तो विलक्षण ही है। ऐसी अमीरी तो तत्वज्ञानी जीवके ही हो सकती है उसके पास तो सब कुछ है। सब कुछ का क्या लक्षण है ? सब कुछ कितना कहलाता है कि जिससे माना जाय कि इसके पास सब कुछ है ? इसका नाम अमीर है। बतलाओ सब कुछ कितने को कहते हैं ? कितने धन वालोको अमीर कहते है ? इसकी कुछ सीमा तो बताओ। क्या करोडपति अमीर है ? अरे करोडपति, अरबपति खरबपति आदि ये कोई अमीर नही हैं। अमीर तो वही है जो अपने को ऐसा माने कि मेरे पास तो सब कुछ है। अगर कोई बहुत कुछ पासमे होते हुए भी माने कि मेरे पास कुछ नही है तो वह काहेका अमीर ? तो मेरे पास सब कुछ है, ऐसा कहनेमे उस सब कुछका क्या अर्थ है ? सो सुनो—जिसे अब कुछ न चाहिए बस यह स्वरूप है सब कुछका। जो अपने पास बहुत कुछ होने पर भी माने कि मेरे पास कुछ नही है उसे सब कुछ नही कहा जा सकता। तो ज्ञानी पुरुषने अपने आपमे उस ध्रुव आत्माका दर्शन

किया है, जो ज्ञानानन्दस्वभावमय है तो उसे ऐसी दृष्टि हुई है कि मेरे पास सब कुछ है तो इस ध्रुव आत्माकी निगाहमें यह जीव भरापूरा है, अमीर है। जैसे किसी पुरुषके घरमें लाख रुपये गडे है, पर उसे गडे धन का भी पता नही है, तो वह तो गरीबीका ही अनुभव करता है, तो देखिये—एक दृष्टिसे वह है तो भरापूरा, पर पता न होनेसे वह अधूरा है, गरीब है, कष्टमे है, भटकता है, डोलता है। ऐसे ही अपने पास अपनेमे यह ध्रुव आत्मद्रव्य ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण है, यह आनन्दमय आत्मा है, पर इसका पता ही नही है तो वह तो गरीव है, डोलता है, तृष्णा करता है, भटकता है, दुखी होता है। ज्यो ही उसे पता पडा कि ओह! यह हू मैं, वह गया कही न था। था, पर दिख न रहा था। जैसे मुट्ठीमे कोई स्वर्णकी डली लिए हो और भूल जाय कि कहाँ रख दिया तो वह वाहरमे ढूँढता फिरता है और दु.खी होता है, ज्यो ही उसने अपनी मुट्ठीमे देखा त्यो ही उसे देखकर वह तृप्त हो जाता है, लो यह यहाँ ही तो था, वह कही बाहर न था, पास वह थी, मगर उस ओर दृष्टि न थी। तो समझलो सबसे बडा राजा, गुरु, देव, सर्वस्व, शरण, ईश्वर आदि किन्ही भी शब्दोसे कह लो, जो मेरा पूर्ण अधिकारी है, स्वामी है वह तो यही पडा है, मुझमे ही पड़ा है लेकिन उसकी सुध न होनेसे वह दरिद्रता भोगता है। तो उस ध्रुव आत्माके सम्वन्धमें प्रश्नपूर्वक समझा जायगा कि इसकी विशेषताये क्या है?

अचलात्मा—इस अंतस्तत्वका नाम अचल आत्मा भी है। बहुत संयोग हुए, वियोग हुए अर्थात् विविध भाव संयुक्त हुए, वहुत सी बातें वियुक्त हुईं, इस जीवमे कितनी वातें गुजरी, कितना यह दला गया, कितना ही इसका संघर्ष लदा, कितना आने जानेका ऊधम मचा? कर्म, शरीर परमाणु इनमे जो यहाँ बन्ध हो रहा और ये रागादिक भाव, क्रोध, मान, माया, लोभादिक अनेक प्रकारके कषायभाव, विषय, इनमे होड लगी, क्षुब्ध हुए, अति हल्ला मचाया, यो कितनी ही वातें हुईं, परिणमन हुआ, अग चले, विभाव हुए, च्युत हुए, इतना सब कुछ होने पर भी यह अंतस्तत्व अपने आपमे अचल ही वना रहा, इसका स्वभाव चलित नही हो सकता, नही तो परेशान होकर लोग अपने स्वभावकी वात छोड देते। जैसे कोई वहुत ही सरलपरिणामी व्यक्ति है, वह अनुचित कार्य नही करता है, तो यहाँ दिखना है कि उसपर बडी परेशानिया आती हैं, छोटे वड़े सभी आफीसर लोग उसे हैरान करते हं, और जब अन्य लोगोको देखते हैं कि वे तो वडे-वडे अनुचित कार्य करके दो चार साल मे ही धनिक वन जाते है, तो इस घटनाको देखकर वह सरलपरिणामी भी व्यक्ति अपनी ईमानदारीको छोड देता है। वह सोचने लगता है कि क्या रखा है ईमानदारीमें? इस ईमानदारीमें तो कष्ट ही कष्ट भरे है…। नाना पर्यायोमे अनादिकालसे अब तक अपनेको कष्टोमे गुजारा, संघर्षोमे गुजारा। इतने संघर्ष हुए कि निगोद अवस्थामे जघन्य ज्ञान रहा,

जडवत् रहा, इस एकेन्द्रियकी क्या दशा हुई ? इतनी वडी विपदायें आयी इस जीवपर, इतने संघर्ष झेल रहा यह जीव, लेकिन इसने अपना भीतरी स्वभाव नही छोडा। यह छोडा ही नही जा सकता। ऐसा यह अपने आपमे अचलात्मा है।

अविकारात्मा—इस अतस्तत्वका नाम अविकार आत्मा भी है। जैसे—अचलात्मामे बताया था कि अपने स्वभावसे यह चलित नही होता। स्वभाव इसका चैतन्यमात्र रहा, ऐसे ही अविकार आत्माकी ध्वनि कह रही है कि इसमे कभी स्वभावमे विकार आया नही। देखिये—यह परख बहुत सावधानी द्वारा साध्य है, वह स्वभाव विकार रूप नही, स्वभावमे विकार नही आया। यह चैतन्यस्वभावी आत्मा यद्यपि विकाररूप धारण कर रहा तथापि याने विकार आने पर भी इसके स्वभावमे विकार नही आया। मेरे परिणाममे विकार तो रहा, लेकिन इस अंतस्तत्वमे विकार कभी नही आया, कभी आयगा नही। ऐसा यह अविकारी आत्मा है अतस्तत्व। इस समूचे आत्मामे जव उस अंतस्तत्व की खोजके लिए गंभीर दृष्टिसे भीतर चल रहे हैं तो यह ऊपरी बहुत-सी वातोको पार करके इस तरहकी बुद्धिमे न अटककर भीतरके सारभूत तत्वको निरखा जा रहा है कि इसका जो सहज भाव है, उसमे विकार नही आया अर्थात् चैतन्य स्वभाव अन्य रूप बन जाय, ऐसी स्थिति कभी भी नही आयी। ऐसा यह मैं सहज अविकार आत्मा हूँ।

निरञ्जनात्मा—इस अस्तत्वका नाम निरञ्जन भी है याने अजनरहित। अजन कहलाया कोई परपदार्थ, और ऐसा पदार्थ जो इस आत्मामे एक क्षेत्रावगाही बन गया है। अब घिस-घिसकर इसमे मिल गया है, जो कुछ भी परभाव हैं वे सब अंजन कहलाते हैं, जैसे आँखमे अंजन लगा लिया जाय तो वह आँखमे दृढतासे लिया हुआ रहता है, उसका निकालना कठिन होता है, ऐसे ही अजनकी भाति जो आत्मामे अंज गया है ऐसा जो कुछ भी मल है वह इस अतस्तत्वमे नही पडा हुआ है। यह स्वभाव निरञ्जन है। यदि स्वभावमे ही अंजन हो तब पदार्थ ही सत् न रह सकेगा। जिसका कोई स्वभाव ही नियत न रहा, स्वभाव फिसल फिसल जाय तो वह किस स्वभावमे रहेगा ? तो स्वभावदृष्टिसे यह मैं आत्मा निरञ्जन हू। ऐसे इस निरञ्जन आत्मतत्वका जिसने दर्शन किया है उसे ससारकी आपत्तियाँ नही रहती है। जब आपत्तिया आयी, अनुभव किया तब ही समझिये कि उसने अपनी निरञ्जन दृष्टिको छोड दिया है। वह अन्य-अन्यरूप अपनेको समझ रहा है। इस कारणसे ये सब कषायें विकल्प आदि हुआ करते हैं। अपने घातका कारण अपना अपराध है। यह हमेशा निर्णय करके अपने जीवनको चलायें। जब कभी भी मैं दुखी होता हू तो उसमे कारण मेरा ही अपराध है, दूसरेका अपराध मेरे दुखका कारण नही है कि दूसरेके कारण मैं दुखी होता हू। जब कभी पास पडौसकी दो औरते कोई छोटे गोत्रवाली जब लडने लगती

हैं तो अपने-अपने दरवाजेपर खडी होकर हाथ पसार पसारकर बडे जोरका गाली गलौज करती है। और वहाँ दूसरे देखनेवालोको ऐसा लगता है कि अब तो इन दोनोमें कुस्ती हो जायगी, पर वहाँ काहेकी कुस्ती ? उन दोनोके मनमे तो यह बात भली भाँति जमी हुई है कि हम दोनोमे कुस्ती न हो पायगी। तो देखिये वे दोनो स्त्रिया अपने-अपने दरवाजेपर दूर-दूर-दूर खडी हुई गाली गलौज करती है तो उनकी उस लडाईमे दूर खडे हुए दर्शक लोग दुखी हो जाते हैं, पर वे दु.खी क्यो हुए ? क्या उन स्त्रियोने दुखी किया ? उन्होने नही, अरे वे स्वयं ही अपने अन्दर अनेक प्रकारके विकल्प बनाकर दुखी हो जाते है तथा वे स्त्रियां भी अपने अपने अपराधसे दुखी है। उन्हें सही बातकी जानकारी हो जाय तो उनका दुख तुरन्त मिट जायगा। कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके स्वभावरूप तो नही बन जाता। कोई दुखी होता है तो वह वास्तवमे अपने ही अपराधसे दुखी होता है, किसी दूसरेके दुखी करनेसे कोई दुखी नही होता। यह संसार असार है, अशरण है। यहाँ कोई मुझे बचा सकनेवाला नही। मैं ही स्वयं यदि अपने आपकी सावधानी रखूं, अपने परिणाम अच्छे बनाऊँ तब मेरी रक्षा है। मेरी रक्षा करनेवाला मैं ही हू कोई दूसरा मेरा रक्षक नही। और की तो क्या बात, मान लो कि कभी कोई भगवान ही गल्ती कर बैठें तो फिर कौन उनको पूछेगा ? सभी उनके पाससे मुख मोडकर चले जायेंगे। कोई फिर यह लिहाज न करेगा कि चलो यह तो भगवान है, इनकी इतनी गल्ती माफ कर दो। भैया! भगवान तो कभी गल्ती कर नही सकता, फिर भी कल्पना कर लो। जगतमे कौन किसका सुधारनेवाला है ? तो इस स्थितिके अतिरिक्त, सावधानी बनानेके अतिरिक्त और कोई चारा नही है कि हम यहाँ विपदाओसे बच सकें, और वह सावधानी सही ढंगसे तब ही बन सकती है जब यह अपने इस निरञ्जन आत्मतत्त्वमे लीन हो सके। मैं तो ऐसा हूं, स्वयं ज्ञानानन्दस्वभाव हू, समस्त परभावोके अंजनसे रहित हू, मेरेको क्या करना है इस जगतमे ? मैं सत् हूँ और परिणमता रहता हू। सो स्वभाव है परिणमते हुए अपने आपकी सत्ता रखनेके लिए। मेरा किन्ही भी अन्य पदार्थोसे प्रयोजन नही है। ऐसा जिनको बोध हुआ है उन्हे फिर विपत्तियाँ सामने नही आती।

परमशिव अन्तस्तत्त्व—जैसे कहा करते है कि पानीमे मीन प्यासी। अचरज की बात है कि पानीमे रहकर भी मछली प्यासी रह जाती है। रहती नहीं है, पर कोई मछली प्यासी रहे पानीमे रहकर भी तो जैसे उसकी मूढता है इसी तरह इस ज्ञानमय, आनन्दमय, कल्याणस्वरूप, आत्माका स्वरूप स्वयं ऐसा है तिसपर भी ऐसे आत्मामे जिसका रहना हो रहा है ऐसा यह स्वयं अथवा उपयोग दुखी रहे, क्लेश भोगता रहे, यह एक अचरज की बात है, अथवा अचरजकी बात नही, मछली मूढ हो जाय तो भले ही प्यासी रहे, ऐसे ?

यह आत्मा मूढ है, मोहित है, पर्यायबुद्धिमे निरत है तो यह अवश्य ही दु खी रहा करता है। आत्माका स्वरूप तो परमशिव है, उत्कृष्ट कल्याणमय है। यह आत्मा स्वय परमशिव है। शिवका अर्थ है आनन्दमय, कल्याणमय और परम आनन्दमय, परम कल्याणमय। जितने लोग आनन्दके पद मानते हो उन सब पदोमे उत्कृष्ट आनन्द तो यह ही स्वय है। जिसे लोग अपना बडा मगलस्वरूप समझते हो, कल्याण समझते हो उनमे सर्वोत्कृष्ट कल्याणस्वरूप यह आत्मा है। जब अन्त दृष्टि की जाती है तब यहाँ यह पता होता है कि यहाँ अन्त कुछ कारण नही, कुछ ढग नही, कोई पिण्ड नही, अमूर्त ज्ञानप्रतिभास है और बन गया कितना वतगड कि यह मूर्तिक हो गया, कर्मबन्ध हो गया, भटकता है, क्या स्थितियाँ हो गयी ? यह एक अचरजकी बात ही तो हुई। तो जिन तत्त्वोने परमस्वरूप अपने आत्मतत्त्वका निर्णय किया है और इस दर्शनके प्रतापसे यह निर्णय जिसका दृढ रहा है कि मैं तो यह स्वय प्रतिभासमात्र कल्याणमय हूँ, उसको फिर व्यग्रता क्यो होगी ? दृढता इसका नाम है कि फिर कल्याणके लिए, आनन्द पानेके लिए बाहरमे व्यग्रता न हो। बाहर मे आनन्द पानेके लिए व्यग्रता है तो यह मेरी कमी है, कमजोरी है, दृढताका अभाव है, अथवा उसको परखा ही नही। वह आनन्द धाम चैतन्यमात्र आत्मा स्वय परम शिव-स्वरूप है।

परमशरण्य अन्तरतत्त्व— देखो— आदत तो है ही सभी जीवोमे कि अपना आनन्द पानेके लिए किसी न किसीका आश्रय तकना। सभी जीव करते क्या है ? कीडा मकोडा भी एक आश्रय तकते है, मनुष्य पशु पक्षी भी आश्रय तकते हैं कि मेरेको कही बाधा न हो, मेरा जीवन निर्बाध व्यतीत हो, इसके लिए किसी बड़ेका शरण, गुप्तका शरण, रक्षक का शरण चाहिए। लेकिन इस नग्न ससारमे अर्थात् जहाँ कोई किसी का लिहाज नही करता उसको नग्न ही कहना चाहिए। जो पदार्थ जैसा है वैसा ही रहता है। उसपर दूसरे पदार्थके स्वरूपका आवरण नही, प्रवेश नही है। तो सभी पदार्थ नग्न हैं और पदार्थो का ही नाम संसार है, अपने-अपने स्वरूपमे अवस्थित पदार्थोका समूह रूप इस नग्न ससार मे किसका शरण ढूँढा जाय कि यह निर्बाध हो जाय कि लो अब कोई बाधाकी शका न रहे। ऐसा कोई शरण नही है। छोटे से लेकर बडे तक समस्त परपदार्थोमे समीक्षण करते जाइये। आश्रयके योग्य जिसका कि आलम्बन लेनेसे फिर हम कृतार्थ हो जाये, फिर दूसरी बात न सोचनी पडे, ऐसा शरणभूत जगतमे कुछ भी नही है। और यह निज ज्ञायक स्वभाव, यह परमधाम, परम तीर्थ, यह तीर्थराज यह स्वय ऐसा शरण है कि जिसकी शरण गह लेने पर फिर कोई दूसरी बातका प्रसग नही आता कि लो यहाँ तो कृतार्थता हुई नही, अब कुछ और शरण ढूँढा जाय। तो ऐसे परमशरणमय निज अतरतत्वके आलम्बनसे ही

हमारा कल्याण है। उसही परमशिवस्वरूप अन्तस्तत्त्वके स्वरूपके वर्णनमे इस परिच्छेद मे कुछ प्रश्न आयेगे, जिनसे यह विदित होगा कि यह मेरा शुद्ध अंतस्तत्व किमात्मक है।

चित्स्वभाव अन्तस्तत्त्व—यह अंतस्तत्त्व चित्स्वभाव है। चित्—इतना कहनेसे ही उस शुद्ध आत्मद्रव्यका परिचय हो जाता है और उसके साथ स्वभाव लगाकर उसकी ही ओर दृढता की गई है, उसे चित्त्व कहो, चित्स्वभाव कहो। यह चित्स्वभाव अपनी ही कला के कारण स्वयं सर्व भावान्तरोका परिच्छेदन करनेवाला है, निराला करनेवाला है। देखो-- चीजें तो सव निराली है ही। उन पदार्थोको निराला क्या करना ? किन्तु उनका निरालापन जाननेमे समझ लीजिये—कितना यह निराला करना कहलाया ? इसी सामजस्यके कारण परिच्छेदनका अर्थ तोड फोड करना भी है और परिच्छेदनका अर्थ जानना भी है। अज्ञानभावमे जो सारे विश्वका और खुदका एक संघात, स्कंध कल्पनामे वन गया था, सारे विश्वके साथ आत्मीयताका भाव रखा था, इमे लगता यह था कि उसने अज्ञानसे अपनेको सर्वविश्वासात्मक बना लिया। इतनी वडी अपनी कल्पनामे स्कध पिण्ड वन रहा था, लो भीतरसे ही ऐसी कतरनी चली, अन्दरसे ही प्रज्ञाकी छेनीका ऐसा प्रहार चला कि उस सवका परिच्छेदन हो गया। तो समस्त परपदार्थोका परिच्छेदन करनेवाला यह चित्स्वभाव है। जो मात्र स्वानुभूतिसे ही प्रकाशमान है, उसे कोई कहाँ वताये ? हमको दिखा दो वह चित्स्वभाव। अरे किसीके वशकी बात नही है, स्वय ही शान्त हो, स्वय ही अपने आपकी ओर उन्मुख हो, निर्विकल्प हो, आत्मकृपाका दृढभाव बध गया हो तो इस मार्गसे चलते हुए वह धीरतासे अपने आपका दर्शन कर सकेगा। पर दूसरा कौन दर्शन करायगा ? ऐसा यह चित्स्वभाव इसके आलम्बनमे संसारमे फिर कोई क्लेश नही रहता।

यह आत्मा चिद्रूप है, ज्ञायकस्वरूप है, स्वयं ज्ञानमय है। जव ज्ञानमय है, चिद्रूप है तो उस चिद्रूपताका चित्त्व बना रहे, वह चेतना, वह प्रतिभास यहाँ निरवधि रहे, यही इस का मूलमे कला है, यह एक विशाल तत्त्व है, परम तत्त्व है। उत्कृष्ट सामर्थ्यवाला है अमूर्त होनेपर भी कैसा यह उत्कृष्ट समर्थ है कि लोकालोकके समूहको यह यो ही सहज उठाकर फेंक देता है। सारे लोकालोकको पहिली पर्यायमे जान लिया। अव अगली पर्याय जो उसके अनन्तर ही हो रही है उस प्रभुके, केवली भगवानके तो वहाँ हुआ क्या कि पहिले जो जाना था सारा लोकालोक उसे तो फेंक दिया अर्थात् ज्ञानपर्यायको विलीन किया और फेंककर तुरन्त ही उसी क्षण उस लोकालोकका फिर ग्रहण कर लिया। वाह कैसी लीला है ? जैसे कोई वडा चतुर वालक जो गेदका खिलाडी है वह गेदको ऊपर ही मारता रहता है, १०–१५ वार ऊपर ही ऊपर उसे मार मारकर उछाता रहता है, उसे नीचे नही आने देता, ऐसी वह लीला करता है। यहाँ तो उसकी लीलामे भी कुछ अन्तर हो गया

लेकिन यह केवलीभगवान इसी क्षण उठाया, उसी क्षण फेका, ऐसी निरन्तरताके साथ कैसी बाललीला कर रहा है कि तीन लोकको ग्रहण किया, फेका। यों भगवानने इस सारी दुनियाको दुनिया ही नही, लोकालोकको गेंद बना रखा है। ऐसी अतुल सामर्थ्य है इस चित्स्वभावमय पदार्थमे। तो ऐसा यह स्वातंत्र्य विहार यह स्वतत्रताका खेल कैसे प्राप्त होता है? उसका उपाय है इस चित्स्वभावका आलम्बन, इसीके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर करते हुए इसकी विशेषतायें बतायी जायेगी कि यह अन्तस्तत्व किस स्वरूप वाला है?

सच्चिदानन्दके सम्बन्धमें कुछ दार्शनिकोंका विवेचन--इस अन्तरतत्त्वका नाम सच्चिदानन्द भी है। यह एक प्रसिद्ध नाम है। स्याद्वादी ही क्या, अन्य दार्शनिक भी इसको सच्चिदानन्द नाम कहकर पुकारते है। "ॐ सच्चिदानन्दाय नम।" किन्तु अन्य दार्शनिकोंके सच्चिदानन्दका स्वरूपमे और स्याद्वादियोके सच्चिदानन्द स्वरूपमे कुछ अन्तर है। अस्याद्वादियोका सच्चिदानन्द केवल भगवान है, यह जीव नही है ये ज्ञानी पुरुष भी नही है, किन्तु एक वह ईश्वर सदाशिव वही सच्चिदानन्द स्वरूप है, ऐसा माना गया है। तो फिर यह जीव कैसा है? यह जीव सत् है। अरे और फिर ज्ञानी पुरुष कैसा है? यह ज्ञानी पुरुष सत् चित् है, और यह भगवान कैसे है? ज्ञानी पुरुष सत् चित् है, और यह भगवान, यह सच्चिदानन्द है। देखिये कितना बढिया गणितका हिसाब लगा हुआ है? और इसकी प्रसिद्धि भी देखो--संसारके प्राणियोको सत्व कहते हैं। "सत्त्वेषु मैत्री" सर्व सत्वोमे मेरी मित्रता हो। तो वे अन्य दार्शनिक प्रमाण भी पेश कर देंगे--देखो तुम ही कह रहे हो कि सारे जगतके प्राणी सत्व है, चित् तो नही रहे, आनन्द तो नही रहे, और जब इन प्राणियोने आत्मस्वरूपका बोध किया अथवा बोध करनेवाले कोई दूसरी जातिके होगे, ऐसे जो ज्ञानी आत्मा हैं वे चित् है, उनमे ज्ञान आया। बहिरात्मा तो केवल सत् है, वह चित् नही है, और महर्षिजन भी झुंझलाकर कह बैठते हैं कि सारे प्राणी अचेतन हो रहे हैं, होश ही नही है, अपनी सुध ही नही है, तो इन बातोसे देखो सिद्ध हो रहा ना कि सारे प्राणी सत् हैं और ज्ञानी सत् चित् है और भगवान सच्चिदानन्द हैं। इस रूपमे कुछ दार्शनिक लोग सच्चिदानन्दका स्वरूप कहते है। किन्तु यह तो देखिये कि जो चित् होगा उसके साथ क्या आनन्दका निशान भी नही रहता? विचार करनेपर विदित होगा कि चेतनके साथ आनन्द स्वय बसा हुआ है, और यह बहिरात्मा प्राणी सत् बताया गया है, तो क्या इस सत्मे और जो भौतिक सत् हैं इनमे क्या अन्तर है? क्या दोनो सत् समान हो गए? बात वहाँ यह है कि है तो सभी जीव सच्चिदानन्दस्वरूप, चाहे ससारी प्राणी हो, चाहे ज्ञानी आत्मा हो, और चाहे भगवान हो, सबमे सच्चिदानन्दमयता है, किन्तु बहिरात्माजनोपर इतना आवरण है, इतने विषय कषाय तीव्र हैं कि विपरीत अभिप्रायका सम्बन्ध बतानेवाले है कि उनको अपने आपके स्व-

रूपका चित्त्व नही हो पाता है । जब यह अपने आपके स्वरूपका भी चेत लेता है तब इसके उपयोगमे स्वरूपकी विशेष व्यक्ति होती है और जब अपने आपके स्वरूपके चेतनेके बलसे इसके सर्व आवरण दूर हो जाते है तो पूर्ण आनन्द प्रकट हो जाता है । तो वह ही सच्चिदानन्द कहलाता है । तो यद्यपि पूर्णताकी दृष्टिसे सच्चिदानन्द भगवान है, लेकिन कितना ही कही कुछ रहे सभी जीव सच्चिदानन्दस्वरूप है । संसारी प्राणियोमे आनन्द गुणका विपरीत परिणमन हो रहा है, पर है आनन्दस्वरूप । तो यो ये सर्वजीव सच्चिदानन्दस्वरूप है ।

सच्चिदानन्द अन्तस्तत्त्वका परिचय—सच्चिदानन्दस्वरूपमे भी जब सहज स्वभाव की दृष्टिसे विचार करेगे तो वह सामान्य सत्त्व चित्त्व और आनन्दत्व है । जो सहज है, अपने स्वरूपके कारण है ऐसा यह शुद्ध नयकी दृष्टिसे परखा गया अन्तस्तत्व सच्चिदानन्दस्वरूप है । यही सच्चिदानन्द कारण भगवान जब कर्मक्षयके प्रतापसे कार्यरूप हो जाता है, प्रकट सच्चिदानन्द हो जाता है तो वहाँ अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हो जाता है । सच्चिदानन्दका अर्थ है अनन्त चतुष्टय सम्पन्न, सत्का अर्थ है सत्व । सत्का प्रयोग भी व्यवहारमे, शक्तिमे आता है । यह तो कुछ सत् नही है । इसमे कोई जान नही है, कोई शक्ति नही है । तो सत्के मायने शक्ति और चित्के मायने ज्ञान-दर्शन । ज्ञान भी चित् कहलाता है और दर्शन भी चित् कहलाता है । एक सामान्य चित् और दूसरा विशेष चित् । और आनन्द तो आनन्द है ही । तो इस तरह प्रभु सच्चिदानन्दमय हैं । इसका अर्थ है कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दमय है । यह बात उनमे कैसे प्रकट हुई और पुद्गल आदिक भौतिक पदार्थोमे तो यह बात प्रकट क्यो नही होती ? तो उसका उत्तर यह होगा कि ऐसा सच्चिदानन्दका स्वभाव जहाँ हो वहाँ ही सच्चिदानन्दता पूर्णतया प्रकट होती है । तो जिसका आलम्बन लेनेसे व्यक्तसच्चिदानन्दमयता प्रकट होती हैं उस अन्तस्तत्वको कहते है सच्चिदानन्द ।

शुद्धात्मतत्त्व—इस अंतस्तत्वका नाम शुद्ध आत्मतत्व भी है । शुद्ध आत्मतत्व—आत्माका तत्व, सारभूत, प्राणभूत, शुद्ध, केवल, परके लागलपेटसे रहित, अपने आप स्वत सिद्ध, अपने स्वभावरूपमे ही शाश्वत् रहनेवाला कहलाता है शुद्ध आत्मतत्व । आत्मा और आत्मामे भी आत्मतत्व और आत्मतत्वमे भी शुद्ध आत्मतत्वी आत्माके कहनेसे तो केवल जीवमात्रका ज्ञान हुआ । एक जीवपदार्थ—आत्मा और आत्मामे रहनेवाला वह कहलाया आत्मतत् । और आत्मामे जो शाश्वत रहनेवाला है उसका भाव है आत्मतत्व, और वह भी परकी अपेक्षासे रहित लागलपेटसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र, वह है शुद्ध आत्मतत्व । एक प्रसिद्ध प्रयोग है । ॐ तत् सत् । यह एक मंत्ररूप है और इसके परिज्ञानमे सर्वपरिज्ञान हो जाते हैं । परिचयमे तीन बातोका सम्बन्ध रहता है—शब्द, अर्थ और ज्ञान । किसी

वस्तुका परिचय होता हो तो शब्द प्रयोगमे आयेंगे। शब्दो द्वारा उसकी बात समझायी जायगी और समझा क्या ? अर्थ, और समझा किसने ? ज्ञानने। तो किसी तत्त्वके परिचयके लिए तीन बातोका प्रसंग आता है—शब्द, अर्थ और ज्ञान। लो शब्द तो है ॐ, ज्ञान है तत् और अर्थ है सत्। दुनियामे जितने शब्द हैं उन शब्दोने मिलकर मानो सलाह करके एक प्रतिनिधि चुन लिया हो, ॐ मे सर्व शब्द आ गए और ॐ की सकल ही ऐसी है कि यदि कोई काठका ॐ बनाये और उस ॐ के छोटे-छोटे १०-२० टुकडे कर दें तो उन टुकड़ोको जोडकर सारे शब्द बनाये जा सकते है। अ इ ऊ, क ख ग आदिक सब बना दिए जायेंगे। तो सब शब्दोने मानो सलाह करके ही इस ॐ शब्दको चुना है। हम किसी भी जगह हो अकेले ॐ तुम ही हम सबका प्रतिनिधित्व करना। तो ॐ मे सर्व शब्द आ गए और तत्‌मे सारा ज्ञान आ गया। वह है। जब किसीको किसी बातका स्मरण कराया जाता है "समझे ना वह" कि लो इतनेमे सारी बात जान गए कि वह किसको बताना चाहता था ? तो तत्‌मे वह कला है कि वह सारा ज्ञान सामने आ जाता है। कोई भूल रहा हो, किसीका स्मरण कराया जा रहा हो, देखो ख्याल करो, यह बात भी है, लो तत्‌मे कितना ज्ञानभरा है ? तो मानो सब ज्ञानोमे जितना अर्थविकल्प है, जितना ज्ञान है सब ज्ञानोंने सलाह करके अपनी एक मुद्रा नियुक्त कर दी। जैसे व्यापारी जन ट्रेडमार्क बनाते हैं वैसे ही मानो सब ज्ञानोने एक अपनी मुद्रा बना ली "तत्," जहाँ कही ज्ञानकी बात आये तो तुम प्रतिनिधित्व करना। सत् तो स्पष्ट पदार्थ है ही। सारे सत् आ गए।

शुद्धात्मतत्त्वकी अन्तः शुद्धि—यहाँ यह बताया जा रहा है कि आत्माका तत् जानने वाला ही जान सकेगा। "जो" के सहारेके बिना जो तत् है उसके पारखी सब नही हो सकते। जिस बातमे "जो" लेकर फिर "तत्" बोला जाय "जो ऐसा है वह," यह तो व्यवहारी जनो द्वारा गम्य है, लेकिन जो कि अपेक्षा बिना केवल स्वतत्रतया जहाँ तत् का विलास हो उसका पारखी तो कोई विरला ही होगा। तो पहिली बात तो है आत्मा। फिर बताया आत्माका तत् और उस तत्‌मे समझी गई बातको जो भी सामान्य कर दे और छाट कर पतला बना दे, जिससे कि त्व प्रत्यय लगे; ऐसा आत्मतत्त्व, और इतने पर भी इस शुद्ध ज्ञायकभावके आलम्बनका आनन्द पानेवाले तृप्त न हो सके तो और भीतरी छाट कर लें। लो आत्मतत्त्वसे सब कुछ परखा, लेकिन कैसे वे अपने इस शुद्ध आत्मतत्त्वके लोलुपी थे कि तृप्त न होकर उसमे शुद्ध शब्द और भी जोड़ देते हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वके आलम्बनमे कसर न रह जाय, कही बीचमे शैथल्य न आ जाय, बल्कि अपने आपके विषयको पुष्ट बनानेका उद्यम इन महर्षि सतोने किया कि जिसको आधार तत्त्व व शुद्ध आत्मतत्वके नामसे कहा करते है, ऐसे परम आराध्य परमशरण सर्वसंकटहारी परमपिता अपने आपके अत प्रकाश-

मान इस अन्तर्ज्योतिका आलम्बन करने से ही सर्वसंकट समाप्त होंगे। हम आपका यही यत्न होना चाहिए कि कभी चाहे थोडा उपयोग कही चला गया, उसे फिर हटा कर एक इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी ओर ही लाना चाहिये।

चैतन्य भाव–शुद्ध अन्तस्तत्त्व––इस परिच्छेदमे अन्तस्तत्वके बारेमे वर्णन होगा, उसकी विशेषतायें बतायी जायेगी, जिसका आलम्बन लेनेसे नियमत संसारपदकी प्राप्ति होगी। उस अन्तस्तत्वका नाम है चैतन्यभाव। आत्माकी जानकारीके लिए आत्माकी अन्य-अन्य वातोंका ज्ञान करनेके पश्चात् उन सबको उपयोगसे हटाकर केवल एक चैतन्यभावको ही उपयोगमे लें तो उसको स्वानुभूति सुगम है, क्योकि जाननेवाला भी यह ज्ञान है और जाननेमे जो आया है वह भी छना हुआ ज्ञान है याने चैतन्यभाव है। एक तो ज्ञान ज्ञानमे आ गया, ऐसे अनेक ज्ञान आया करते है और सभी पुरुषोको जिन बाहरी पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है तो उन पदार्थोंका ज्ञान है, यह तो व्यवहारसे कहा जाता है, पर उन पदार्थों विषयक अन्दरमे जो ज्ञान परिणमन चल रहा है, ज्ञेयाकार उसका ज्ञान है यह निश्चयसे कहा जाता है, लेकिन ऐसे ज्ञानको भी छान छानकर जो एक सुषम सहज ज्ञान स्वरसका होना जिसको यहाँ चैतन्यभावसे परिचित किया जा रहा है, वह उपयोगमे आये तो उसके उपयोगमे स्वानुभूति होना स्वयं सिद्ध ही है। इसी चैतन्यभावको शुद्ध अतस्तत्व कहते है। सभी ज्ञानी जन जानते है, पर उन ज्ञानोका अविशेषरूप जो एक चित्प्रकाश है वही इस जीवका शुद्ध अंतस्तत्व है। अन्त. कैसा? इस आत्माका भीतरी तत्व, सारभूत बात जिसके वलपर फिर ये विशेष नाच रहे हैं, अथवा विभाव आदिक भी अनेक परिकर साथ लग गए हैं, किसी उपाधिके वातावरणमे, उन सबका मूल क्या है? वह है चैतन्यभाव अंतस्तत्व। इस शुद्ध आत्मतत्वके अवलम्बनसे तीर्थंकरोने, महापुरषोने अपना विकास पाया है, सदाके लिए संसारसंकटोसे मुक्ति प्राप्त की है।

शुद्ध अन्तस्तत्वके आलम्बनका अलौकिक प्रभाव––अब इस शुद्ध अन्तस्तत्वके आलम्बनके बलसे जो बात प्रकट हुई है उस पर भी कुछ दृष्टि दीजिए ताकि इस शुद्ध अतस्तत्वमे हमारी रुचि जगे। वे प्रभु जिन्होने इस मार्गको अपनाया, वे हुए है आत्माके सहज सकल ऋद्धिसे सम्पन्न अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तशक्ति उनके प्रकट हुई है, जिसके मूलसे, दिव्यध्वनिसे आज इतना प्रकाश हम आप पाये हुए है कि जिस मार्गपर चल कर हम अनेक उलझनोको समाप्त कर डालते है और शुद्ध अनाकुलताके रास्तेमे लग जाते है, उन प्रभुकी हम आप क्या होड करें? हम आप जो संसारमे है, इनमेसे कोई वडेसे भी वडा पुण्यवान् पुरुष हो और जिसको बडा राज्यलक्ष्मी वैभव सम्पदा आदिक भी प्र[illegible] हुई हो तो वह भी तुच्छ चीज है। क्या चीज है? देखो तीर्थंकर प्रभु जव गर्भमे ही

उत्पन्न ही हुए, बाहर ही आये तभी देखो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विराजमान थे और इस बलसे उनको चूँकि यह सहज प्रमाण बल था सो उससे उस मोक्ष पदवीको, मोक्षमार्गको स्वय निर्णीत कर लिया था और चले उस मार्गपर तो ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ केवलज्ञान ज्योति कि जिसके साथ ही लोकमे अनेक महाजीवोकी अनेक ऋद्धियाँ जो थी वे सब, सारे जीवोके जितने ऋद्धि वैभव थे वे सब आपके ही श्रृङ्गार कहलाने लगे, ऐसा ही समारोह बन गया। भला जिस त्रिभुवननाथ केवली भगवानके पास तीन लोकके इन्द्र आ रहे हो, अधोलोकके इन्द्र–भवनवासी व्यन्तरोके इन्द्र, मध्यलोकके इन्द्र, मनुष्यमे चक्रवर्ती, तिर्यञ्चोमे सिह और ऊद्धर्वलोकके स्वर्गवासी इन्द्र—ये सबके सब चरणोमे नतमस्तक हुए तब जगतमे जितने पुण्यवानोके जो वैभव है वे सब आपके श्रृङ्गार विभूति बन गए।

भगवानकी भावभीनी पहिली शिकायत—लोकके विपुल पुण्यवतोमे और आप जिनेन्द्रमे महान अन्तर है, आप त्रिभुवननाथ है, परमगुरु हैं, तथापि हे नाथ ! कुछ आपसे आपकी हमे शिकायते भी है। शिकायतोका नाम सुनकर भक्तजन भी चौंक गए होगे और कुछ यह जाननेकी रुचि जगी होगी कि लो क्या बात कही जा रही है ? जिसको जो इष्ट है उसके प्रति बडाईकी बात की जाय तो वह भक्तोको रुचिकर होता है। और कोई शिकायत की बात हो तो उसे मन लगाकर सुनेगे, क्योकि इसमे भी भक्तोका प्रयोजन शुद्ध है। नाथ ! कुछ बातें कह तो रहा हू, पर विश्वास नही है कि आप उसे सुन लें। न सुनो—कोई बडे पुरुषसे उसकी कोई ऊँच नीच विरोधकी बात कोई कहे तो वह बडा पुरुष अनसुनी कर देता है अर्थात् चित्तमे नही धारण करता, लेकिन उसके कान तो नही बहिरे हो जाते ? शब्द तो सुननेमे आयेंगे। तो आपके चित्त नही है, आप उसे सुनेंगे नही तो मत सुनो, मगर आपका केवलज्ञान तो बहिरा न हो जायगा। जान तो जायेंगे ही कि कौन क्या कर रहा है ? अथवा मत सुने आप तो आपके भक्तजन ही सुन लेंगे। देखिये—एक बात आपके बारेमे बडी प्रसिद्ध हो रही है कि आप तीन लोकके एक बन्धु हैं, आप सबके महान हैं, गुरु हैं, लेकिन दिख तो यो रहा कि आपमे राग भी भरा और द्वेष भी भरा। व्रतोमे आपका बडा राग रहा है, बडा राग किया था ? महाव्रतोमे, सयममे, ध्यानमे, योगमे आप बड़े अनुरक्त थे। इन बातोकी आपमे बडी लोलुपता थी, और इतना ही नही, आप लोगोको कह भी गये, बता भी गए कि व्रतोमे राग करना, तो आप खुद भी अनुरक्त रहे, और दूसरो को भी अनुरागका सिल्सिला बता गए, और द्वेषकी बात देखो—प्राणिवधसे आप बडा द्वेष करते थे; हिंसा, झूठ, कुशील, परिग्रह आदि पापोके आप कट्टर दुश्मन थे, और इतनी ही बात नही, आप बता भी गए, उपदेश कर गए जिससे कि वह द्वेष परम्परा भी चलती रहे। पापोसे द्वेष करनेकी बात आप यहा प्रचलित भी कर गए। तो इन पापोसे आप द्वेष

भी करते थे, तिसपर भी यह कहा जा रहा है कि आप तीन भुवनके एक बन्धु है और सबके आप गुरु है।

प्रभुकी भावभीनी दूसरी शिकायत—प्रभो! आपकी जो उक्त बात कही सो यही बात नही किन्तु और भी सुनो। आपके सच्चे सुखमे, निरुपम सुखमे बडी स्पृहा है, आप उसको छोडना ही नही चाहते। भला यहाँ लोकमे दिखता है कि कोई किसीका भक्त हो, प्रेमी हो तो वह भक्तके प्रति सोचता है कि थोडा चलो उसे भी सुख मिल जाये, हमे कम हो जाय तो हो जाय। बढिया भोजन बना हो और कोई प्रेमी हो, भक्त हो, समयपर आ गया हो तो थोडा कम खा लेगे, चलो भाई तुम खाओ, सुखी हो जावो, यो प्रवृत्ति कर लेगा, पर आप तो अपने उस निरुपम आत्मसुखकी इतनी स्पृहा रख रहे है कि एक समयको भी जरा भी नही छोडना चाहते। उसमे आप अनन्य हो रहे। तो ऐसी आपकी निरुपम सुखमे स्पृहा है। स्पृहा इच्छाकी पट्टरानी कहलाती है क्योकि उसकी कला और तरहकी है। तो स्पृहा भी आपको बहुत बढ-बढ करके है और बढी चढी हुई चीजमे है। इसके साथ ही साथ हमे तो यह दीखा कि आप ससारसे बहुत डर गए। डरे भी थे आप बहुत, जो संसारको छोड कर गए, और ऐसा छोडकर गए कि फिर ससारकी ओर मुख भी नही किया। तो जो संसृति है, परिभ्रमण है उससे आप डरे भी थे, और ऐसा डरे कि आप उसके पास तक भी नही फटकते, ऐसा आपको संसारका भय भी है। तिस पर भी लोग कहते है कि ये तीन भुवनके बन्धु है और सबके गुरु है।

प्रभुकी भावभीनी तीसरी शिकायत--खैर, जाने दो उक्त दो बातोको प्रभो! इतनी बातसे हम अपनेमे कोई ज्यादह प्रभाव नही पा रहे है, लेकिन एक बात तो बताओ कि हम बहुतसे भक्तजन इतना कष्ट करते है कि आपकी भक्तिके लिए, उपासनाके लिए सुबह नहाये, जल्दी-जल्दी काम निपटाये आपकी तरफ ही धुन लगी है, लगन लगाये हैं और भी श्रम करे, मगर इतना श्रम करते हुए भी और रोज-रोज आपसे चिल्लाया, गिडगिडाया भी कि "मुझ कारजके कारण सु आप, शिव करहु हरहु मम मोह ताप इत्यादि · ऐसा ही तो रोज-रोज शाम सुबह चिल्लाते है भक्ति करते हैं, इतनी आपसे मिन्नत करते है, लेकिन आपको कभी भी हम सब पर दया नही उत्पन्न हुई। हम ये आपकी शिकायते किसको सुनायें ? सुन रहे हो सब। आपका केवलज्ञान बहिरा नही है, और इतना ही क्या कि आपके वह दया स्वभाव उत्पन्न नही होता। अरे आपने तो विकल्प मात्रसे भी मुँह फेर लिया। और चित्तसे भी आपका मुँह फिर गया, अर्थात् यह चित्त (मन) भी आपसे हट गया। मन भी न रहा, आप संज्ञी भी न रहे, अनुभय बन गये। चित्त मायने मन, ऐसे आप बेमन हो गए। अब हम लोग आपसे कोई लौकिक आशा ही क्या रखे ? यहाँ तो किसीसे म

मुटाव हो तो चलो मना भी ले, लेकिन मन मुटावकी या मन रखावकी आपने जड ही काट दी, आपने चित्तको ही हटा दिया। अब क्या प्रसन्नताके लिए हम बात करे ? तो ऐसी स्थिति है हमारे और आपके बीच।

उक्त तीनों शिकायतोंका रहस्य व आधार प्रभुके परमगुणोंका अभिवादन—प्रभो ! यहाँ आपके बहुतसे भक्तजन बैठे है, कुछ उन्हे आप समझा दें, संदेश दे दे कि भाई धीरता से सुनो, उतावले मत हो। तुमको कोई हमारी शिकायतके शब्द कहे तो उसके प्रति भी समता रखो। चाहे ये भक्तजन भी रुचिसे सुन रहे होगे कि देखो—यह क्या क्या भगवानके बारेमे शिकायत बता सकते है। सुनते हो, पर उनके इस सुननेका कही यह प्रभाव नही पड जाय कि इस प्रसगके बाद ये भक्त भी हमसे कह उठे कि तुमने प्रभुके बारेमे क्यो ऐसा कहा ? आशा तो नही है, क्योकि ये भक्त जानते है कि हमको भगवानकी बहुत-सी बातो का पता है, सो इन्हे छेडेगे तो ये भगवानकी और भी बातें छेड देंगे, इस डरसे चाहे कुछ न कहे, लेकिन इतना धैर्य रखानेके लिए प्रभो आपको कह रहे है कि कही इस प्रवचनके बाद कुटी जाते समय मुडथप्पी न करदे (हँसी)। प्रभो ! यह शिकायत नही है, यह एक आपसे जो इतने दिनो तकका सम्बन्ध बना है और उस सम्बन्धके होने पर भी जब कुछ प्रभाव अपने मे हम नही देख रहे है, सो मुझे अपनेपर ही झुझलाहट हो रही है। कोई पुरुष किसी धनीसे मित्रता रखे तो थोडे दिनोमे वह भी धनी बन जाता है, किन्तु यहाँ हम कोरे ही रहे। अरे कुछ कहकर मैं उलझनमे तो नही फस रहा हू। कोई भक्त शिकायतके शब्दो को नोट भी कर रहे हैं, शायद इन्होने सोचा होगा कि बादमे पूछेंगे कि क्यो कहा ऐसा और कुछ मना करे कि यह तो हमने यो नही कहा था तो उसका प्रमाण दिखा देंगे कि देखो यह कहा था। तो यह सब बात वही मेरी उलझनके लिए तो नही बन जायगी कि जो मैं छेड चुका आपको नाथ ! यह उलझनकी बात न होगी। बात यथार्थ है। जीवोका उद्धार संसारसकटोसे मुक्त होनेका उपाय व्रतोमे अनुराग किए बिना बन नही सकता। आपने सर्वजीवोपर करुणा करके यह उपदेश दिया। आपका जो एडवरटाइजमेन्ट है ग्रन्थोमे कि ये प्रभु तीन लोकके नाथ हैं, गुरु हैं तो यह अत्युक्ति नही है, यह यथार्थ बात है। आपने जो व्रतोकी ओर वृत्तिका सन्देश दिया है और प्राणिबध आदिक पापोसे दूर रहनेका सन्देश दिया है वह सब जीवोके श्रेयके उपयोगके लिए है और खुद अपनी वृत्तिसे दुनियाको बता दिया कि देखो स्वाधीन निरुपम आत्मीय आनन्दमे, स्पृहा करो और इस ससारसे डरना ही अर्थात् दूर हो जाना। प्रभो ! आपकी हम भक्ति करनेको जब भी तत्पर हो, थोडी भी स्तुति करें, थोडा भी भाव करें तो उसका प्रभाव यह होता है कि कर्म क्षयको प्राप्त होते है, इतना अपूर्व हमे लाभ मिलता है। हम कैसे कह दें कि आपकी भक्ति स्तुति वन्दन पूजन

मे इतना उपयोग लगाते है और हमे कुछ नही मिला ? अरे आपमे रागद्वेष ही नही हैं तो दया कहाँसे रखोगे और अदया भी कहाँसे होगी ? तो भी आपकी कितनी परमकरुणा है कि आपको कुछ नही सोचना पडता, लेकिन आपकी भक्ति करके भक्तजन वहाँ ही समृद्धि प्राप्त कर लेते है और मौलिक ऋद्धि प्राप्त करते है तो ऐसी भगवत्ता जो प्रभुमे प्रकट हुई है उनकी यह भगवत्ता भी इसी आधारसे प्रकट हुई है ।

प्रभुशासनकी अनेक पद्धतियोंसे उत्तमताका वर्णन—प्रभुने शुद्ध अन्तस्तत्त्वका आलम्बन लिया और इसके प्रतापसे वे घातिया कर्मोसे रहित हो गये । अब पूर्वमे जो कारुण्य भाव बना हुआ था उससे जो शुभ प्रकृतियोका बन्ध हुआ था, उनके उदयमे कहो, भव्य जनो के भाग्यसे कहो, खुदके वचनयोगसे कहो, जो दिव्यध्वनि निकली, इतनी अनुपम ध्वनि उपदेश निकला, उस उपदेशमे ऐसा मौलिक शासन बताया है कि जिसके सहारेसे तत्त्वनिर्णय करनेमे किसीको कही बाधा ही नही आ सकती । यद्यपि लग रहा है ऐसा कि भगवानके वचन बडे विचित्र वचन है । स्याद्वादमे परस्पर विरोधको लिए हुए बाते कही जा रही है । जीव नित्य है, जीव अनित्य है, जीव एक है, जीव अनेक है, यो परस्पर विरोधवाले वचन वचन है और उसपर भी नाना भङ्ग शाखाओसे आकुलित कर दिया, अवक्तव्य भङ्ग और दो से मिलकर भङ्ग, तीनका मिलकर भङ्ग, ऐसी नाना भङ्गशाखाओसे व्याप्त आपका वचन, शासन है और जो साधारण जन (पृथक् जन) है उनके लिए तो बडा दुर्गम है । जो आपकी पार्टीके लोग है उन्हे तो आप कुछ भी कह डाले, वे तो हाँ मे हाँ कहेगे । वे तो भक्त है ही, लेकिन जो आपसे पृथक् लोग है अन्य दर्शकोकी स्वय रचना करनेवाले लोग है उनके लिए तो ये सब बाते ऐसी रुचेगी कि देखो विरोधवाले वचन है । कितनी भङ्गशाखाओसे आकुल हैं तो ऐसे उन पृथक्जनोके लिए ये वचन दुर्गम है और इनके अतिरिक्त कुछ ऐसा भी नजर आ रहा कि आपका शासन निरर्थक है, निष्फल है । उससे न घर बढ़ता है, न परिवार बढता है, न धन बढता है, न लौकिक बाते बढती है । कोई फल नही मिलता जो आपके शासनका पालन करता है वह आत्मा निष्फल हो जाता है । ससारका फल उसे नही रहता । कोई यहाँकी जो विनाशीक सम्पदाये है, सकटके घर है ये ही फल माने जाते है । तो लौकिक प्रयोजन भी जीवोको कुछ प्राप्त नही होता । लेकिन बडा अचरज हो रहा है कि बडे-बड़े विद्वान लोग, गणधर इन्द्र बड़े-बडे महान आत्मा, योगीश्वर ये आपके शासनका आलम्बन कर रहे है । और उनको यह शासन सम्मत हो रहा है । सो ठीक है । लोकमे ऐसी रूढ़ि है कि महान पुरुष अगर दुरुदित कह दे कुछ कठिन अथवा खोटा भी बोल दें तो वह उनकी ख्यातिके लिए हो जाता है, कोई छोटा पुरुष साधारण शब्दोमे कुछ बोले—"बैठ जाओ । तो उसका लोग कोई असर न मानेंगे और एक बडा पुरुष ही इन ।

शब्दोंको कह दे तो लोगोंकी दृष्टिमे उसकी सज्जनता बडी भारी झलक जायगी । सो आप महान आत्मा है, बडे हैं, बडे है सो आपका ऐसा जो दुरुदित कहना है वह भी ख्यातिके लिये हो गया । दुरुदित शब्दका अर्थ खोटा वचन भी हो सकता है और कठिन वचन भी हो सकता है । तो ऐसा जो आपका दुरुदित्त है, कठिन शासन है, मार्ग है, यह सब ख्यातिके के लिए प्रसिद्ध हो गया । किसकी ख्यातिके लिए ? आत्माकी ख्यातिके लिये । अहा, ज्ञानी जन इस शासनका आलम्बन लेकर अपने आपके परमात्मतत्वकी ख्याति, प्रसिद्धि, व्यक्ति करते हैं ।

स्याद्वादशासनसे निःशल्यताकी व परमश्रेयकी अभिव्यक्ति—अब देखिये कि कैसी प्रभुकी अलौकिक ऋद्धि है, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और उनके वचन भी कितने हितकारी हैं कि जो इस शासनका आलम्बन लेगा उसको वस्तुतत्त्वके स्वरूपमे शंका नही रहती । इस अपेक्षासे जीव नित्य है, इस अपेक्षासे अनित्य है, सारी बात जब सही समझमे आयगी तो शल्य न रहेगी । नित्यताका एकान्त करनेवाले दार्शनिक कहते गए नित्य, मगर जब बातें उन्हे कुछ यहाँ दिख रही हैं, यह मर गया, यह जीवित हो गया, यह इतना जीव है, क्या इस विरोधकी कुछ शल्य उन्हे न रहती होगी कि कैसे यह नित्यका एकान्त है जो हम रच रहे रहे है, जो अनित्यका एकान्त रच डालते है, कह दिया कि जीव क्षण-क्षणमे नया-नया होता है, पर उन्हे कुछ शल्य न रहती होगी क्या ? मैं सुबह भी वही था, अब भी वही हू । कल सोच रहा था, आगे भी सोचूंगा, मुझे मुक्त होना चाहिए, क्योकि मैं दुखी हू । ये सब कल्पनायें उनके चित्तमे आती होगी तो अपने दर्शनकी शल्य न होती होगी, पर नाथ ! आपका स्याद्वाद शासन निशल्यताको प्रकट करनेवाला है । द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है । दोनो बातें एक साथ समानरूपसे नजरमे आती हैं, उसको शल्य कहाँसे होगी ? तो ऐसा आपका शासन जो हितकारी है, विद्वानोको प्रिय है, ससारके सकटोंसे सदा पार करनेवाला है ऐसा अलौकिक वैभव आपको जो प्राप्त हुआ है वह आपके लिए कोई वैभव नही । किन्तु लोकदृष्टिमे तो अलौकिक वैभव है । यह सब प्रताप प्रभुको सहज है । यह प्रताप किस बलसे प्रकट हुआ है ? इसे निरखिये—इस अपने आपमे अन्त प्रकाशमान अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभावमय सारभूत अतस्तत्त्वके अवलम्बनसे प्रकट हुआ है यह अनन्त वैभव । जिस अन्तस्तत्त्वके अवलम्बनसे ऐसा परिपूर्ण विलास प्रकट हो गया है. इस ही अतस्तत्त्वका इस परिच्छेदमे वर्णन चलेगा कि वह शुद्ध अतस्तत्त्व किस स्वरूपमे है ? और हम उसकी किस स्वरूपमे आराधना करें कि हमको परमार्थ पथ प्राप्त हो कि जिससे हम सदाके लिए मुक्त हो जायें ।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आलम्बनका प्रभाव—प्रत्येक पदार्थका स्वभाव एकत्वमय है,

पदार्थकी समस्त पर्यायोमे अनुगत रहता है। जो पदार्थ केवल स्वभाव स्वभावरूप परिणमते हैं उनके समस्त स्वाभाविक पर्यायोमे वह स्वभाव शाश्वत है किन्तु जो पदार्थ विभावरूप भी परिणमते हैं उनके विभाव और स्वभाव समस्त पर्यायोमे उनका एकत्व स्वभाव अनुस्यूत है। जीवके सम्बन्धमे भी यही बात है। जीवकी अनेक पर्याये होती है—पहिले विभाव पर्याय हुई, उसके पश्चात् स्वभावपर्याये होती है, स्वभावपर्यायके बाद विभावपर्याय नही होती। उस जीवके उन समस्त पर्यायोमे जीवका एकत्व शाश्वत सहजस्वरूप शाश्वत अन्त प्रकाशमान रहता है। जो महान आत्मा इस एकत्वका दर्शन कर लेता है वह संसारसे पार हो जाता है। यहा तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बिना बेईमानीके सर्वत्र चलता रहता है। जैसे जीव यदि खोटा भाव करे तो वहा कार्माणवर्गणाओमे कर्मपरिणमन होगा और उनके उदयकालमे इस जीवके उस प्रकारके विभावपरिणमन होगा याने जैसे जो होना चाहिए वह होता रहता है। और जब यह जीव अपने स्वरूपकी संभाल करता है तो अपने आपमे बसे हुए कैवल्यस्वरूपका अनुभव हो तो ये कर्म तड तड क्यो टूट पडेगे ? झडेगे ही। यह भी निमित्तनैमित्तिक भावकी बात है। तो जब जीव अपने आपमे शाश्वत अन्त प्रकाशमान इस अन्तरतत्वका आलम्बन लेता है तो उस जीवकी अवस्था अन्तिम क्या होती है ? वही तो एक मोक्ष अवस्था है। इसमे सिद्ध परमेष्ठी अन्त शुद्ध, बाह्य शुद्ध, शुद्ध शुद्ध तत्त्वका शाश्वत अनुभवन किया करते हैं। ये प्रभु अरहत सिद्ध सब मलोसे दूर और अपने आपकी ही स्वच्छतासे भरपूर तीनो लोकके इन्द्रो द्वारा पूज्य है। ये प्रभु अरहंतदेव मेरे उपयोगमे स्फुरित होओ। तीर्थकृत् अरहतदेव बाह्य वैभवकी तुलना भी यहा किसीसे दी नही जा सकती, यद्यपि उनके ममत्व नही है, उनके वे बाह्य वैभव नही है, लेकिन जो विशिष्ट पुण्यका उदय है तीर्थंकर प्रकृतिका उदय है, अन्य भी पुण्यप्रकृतियोका उदय है सो उसका फल यही बाह्यमें हो रहा है, अनर्घ्य वैभव आसपास है। यहा भी तो पुण्यके उदयमें जो कुछ ठाठ मिला है जीवोको, उसको वैभव कहते है। इसको ममता है, उनको ममता नही, पर उस निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे निरखे तो यहां भी धनिकोके, राजाओके पुण्यके उदयसे यह वैभव प्राप्त हुआ है तो वहां तीर्थंकर प्रभुके भी पूर्वबद्ध विशिष्ट पुण्य प्रकृतियोंके उदयका निमित्त पाकर समवशरण आदिक अनेक रचनायें होती है। यद्यपि वहा वीतरागता की दृष्टि प्रधान है और उस वीतरागताके सम्बन्धके कारण ही इतनी महिमा इन्द्रादिकने की है तो यह विशेषता हुई। कोई पुरुष सम्यग्दृष्टि है, वीतराग है और फिर उसका लोकमें अभ्युदय है तो वह प्रकर्ष प्राप्त अभ्युदय हुआ करता है।

अरहंत भगवंतकी निरुपमा निःसंगता—अब अतुल प्रभु महिमावन्त त्रिभुवनवन्द्य अरहंत भगवंतकी एक चौथी विशेषता समझ लीजिए कि देखो—लोग आपके

तो निःसंगताका स्थापन करते है–प्रभु आप निःसंग है, कुछ भी तो साथ नही है, और इतने बडे भारी समवशरणकी विभूति जो देवेन्द्रोके द्वारा रची गई है, इतना अमूल्य सिंहासन, जिस सिंहासनको बेचा जाय, ऐसा कल्पनामें मान लो तो उसे दुनियाका कोई भी धनिक खरीद ही नही सकता और उसका यह अतिशय, वहा तो उस सिहासनके चोरी तकका भी भी डर नही है, बेचने की तो बात जाने दो। यहाके ये कम मूल्य वाले सिंहासनोकी तो चोरी भी हो सकती है, बेचे भी जा सकते हैं, पर वह इतना अमूल्य सिंहासन है और सातिशय है कि चुराया भी नही जा सकता, बेचा भी नही जा सकता। और वह खुला प्रकट शोभायमान है। कोई बहुत मूल्यवान चीज हो और उसके चुरानेका डर हो तो उसे लोग तिजोरीमे बन्द करते है, पर वह सिंहासन यदि बन्द करके रखा जाय तब तो फिर उसकी शोभा नही जच सकती। और वह अमूल्य सिहासन जो दिखता तो रहता है, पर उसे कोई छू भी नही सकता। उसकी शोभाको कौन कहे? तो ऐसा बडा अमूल्य सिंहासन है। ६४ चमर ढोले जा रहे है और तीन आतापनिवारण याने छत्र लगे हैं। उन छत्रोका काम है कि आतापका निवारण कर दें, अन्त बाह्य गर्मी न आने दे, ऐसे तीन छत्र प्रभुके सिरके ऊपर लगे है। इतना बडा भारी तो सग दिख रहा है, फिर भी कहा जा रहा है कि प्रभुमे बडी निःसगता है और इतनी ही बात क्या? देखो प्रभुने तीनो लोकको अपने वशमे कर लिया। थोडेको भी वश करना क्या मामूली काम है? ये प्रभु तीन लोकके इन्द्रोको भी वशमे किए हुए है। कितना अनोखा यह जादू है। वह है केवलज्ञानका, वीतरागताका जादू, उसके बलपर भगवानने तीनो लोकको वशमे कर रखा है। तीनो लोकसे जीव उनकी ओर खिचे चले आ रहे हैं, पाताल लोकसे इन्द्र आ रहे है, स्वर्गोंसे भी इन्द्र टपक रहे हैं, मध्यलोकसे भी राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदिक मनुष्य तथा सिंह, बहुतसे पशु भी खिचे चले आ रहे हैं। तो देखिये कैसा विचित्र उनका जादू है जिससे उनके पास इतना बडा सग जुडा हुआ है, फिर भी लोग उन्हे निःसग कहते सो ऐसा कैसे?... हाँ बात समझमे आ गयी। प्रभुके अन्दर निःसगता पूर्ण विराजमान है तभी तो देखो—वे छत्र चमर जो सिरके ऊपर ढुल रहे है वे उन प्रभुके सिरको छू भी नही सकते, नीचे जो सिंहासन है वह भी प्रभुको छू नही सकता, वह प्रभु तो उन सबसे विविक्त हैं, अपने अन्त स्वरूपमे निष्पन्न हैं, इसलिए वे निःसग हैं। यद्यपि ये दोनो बातें परस्पर विरुद्ध हैं कि इतना सब वैभव भी बना रहे और निःसग भी कहलाये, लेकिन हे प्रभो! सिर्फ आपको छूट मिल रही है। मृगेन्द्रकी मृदगताको कोई छूट दे सकता है क्या? अरे उसमे मृगेन्द्रता तो सहज है, ठीक ऐसे ही प्रभुमे भी वह ज्ञान और आनन्द सहज है, स्वत है। इस शुद्ध अंतस्तत्त्वके प्रतापसे, इस आत्मतत्त्वके आलम्बनसे ऐसी ही ऋद्धि प्राप्त होती है।

शुद्ध अन्तरतत्वकी परखके विना धर्मभावकी असंभवता—यहाँ तो लोग धर्म करे इस भावसे बाह्यकी ओर खिचे जा रहे है। यद्यपि किसी स्थितिमे यह साधन है, पर मूलमे कुछ धन ही पासमे न हो तो फिर ब्याज कहाँसे मिल सकेगा ? यदि अपने आपके इस अंत स्वरूपका पता ही न हो तो भक्ति, वन्दन, पूजन आदिक कार्योसे धर्मकार्यकी सिद्धि नही हो सकती है। जब मूलधन ही नही है तो ब्याज यहाँसे मिले ? अपने आपके अन्त. प्रतिभासमान उस चैतन्यस्वरूपकी अनुभूति है तो सब जगह हर परिस्थितियोमे रहकर भी वह धर्मका अधिकारी है और यही बात मूलमे नही है तो कितना ही बडा तपश्चरण किया जाय, कितना ही बडा अन्य धार्मिक व्यवसाय हो तो भी वह व्यवसायमात्र होगा। वहाँ धर्मका अधिकार नही मिल पाता। तो ऐसा अतुलपद इस अतस्तत्वके अवलम्बनसे प्राप्त होना है, इसका ही इस परिच्छेदमे वर्णन होगा। इन प्रभुको अरहत कहते है। जिन्होने शुद्ध अतस्तत्व के आलम्बनसे ऐसा स्वच्छ स्वभाव पद प्राप्त किया है। अरहंतका अर्थ है पूज्य। अरहत कहो चाहे अल्य कहो, एक ही अर्थ है। इसी अल्यको लोगोने अल्ला कहा है। वे प्रभु अल्य हैं, जो चार घातिया कर्मोको नष्ट कर चुके है और पूज्य है। इन अरहत भगवानके के गुणानुवादमे और इनके सम्बधित वैभवके कीर्तनमे ही प्राचीन लोग अजान पढा करते थे, चत्तारिमंगलं अरहंत मंगलं तो लोग उस अजानको तो भूल गए। क्या उनमे था, किसका स्मरण किया जाता था ? चार चीजे मंगल है, चार लोकोत्तम है, मैं चारकी शरणको प्राप्त होऊँ, लेकिन वह तत्त्व ही निकल गया लोगोकी बुद्धिसे। उस अतस्तत्व की सुध न रही तो सारे भक्तिके कार्य सब उल्टे फल देनेवाले बन बैंठे। तो ये प्रभु हम आपसे अधिक सम्बधित हैं। कभी-कभी तो इनका दर्शन कर सकते है। आज यहाँ नही, पर करते तो हैं मनुष्य उनका दर्शन। सिद्धके दर्शन तो नही कर सकते क्योकि वे अशरीर है, लोकमे सबसे ऊपर विराजमान है। यहाँ हम अरहत प्रभुकी मूर्तिके दर्शन भी कर सकते है और उनकी मूल परम्परामे चले आये हुए शास्त्रोका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकते है। यही कारण है कि हम आप अरहंत भगवानकी भक्तिके लिए नमस्कारमत्रमे प्रथम नाम लेते है। और जब जिससे अधिक परिचय हो जाता है तो उससे बात करना, मिलना सहज हो जाता है, तब उस स्थितिमे असली महत्ता विदित होती है।

परमात्मपदकी महत्ता—ससारके किसी भी पदमे कोई महत्त्व नही रखा है। हो गए राजा तो क्या मिला उसे ? कीचड मिला यो समझिये। वह वैभव तो कीचडवत् नि सार है। बाह्यपदार्थोंकी धुनमे रहता हुआ वह राजा कितना कर्मबन्ध कर रहा है ? अपना स[illegible] बढ़ा रहा है। इन बाह्य पौद्गलिक विभूतियोमे कुछ भी तत्त्व नही रखा है। जो इन [illegible] पदार्थोंके पीछे ही लगा फिर रहा है वह तो गरीब है। लोकमे जिसे लोग अमीर कहे

तो गरीब है। अमीर तो सम्यग्दृष्टि है और उनके शाहशाह अरहत देव है। उनकी होड यहाँका कौन व्यक्ति कर सकता है ? जब उनकी घटनाका, उनके सिद्धान्तका परिचय विशेष होता है तब ही वह उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ होता है ? मान लो माता, पिताके निमित्तसे उनका जन्म हुआ, पर इस आत्माका परमपिता कौन, रक्षक कौन ? यह ही शासक, यह ही परमगुरु। बल्कि देखा जाय तो शरीरकी रचनाके कोई कारण बन जाये, शरीरके पोषण के कोई कारण बन जाये, वह तो शरीरकी परम्परा बढा देनेका कारण हुआ, उनका उपकार क्या हुआ ? उसका उपकार तो इस ससार-परम्पराको बढानेका रहा, किन्तु ये वीतराग, नि सग प्रभु कृपालु हैं।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभुकी उत्कृष्ट कृपालुता—कुछ लोगोको ऐसा विदित होगा कि देखो प्रभुने कई बाते बडी कठिन कही है और कितनी निष्ठुरता टपक रही है कि डटकर कहते हैं, बिना हिचकके कहते है कि इन इन्द्रियोका निग्रह करो, इन विषय कषायोको समूल नष्ट दो, लो इन्द्रियोके विषयकषायोको समूल नष्ट करनेमे उनके वचन कितना क्रान्तिपूर्ण पडे हुए है शासन मे ? तो इन्द्रियके निग्रह करनेके सम्बधमे निष्ठुर वचन भी हैं, और देखो तो जो इन प्रभुकी शरणमे आ जाता है, जो उनका आश्रय करने आता है उन आश्रितोको बडे-बडे कठिन कायक्लेशोमे लगा देता है प्रभु। अनशन करे, भूखसे कम खाये, रसोका परित्याग करें, गर्मी सर्दीमे तपश्चरण करें। कितने कठिन आदेश हैं ? अहो उनकी इन वृत्तियोको देखकर अज्ञानी जन प्रभुकी अनुग्रहबुद्धिका अनुमान नही कर सकते। प्रभुने सभी जीवोको जो ससार के दु खोसे मुक्त होकर अपने आपमे मग्न होकर सुख पा सक्ते है उनको उपदेश दिया कि तुम व्यर्थके परिश्रम क्यो करते हो ? इन्द्रियके विषयोको क्यो पोषते हो ? विषयोको भोगते समय कोई खेद माने कि क्यो मेरी इन विषयोमे प्रीति जग रही है, क्यो मैं इस स्वादिष्ट भोजनको खाता हुआ चैन मान रहा हू ? अरे यह तो अधकार है, यह तो ससारमे रुलाने की परिपाटी है। उसपर खेद हो कभी तब वह अनुमान कर सकता है कि हममे भीतरमे कितना ज्ञानप्रकाश और कितनी आनन्दकी झलक समाई हुई है ? यहाँका यह झूठा आनन्द (कल्पित मौज) तो ससारमे फसानेका ही कारण है। सत्य आनन्दमे पहुचनेका उपाय जिन वचनोमे भरा हो उनकी कितनी बडी करुणा कही जाय ? तपश्चरणकी भी बात देखिये— इच्छानिरोधस्तप" इन इच्छाओका निरोध करना ही तप है। ये इच्छाये ही इस संसृतिकी जननी हैं। इच्छायें न हो तो फिर संताप क्या ? इन इच्छाओके रोगी यहाँ सभी हैं। इस बातकी परख अपने आपमे सभी कर सकते है। किञ्चित् मात्र भी इच्छा हो तो वह जीवके संतापका ही कारण है। तो भला इतने बडे सतापके निवारणकी बात जिनके वचन कहे उनकी कितनी बडी करुणा बुद्धि कही जाय ? और यहाँ प्रकट नजर आता है कि ६ कायके

जीवोकी रक्षाका उ.का प्रयोगात्मक प्रवर्तन रहा करता है। यही उपदेश उनका दूसरोको है। प्रभु तो बडे दयालु है।

जीवनमें सर्वश्रेष्ठ एकमात्र निर्णय अन्तस्तस्तत्त्वके आलम्बनकी कर्तव्यता—हम आपको जीवनमे ऐसा दृढ निर्णय रखना चाहिए—जैसे कहते है लोग कि इसको पत्थरमे खोदकर रख लो। ऐसा ही है, अन्य प्रकार नही है। ऐसा एक दृढ निर्णय होना चाहिए कि मेरा इस लोकमे बाहरमे कोई भी पदार्थ शरणभूत नही है, सभी वस्तुवे मेरेसे अत्यन्त पृथक् है। मित्रजन, परिजन, प्रजाजन आदि किन्हीमे भी खोज लीजिए, क्या है कोई शरण आपका ? यहाँ जिन जिनसे भी प्रेम माना जा रहा है, जिन जिनको भी अपना शरण माना जा रहा है वे कोई भी इस जीवके लिए शरण नही हो सकते। बडे-बडे महापुरषोकी घटनायें देखिये--सीता सती जैसे साध्वी उसके लिए शरण कौन था ? जिनको गृहस्थावस्था मे सदैव बडे आदरके साथ एक मात्र अपना स्वामी माना था ऐसे श्रीरामने भी सीताको निर्जन बनमे छुडवा दिया था। तो यह क्या कोई उनकी शरण्यताकी या प्रेमकी बात थी ? वे श्री राम एक महापुरष थे। इससे उनकी इस बातको भी लोग प्रशसाके रूपमे ही लेते है कि वह तो मर्यादा पुरषोत्तम थे। चलो किसी भी अशमे यह भी ठीक मानलो पर जरा सीताकी अवस्था तो देखिये। यहाँ तो यही कहना होगा कि उस समय श्रीराम अपने मनमे निष्ठुरता की बात लाये। बताना यहाँ यह है कि कोई किसीका शरण हो सकता है क्या ? मेरे आत्माका शरण बाहरमे अन्य कोई नही है। खुद ही खुदके लिए शरण है। इतने निर्णयके बाद फिर अपने आपके भीतर भी एक निर्णय और करो। मेरेमे भी मैं यह समूचा जो कुछ नजर आ रहा हू यह शरण नही है। जो कुछ भी पर्याय दृष्टिसे समझमे आ रहा है विषयकषायके भाव, विचार विकल्प तरंग, ये कोई भी मेरे लिए शरण नही है। मेरेमें अन्त प्रकाशमान जो सहज चिद्रूप है, जो अन्तस्तत्व है, चैतन्यमात्र है, जिसको हम ज्ञानमे ले सकते है, वचनोसे नही बता सकते हैं, ऐसा वह स्वसम्वेदनगम्य, वह शुद्ध एकत्व, उसका आलम्बन लें, वही शरण है, अन्य कोई मेरे लिए शरण नही है। इस जीवनमे केवल एक यह निर्णय जो रख लेगा वह पार हो जायेगा। और एक इस ही निर्णयको छोडकर कुछ भी बाहरी काम कोई कर ले, पर उससे होगा क्या ? सर्व बाह्य पदार्थोके ससर्गका विछोह तो नियमसे होगा। उनके प्रति जो ममता किया, जो उपयोग किया, जो कर्मबन्ध किया उसके फलमे मरण करके निम्न गतियोका पात्र बनना पडेगा, नाना कुयोनियोमे जन्म मरणके सकट सहना होगा। जन्ममरणकी परिपाटी भी लम्बी हो जायगी। यह अमूल्य नरभव पाना भी बेकार हो जायगा। इससे अपने आपकी वास्तविक शरण ले। बाह्य पदार्थोसे कितनी ही शरणकी आशा कर करके हैरान हो ले, पर उनसे शरण नही

हो सकेगी।

सर्वप्रिय प्रियतम अन्तस्तत्त्वकी आराध्यता— कुछ चीजे ऐसी है जो धनका त्याग करने से मिलती है। तो धन त्याग करके वे प्राप्तव्य मानी जाती है। कुछ चीजें ऐसी हैं जो परिवारको भी त्यागनेसे मिलती है, तो परिवारका भी त्याग करके प्राप्य है। कोई चीजे ऐसी प्रिय होती है जो प्राण त्यागनेसे प्राप्त होती हैं। तो प्राण त्याग करके भी प्राप्य की जावे। तो अब आप अदाज करो कि जो चीज प्राणोसे भी ज्यादह प्रिय हो वह उत्तम है या जो चीज प्राणोके बादका नम्बर रखती हो प्यारके लिए वह चीज प्रिय है। सर्वप्रिय चीज कौन है ? जिसके पानेके लिए प्राणोका भी त्याग करना पडे और प्राप्त हो तो भला समझा जावे। तो ऐसी वह चीज है धर्म, शुद्ध अतस्तत्त्वका आलम्बन। ये ज्ञानी, महर्षि, सतजन जो कि घर द्वार धन दौलत आदि समस्त परपदार्थोंका त्याग करके जगलोमे, निर्जन स्थानोमें रहकर तपश्चरण करते है, जिनके शरीरको स्यालिनी, सिहनी आदिक पशु भक्षण करते हैं अथवा दुष्ट जनो द्वारा उपद्रव ढाये जाते है ऐसे सतजनोमे क्या इतनी हिम्मत नही है कि उन उपसर्गोको वे टाल सके ? हिम्मत तो है पर उन्हे वे कुछ उपद्रव ही नही मानते। उन्हे तो इस शरीर तकका भी रच भान नही रहता। उन्हे तो प्राणोसे भी कोई प्यारी चीज प्राप्त हो चुकी है। यही कारण है कि ऐसे घोर उपसर्गोमे भी वे रच भी विचलित नही होते। उनको प्राणोसे प्यारी कौनसी चीज मिली है ?· एक अपने आपका शरण। अपने आपके आत्मस्वरूपका शरण। तो हम आप भी अपने वास्तविक शरणको प्राप्त करनेका यत्न करें। जिसको इसका दृढ निर्णय हो जायगा कि मेरा शरण तो मेरा ही अत प्रकाशमान चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व है, बस समझिये कि उसका यह मनुष्यभव पाना, उत्तम सत्सग आदिका पाना सार्थक हो जायगा।

जीवकी बद्धता, मुक्तता व अबद्धता विषयक प्रथम जिज्ञासा— इस अतस्तत्त्वके परिच्छेदनके लिए प्रथम प्रश्न हो रहा है कि यह सामान्य आत्मा कर्मसे बद्ध है या कर्मसे मुक्त है अथवा अबद्ध है ? प्रथम प्रश्न विकल्पका भाव यह है कि आत्मा कर्मसे बधे हुए है, ये सब जीव ससारमे जो भ्रमण कर रहे है ये किसी बन्धन विशेषसे बधे हुए है, ऐसे इन जीवो को निरखकर तो यही विदित होता है कि यह जीव समूचा बँधा हुआ है, इसके कोई अग प्रत्यग अबद्ध नही है, सर्वत्र बधा हुआ है। इस विचारको लेकर यह प्रश्न किया जा रहा है कि जिस अतस्तत्त्वकी चर्चा कर रहे हैं, जिसे आत्मामे सार है ऐसा बता रहे हो वह सार तत्त्व भी क्या बद्ध है ? दूसरा प्रश्न विकल्पमे यह पूछा गया है कि वह सामान्य आत्मा जिसकी चर्चा कर रहे हो क्या वह कर्मसे मुक्त है अथवा यदि बद्ध नही तथा मुक्त नही तो क्या वह बन्ध मोक्ष दोनोसे रहित अथवा अबध है। ऐसे तीन प्रश्नोकी जिज्ञासा प्रथम हुई

है। अनेक प्रश्न होंगे, उन सब प्रश्नोमे सबसे पहिला प्रश्न, सबसे पहिली जिज्ञासा जिज्ञासुको ऐसी होना प्राकृतिक है, क्योकि सर्व जीवोको स्वतन्त्रता प्रिय है। बडे दुखमे भी रहे और स्वतन्त्रता अपनी समझे तो उसे वह दुख भी पसद है, पर बडा आराम मिले और सुख मिले, स्वतन्त्रताका वहाँ घात हो तो यह आराम भी वहाँ पसद नही है, यह बता रहे है लौकिक जनोकी बात। अब अलौकिक पुरुषोकी बात देखिये—कि तपश्चरणमे विविध क्लेश बताये गए है और सामान्यतया जानते ही है लोग, उपवास करे, भूखसे कम खाये, गर्मी सर्दी आदिमे ध्यान करे, ऐसा क्लेश होता है, लेकिन वहाँ स्वतन्त्रताका अनुभव हो रहा है साधुजनोको। अपने आपका जो सहज स्वरूप है उस स्वरूपके मिलनमे उनका आत्मा तृप्त हो रहा है, उन्होने ऐसा स्वात्मसंयम अङ्गीकार किया है, वह उनकी स्वाधीन वृत्ति है। तो इस स्वतन्त्रताके त्यागमे शारीरिक सारे उपद्रव भी उनके लिए न कुछ हो जाते है। तो स्वातंत्र्यप्रिय है और पारतन्त्र्य अप्रिय है। तो ऐसा होना एक बन्ध मोक्षका ही नामान्तर है। तो उसके विषयमे जिज्ञासा हुई है कि यह सारभूत आत्मा क्या बद्ध है या मुक्त है अथवा अबद्ध है ?

निश्चय व व्यवहारदृष्टिसे आत्माके सम्बन्धमें बद्धतादिविषयक जिज्ञासाका समाधान—अब उक्त जिज्ञासाके समाधानमे सुनो—इसका समाधान दृष्टि बलसे मिलेगा। दृष्टियोमे मूल प्रधान दो दृष्टियाँ होती है-(१) निश्चयदृष्टि और (२) व्यवहारदृष्टि। अभेददृष्टि व भेददृष्टि, शुद्धनय व अशुद्धनय, भूतार्थनय व अभूतार्थनय, अन्तर्नय व बहिर्नय आदि किन्ही भी शब्दो से कह लीजिए। एक होता है अखण्ड विषयका द्योतक और दूसरा वहाँ होता है खण्डता का द्योतक। यद्यपि खण्डताका द्योतक व्यवहार भी अखण्डताका ज्ञान करानेके लिए ही कमर कसकर आता है और तब वह भी सुनय कहलाता है, लेकिन उनका साक्षात् विषय, उनका जो साक्षात् पार्ट अदा करता है वह तो भेदपरक है, इस कारण उसे अभूतार्थ भी कहा है। तो यो दो प्रकारकी नयदृष्टियाँ मूलमे होती है—निश्चय और व्यवहार। व्यवहारसे जब निरखते है तो ज्ञात होता है कि आत्मा कर्मसे बद्ध है। कोई आत्मा कर्मसे मुक्त है। जब जीवकी पर्यायपर दृष्टि देते है तो कोई जीव बद्ध विदित होता है, कोई जीव मुक्त विदित होता है। कर्मोसे बँधे है ऐसा दर्शन भी पर्यायदृष्टिमे हो पाता है। और जीव कर्मसे छूट गया है यह दर्शन भी पर्यायदृष्टिमे हो पाता है। पर्यायदृष्टि कैवल्यका विषय न कर अकैवल्यका विषय करनेसे अशुद्धनय है। यही व्यवहार दृष्टि है। यह नय अनेको को विषय करता है और अनेकोके साथ ही इसका निर्णय बना करता है। जीव कर्मसे छूट गया है। दो की दृष्टि की। की छूटनेकी दृष्टि, पर मुक्तिपना भी दो का आश्रय लिए बि बताया नही जा सकता। दो का आश्रय होना ही पडेगा तब यह कथन चल सकेगा।

व्यवहारदृष्टिसे यह सामान्य आत्मा, यह समयसार जिसमे देखा जा रहा है ऐसा जीव, वह बद्ध है पर्यायदृष्टिसे और मुक्त है, किन्तु निश्चयत यह जीव कर्मसे अवद्ध है। निश्चयत: क्या है ? जो है सो है। कर्मसे बँधा है, यह भी इस अद्वैत दृष्टिमे न आयगा और कर्मसे छूटा, यह भी इस अद्वैत दृष्टिमे न आयगा। वह तो जो है सो ही है। भले ही आठकाठकी खाट बन गयी। ४ मिचवा, २ पाटी, २ सिरे मिलकर खाटका रूप ले लेते है। मगर प्रत्येक काठको अगर देखेगे तो वह तो वही है, अन्य कुछ नही बन गया। वे प्रत्येक काठके अवयव सब अपनेमे ज्यो के त्यो हैं। उनमे खाटका रूप नही पडा है पर उन सबको मिला कर एक काठका रूप दे दिया गया। तो सहजस्वरूप जो आत्मामे अपने सत्वके कारण है वह न कर्मसे बँधा है, न कर्मसे छूटा है। वह तो वही है। इस तरह व्यवहारदृष्टिमे बंध मोक्षकी परख होती है और निश्चयदृष्टिमे एक उस सहज स्वरूपकी ही निगाह होती है।

जीवके सम्बन्धमें शरीरसे संयुक्त, वियुक्त अथवा अयुक्त विषयक द्वितीय जिज्ञासा—अब इस आत्माके सम्बन्धमे द्वितीय जिज्ञासा आ रही है कि यह परमब्रह्म शरीरसे सयुक्त है या वियुक्त या अयुक्त। इसमे भी पूर्वकी भाँति ३ प्रश्न विकल्प हैं। प्रथम विकल्पमे तो सीधे सादे ठौरसे जब यहाँ जगतमे देखा गया है कि यह जीव शरीरधारी है, शरीरके विना जीव कोई नजर ही नहीं आ रहे, सभी सशरीर है। शरीरके विना जीव भी कुछ होता है, ऐसी कल्पना तक भी जहाँ नही है। ऐसे मूडमे लोगोको दिख ही रहा है कि जीव शरीर सयुक्त है। तो मरण, मुक्ति आदिकी बात सुननेवालेको कुछ सदेह हो रहा कि क्या शरीर सयुक्त ही जीव है, ऐसे सदेहवालोको यह प्रश्न विकल्प हो जाता है कि यह आत्मा क्या शरीरसयुक्त है ? दूसरे विकल्पमे जहाँ यह दृष्टि बनती है कि लोग मरते है, शरीर पडा रहता है, जीव चला जाता है तो वह जीव तो ऐसा अलग ही है, यहाँ भी वह शरीरसे वियुक्त होगा अथवा मोक्ष अवस्थामे तो वहाँ शरीर रहता ही नहीं है, तो शरीरसे वियुक्त रहकर रहना बस यह ही जीवस्वरूप है, इस आशयमे प्रश्न विकल्प हुआ है कि क्या जीव शरीरसे वियुक्त है ? जब ये दोनो विकल्प हुए हैं और सम्भावना हो जाय कि शायद ऐसा भी हो कि ये दोनो बाते भी सही न हो तो तीसरी जिज्ञासा बनती है कि क्या यह शरीरसे न सयुक्त है और न क्या शरीरसे वियुक्त है ? याने अयुक्त ही है क्या।

निश्चय व व्यवहारदृष्टिसे उक्त द्वितीय जिज्ञासाका समाधान—उक्त प्रश्नोका समाधान भी पूर्वकी भाति दोनो दृष्टियोसे होगा। व्यवहारदृष्टिसे तो यह जीव कदाचित् शरीरसे सयुक्त है और कदाचित् शरीरसे वियुक्त है। इस संसार अवस्थामे यह जीव शरीरसयुक्त है, शरीरमे रहता है। मरण करके भी यह जीव एक सूक्ष्म शरीर साथ लेकर जायगा। अगले भवमे दूसरा शरीर ग्रहण कर लेगा। फिर स्थूल शरीर सहित होगा ही

यह जीव। देखिये—शरीरसे संयुक्त अनादि कालसे चला ही आ रहा है यह। अनादिसे लेकर अब तक ससारी जीवोकी यह स्थिति न हो सकी कि ये कभी एक क्षणको शरीरसे निराले तो रह सके। स्थूल शरीरसे न्यारे होते रहे १, २ या अधिकसे अधिक तीन समय तक, लेकिन सूक्ष्म शरीरने एक समयको भी छुट्टी नही दी इस आत्माको। तो इस तरह यह जीव शरीरसंयुक्त अनादिसे ही चला आ रहा है, यह बात निरखी जा रही है व्यवहार-दृष्टिसे। दो का सम्बन्ध देखा जा रहा है, दोनोको परखा जा रहा है, स्थितियाँ देखी जा रही हैं तो वहाँ यह विदित हुआ कि यह जीव शरीरसे संयुक्त है। और जब कर्मक्षय हो जाता है, अष्ट कर्मोका विनाश हो गया, उस समय यह जीव शरीरसे रहित रहता है तो देखो वह जीव मुक्त जीव शरीरसे रहित हो गया तो ऐसा शरीरमुक्त निरखना भी व्यवहार दृष्टिसे परखा गया है, किन्तु वह एक शाश्वत् आत्मा जो संसार अवस्थामे था वही मुक्त अवस्थामे है, इसलिए उस एकको क्या कहेगे ? यदि उसे कहेगे कि शरीरसयुक्त है तो शरीर जब न रहे तो उसका नाश हो गया, यो मानना पडेगा। यदि यह कहे कि वह तो शरीरसे मुक्त है तो उसका प्रारम्भ मोक्षसे ही माना जायगा, उससे पहिले न माना जायगा। तो निश्चयदृष्टिमे न सयुक्त है, न वियुक्त है, किन्तु वह तो अमुक्त है, जो है सो ही है अपने आपमे, परके संयोग वियोग, दोनोका वहाँ योग नही है।

पर्यायबुद्धिको छोड़कर अन्तः सहज चित्स्वभावको आत्मसात् करनेकी शिक्षा—यहाँ अपने आपके शिक्षणके लिए ध्यानमे लाना कि यह जीव अनादिसे लेकर अब तक पर्यायबुद्धि करता आया है। जिस पर्यायमे गया उसी पर्यायको आपा मानकर रह गया और उसी आदतके अनुसार घूमते-घूमते आज मनुष्यभवमे हम आप आये है। यहाँ भी प्रकृत्या वही कार्य दुहराया जा रहा है, यह खेदकी बात है। इतना तो निर्णय करके यहाँ कुछ प्रसन्न रहना ही चाहिए कि जगतके अन्य जीवोसे हमारी बहुत उत्कृष्ट दशा है। निगोद जीव, एकेन्द्रिय जीव, पशुपक्षी आदिक जीवोसे हम आपकी दशा कितनी ही भली है ? यह बात भी जानी जा सकती है बडी सुगमतासे, ऐसे इस उत्कृष्ट भवको पाकर यहाँ भी हम पर्यायबुद्धिमे रहे तब तो वैसी ही हालत समझिये जैसे कि एक कहावत है कि कहाँ गए थे ? दिल्ली। · क्या किया ? भाड झोका।···अरे भाड ही झोकना था तो फिर दिल्ली क्यो गए, अपने ही गाँवमे रहकर भाड झोकते। यहा ही क्या कमी थी ? तो ऐसे ही समझिये कि हम आपने इस मनुष्यपर्यायको पाकर यदि इसे व्यर्थ ही गवा दिया तो इसके पानेसे फायदा क्या उठाया ? अरे पशु पक्षी आदिककी पर्यायोमे ही बने रहते। बल्कि यहा तो समझिये कि जैसे अपना ही गाव छोडकर दिल्ली जाकर भाड झोका तो वहां तो यहाकी अपेक्षा ज्यादह भी कमाया, पर यहा इस मनुष्यपर्यायमे आकर इसे व्य-

देनेमे तो कुछ भी लाभ न मिल जायगा। इस मनुष्यभवको पाकर यदि कोई अलौकिक पौरुष न किया, व्यर्थमे ही खो दिया तो वह तो भाड भोकना जैसा ही कहलाया। इस मनुष्यपर्यायमे आकर यदि पर्यायबुद्धि की, विषय कषायोकी ओर ही लगे रहे तो फिर यहा जीनेसे क्या फायदा ? जिन्दा रहे तो क्या, न जिन्दा रहे तो क्या, दोनो बराबर बराबर हैं। हम इस जीवनमे पर्यायमूढताको त्यागकर अन्त चित्स्वभावका आश्रय करें।

पर्यायबुद्धिके कारण मैत्री सद्गुणका विघात—यह पर्यायबुद्धि ही एक बहुत बडा दुश्मन है। इसी पर्यायबुद्धिके कारण जो ज्ञानियोके लिए चार गुण बताये गए है—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ आदिक ये गुण नही-प्रकट हो पाते। जिसके पर्यायबुद्धि है अर्थात् यह जो दिखनेवाला शरीर है इसको निरखकर कहता है कि यही मैं हू, तो भला बतलाओ जो शरीर जलकर खाक हो जायगा, राख बन जायगा उस शरीरके प्रति ऐसी आत्मीयता की बुद्धि होनेका क्या फल होगा ? लोग इस मुझको (शरीरको) पहिचान जायें, लोग इसको श्रेष्ठ जाने, ऐसी शरीरके प्रति आत्मीयताकी बुद्धि रखकर अहंकार किया करते हैं, इस शरीरका फोटो बनवाते है, स्टेचू बनवाते हैं, तो भला बतलाओ ऐसे नाशवान शरीरमे आत्मीयताकी बुद्धि क्यो की जा रही है ? मेरे मरनेके बाद हजारो वर्षों तक हमारा स्टेचू लोगोको दिखे, कैसे हाथ पैर, कैसे गाल नाक आदि, उस अचेतन पाषाणके रूपमे इसकी मेरी बात लोगोको झलकती रहे, ऐसी वासना रहती है तो यह कितनी तीव्र पर्यायबुद्धि है ? ऐसी पर्यायबुद्धिमे रहना यह तो एक बेकारका जीवन है। इस पर्यायबुद्धिके बलपर ही तो लोग लोकमे अधिकाधिक धनी कहलवानेके लिए लोकमे अधिकसे अधिक विद्यावान कहलवानेके लिए, लोकमे नेता परोपकारी आदिक कहलवानेके लिए रात दिन श्रम किया करते हैं। पर्यायबुद्धिका यह विष, यह घोर परिश्रम, यह जीवको पीसे डाले जा रहा है। पर्यायबुद्धि रखना हम आपका कर्तव्य नही है। ऐसे पर्यायबुद्धि जीवोके सब जीवोके प्रति मैत्रीभाव कहाँसे प्रकट हो सकता है ? लेकिन इस जीवके जब तक यह दृष्टि नही आती कि सब जीवोमे मित्रता रहे तब तक आत्माका उत्कर्ष नहीं हो सकता। इन अनन्त जीवोमे से घरके दो चार जीव छाटकर किसी तिजोरीमे (उपयोगकी तिजोरीमे) रख लेना, उनको जरा भी कष्ट न होने देना, ये लोग बडे सुखमे रहे, बडे आरामसे रहे, ऐसा जो अपने उपयोगकी तिजोरीमे बन्द कर रखा है और शेष जीवोको ये गैर है, कुछ नही हैं ऐसा माना, उनमे चेतना ही नही है मानो ऐसा मान लिया हो, इस प्रकारकी दृष्टि रखना यह कितना घोर पर्यायबुद्धिका अन्धकार है ? ऐसे जीव क्या अपने आत्माका उत्कर्ष, उन्नति, सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकेंगे ? नही कर सकते।

पर्यायबुद्धिमें गुणिप्रमोद गुणका विघात—जिनको पर्यायबुद्धि लगी है, मेरे विद्वत्

मेरे विचार ये ही उत्तम है, ये ही मैं हू और इनसे ही लोकमे मेरी श्रेष्ठता है, मैं भला कहलाता हू, यही मैं हू ऐसी जिसको पर्यायबुद्धि बनी हुई है वे गुणी जनोमे वास्तविक प्रमोद कर ही नही सकते। उनके चित्तमे ईर्ष्या रहती है, अथवा उनके उत्कर्षकी भावना नही रहती। उत्कर्ष न देख सके, हृदय उनका उत्कर्ष न सह सके, इस प्रकारकी भीतरमे जलन बनी रहती है, सो वे इस जलनमे अपना उत्कर्ष कैसे कर सकते है? तो पर्यायबुद्धिके महा विषपानकी दशा देखते जाइये कि यह मूढता कितना अपने आत्माको घोर अनर्थमे ले जाने वाली है। जिन जीवोमे, जिन प्राणियोमे मैत्रीभाव है उनको उत्कर्षका अवसर है, क्योकि वे अन्त नि शल्य हो गए है, इसी प्रकार जिनको गुणियोमे प्रमोदभाव है वे भी नि शल्य हो जाते है, क्योकि उनके खुदके गुणोकी दृष्टि हो गयी है तब ही तो गुणियोमे गुण दिख रहे है। जहाँ सम्वेगभावका स्वरूप बताया गया है कि धर्म, धर्मफल और धर्मात्माओमे अनुराग रखना, तो यहाँ अनुरागका अर्थ क्या है? वही प्रमोद। प्रमोदका अर्थ है गुणोमे उपलब्धि। तो गुणोमे प्रमोदभाव जगे बिना आत्मा उत्कर्ष नही हो सकता और पर्यायबुद्धि छोड़े बिना गुणियोमे प्रमोदभाव जागृत नही हो सकता।

पर्यायबुद्धिमें कारुण्य और माध्यस्थ्य गुणका विघात—कारुण्यभाव-जिनको अपना मान लिया उनमे लोगोके बडी जल्दी करुणा करुणा उत्पन्न होती है। जैसे घरका बच्चा बीमार है तो बडी दया आती है, इष्ट आदमी बीमार है तो बडा कष्ट अनुभव करते है, उसपर बहुत बडी दया करते है लेकिन वह दया उनकी शुद्ध दया नही है। वह मोहमिश्रित बात है। बताना यह है कि दयाका आधार यह है कि अपना समझना, अपने समान समझना। तो जो पुरुष सर्व जीवोको अपने समान समझता है उसको कितनी अद्भुत करुणा प्रकट होगी? जो ऊँचीसे ऊँची बात है वही उनके लिए चाही जायगी। जिनको अपना मान लिया, जिनमे तथ्यदृष्टि हो गयी उनके प्रति सोचेगे तो यही सोचेगे कि जो सर्वोत्कृष्ट चीज है वह इसे प्राप्त हुई। वह है आत्मस्वातन्त्र्य मुक्ति, आत्मीय आनन्दका लाभ। जिस स्वरूप रूप ही है यह। यह अज्ञानदशाको छोडकर उस चीजको पा लेवे तो यह सदाके लिए सुखी हो जावे। ऐसी परम करुणा ज्ञानी जनोके होती है। लेकिन जो पर्यायबुद्धि जन है उनके यह परम करुणा कहाँसे जगेगी? अपने आपकी ही करुणा नही कर सकते। माध्यस्थभाव भी पर्यायबुद्धिके परिहार बिना जग नही सकता। जो विपरीत वृत्ति वाले लोग है, विरुद्ध चलते हैं, जिनकी दोषदृष्टि है, जो ईर्ष्यालु है, अज्ञानी जन है, समझाने पर भी जो न समझ सकेंगे, समझ ही न सकेंगे, क्योकि जो सोया हो वह जग जायगा, पर जो जागता हुआ सोने जैसा रूपक रखे, उसे कौन जगा सकता है? ऐसी विपरीत बुद्धि वाले जो लोग है उनमे माध्यस्थ्यभाव होना, यह बात भी पर्यायबुद्धिसे होन

कठिन है। भले ही यह बात मिथ्यादृष्टि जीवोके भी बन जाती है, ऊपरसे बन जाय, थोडा बहुत भीतरमे भी भाव बन जाय, लेकिन वह मौलिक बात नही जग सकती है, जो सम्यक्त्वके अभ्युदित होने पर जो प्रशम आदिक उत्पन्न होते है, मैत्री प्रमोद आदिक भाव जगते है वे बातें मिथ्या आशयमे नही हो सकती।

श्रेयस्कर अनुभव और यत्न--कर्तव्य यह है कि पर्यायबुद्धिका त्याग करे। जिसमे पर्यायबुद्धि छूट जाय और अपने आपके उस सहज आत्माके दर्शन करें और रहे सहे रागादिक दोषोको दूर करनेका यत्न करें, ऐसे कर्तव्यरत पुरुषोको बाहरी बातोमे लगाव कैसे हो सकता है ? और चाहे दुनियाके लोग बुरा कहे या भला कहे, उसका इस आत्मापर कोई असर नही है, यह उनका दृढ निर्णय हो जाता है। यहा उस ही अन्तस्तत्त्वकी बात यहा बतायी जा रही है कि अपने आपको किस रूपमे अनुभव करियेगा ? मैं मनुष्य हू—इस तरहका अनुभव करना गलत मार्ग है, आत्महितका मार्ग नही है। मैं अमुक जातिका हू, अमुक कुलका हू, अमुक पोजीशनका हू, इतना धनी हू, इतना विद्वान हू। अरे ये सब ससार के नाटक हैं, इन नाटकोमे आत्मीयताकी बुद्धि कोई करे तो उसका भला नही है। इन सब पर्यायोसे बुद्धि हटाकर अपने आपका इस तरह अनुभव करे कि मैं तो एक सहज चैतन्य-प्रकाश हूँ। भले ही यह नाना स्थितियोमे रह रहा है, इन योनियोमे, इन शरीरोमे, इन मूर्तियोमे रह रहा है और यहा कुछ विषय कषाय क्रोधादिकके भाव भी चल उठते हैं, कभी कभी शुभभाव भी चलते है, इतनी स्थितिया भी हो रही, लेकिन ये मैं नही हू। मैं तो इनसे विविक्त एक सहज चैतन्यस्वरूप हू। इस तरह अपने आपमे तथ्यभूत अहताका अनुभव हो और इन अध्रुव पर्यायोमे अहपनेका अनुभव रहे, ऐसी दशा यदि बन जाय तो लोग चाहे मेरे प्रति कुछ कहा करें तो मेरा तो भला ही हो गया। अपनी भलाईके लिए इन पर्यायोमे अहरूपका अनुभव न करना, किन्तु शाश्वत् अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यप्रकाशमे अहरूपका अनुभव करना, यह हमे इस प्रकरणसे शिक्षा लेना है। हमारा उपयोग इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वके चिन्तनमे, मननमे रहा करे और इसमे लीन हो, ऐसी अपनी भावना और यत्न होना चाहिए।

आत्माके कर्तृत्व अकर्तृत्वके विषयकी तृतीय जिज्ञासा—अब जिज्ञासुकी यह तृतीय जिज्ञासा चल रही है कि यह आत्मा क्या स्वभावका कर्ता है या विभावका कर्ता है अथवा अकर्ता है ? जगतमे क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय कषाय, इच्छा इनका परिचय हो रहा है। अपनी प्रवृत्ति और लौकिक प्रवृत्तिसे यह स्पष्ट हो रहा है कि यहा विषय कषाय इच्छा आदिक हैं तो इनका करनेवाला तो यह जीव ही होगा, क्योकि ये परिणमन जीवोके हैं, जीवकी अवस्थायें हैं, तो इनको करनेके लिए और कौन आयगा ? ऐसा आशय रखकर

यह जिज्ञासा बन रही है कि यह आत्मा क्या इन विषय कषाय आदिक विभावोका कर्ता है ? तथा साथ ही यह भी विदित होता है कि जब ये रागादिक किसीके कम है, किसीके और कम है तो किसी जीवके बिल्कुल भी न होंगे। यहाँ उसका ज्ञान किसीके अधिक है, किसीके और अधिक है तो किसीमे ज्ञान पूर्ण होगा। तो ऐसी स्थिति जिनको प्राप्त हुई है अर्थात् ज्ञान तो परिपूर्ण हो गया है और रागादिक भाव बिल्कुल भी नही रहे है, ऐसी स्थितिमे जो भी ज्ञान बन रहा है वहाँ शुद्ध आनन्द बन रहा है, ऐसे ऐसे उन स्वभावभावों का यही जीव कर्ता होगा, ऐसा आशय रख करके इस जिज्ञासाका दूसरा विकल्प पूछा जा रहा है कि क्या यह स्वभाव भावका कर्ता है अथवा यह भी सम्भावित किया जा सकता है कि न तो यह आत्मा विभावका कर्ता है और न स्वभावका कर्ता है, किन्तु अकर्ता है। जैसे कि अन्य अद्वैतवादियोने भी स्वीकार किया है कि यह ब्रह्म तो नित्य अकर्ता है तो ऐसे इन तीन विकल्पोके साथ यह तृतीय जिज्ञासा हुई है।

उक्त जिज्ञासाके समाधानमे कहते है कि यह चेतन कर्तृत्वके सम्बन्धमे जब परीक्षित होता है तो व्यवहारदृष्टिमे यह विदित होता है कि यह विभावभावका कर्ता है। विषय कषाय आदिक परिणामोका करनेवाला है, और जब एक शुद्ध पर्यायकी दृष्टिमे देखा जाता है, कर्ममुक्त जीवोको देखा जाता है तो वहाँ विदित होता कि यह स्वाभाविक भावका करने वाला है। ये दोनो बाते व्यवहारदृष्टिसे विदित होती हैं, पर निश्चयत तो यह आत्मा, सामान्य आत्मा यह अतस्तत्त्व, जिसके सम्बन्धमे पहिले बहुत वर्णन किया गया था कि उस तत्त्वके बारेमे बात कही जायगी, उसका परिचय दिया जायगा, वह शुद्ध अन्तस्तत्व सामान्य आत्मा वह अकर्ता है। यहाँ निश्चय और व्यवहारका अर्थ है शुद्ध नय और अशुद्ध नय। जहाँ कैवल्यकी दृष्टि हटी और कुछ भी उसमे अध्रुव या कोई भी तरग आये उसमे परिणमन रूप ही द्वैतको समझना चाहा तो वह सब अशुद्ध नय कहलाता है। जहाँ ही कोई भेद जचा, भीतरसे ही कही कुछ नयके विचार चले कि वहाँ द्वैतबुद्धि आ जाती है। प्रभु अरहंत सिद्ध ये अनन्त ज्ञानादिक स्वाभाविक परिणमनोके कर्ता है। यह भी अशुद्ध नयमे कहा जा रहा है। यहाँ अशुद्ध नयका अर्थ पर्याय अशुद्ध न लेना, किन्तु द्रव्यकी दृष्टिसे चिग कर जो पर्यायभेद-दृष्टिमे आया उस नयसे कहा जा रहा है कि प्रभु ज्ञान और आनन्दके कर्ता है। केवल एक ही शुद्ध शाश्वत कैवल्यको निरखने पर वह कर्ता नहीं है यह ज्ञात होता है। द्रव्यदृष्टिसे चिगकर शुद्ध पर्यायकी भी दृष्टिमे आये तो भी वह अशुद्ध नय है। और जब अशुद्ध पर्यायकी दृष्टिसे बताया जाय तो वह अशुद्ध नय प्रकट ही है। तो इस अशुद्ध नय मे गर्भित सर्वपर्यायोकी दृष्टिको व्यवहारनय कहा गया है। तो व्यवहारदृष्टिसे यह जीव स्वभावभावका कर्ता है, विभावभावका कर्ता है और निश्चयदृष्टिसे अर्थात् शुद्ध नयसे

निश्चयदृष्टिसे जिसके कि भेद नही किए जा सकते उस दृष्टिमे यह आत्मा अकर्ता है।

निश्चयनयके तीन प्रकारोंमें परमशुद्धनिश्चयनयका शुद्धनयसे साम्य—निश्चयनय के तीन प्रकार भी बताये गए है— (१) परमशुद्ध निश्चयनय, (२) शुद्ध निश्चयनय (३) अशुद्ध निश्चयनय। परमशुद्ध निश्चयनयका भाव है इस शुद्धनयसे। इस प्रकरणमे जिसको शुद्धनय कहा जा रहा है वह परमशुद्ध निश्चयनय है। गुणपर्याय आदिक भेदोसे रहित केवल एक शाश्वत स्वभावमे ग्रहण होना सो शुद्धनय है, परमशुद्ध निश्चयनय है, अथवा भूतार्थनय है। तो निश्चयनयके तीन प्रकारोमे परमशुद्ध निश्चय तो शुद्धनयसे अनर्थान्तर है। अब निश्चयनयके दो प्रकार देखिये— शुद्ध निश्चयनय, और अशुद्ध निश्चयनय। शुद्ध निश्चयनयका अर्थ है कि केवल द्रव्यको उसकी शुद्ध पर्यायोरूपमे निरखना और उस शुद्ध पर्यायका उसही द्रव्यसे सम्बन्ध निरखना अर्थात् ये अनन्त ज्ञानादिक शुद्ध परिणमन इस आत्मासे हुए, इस ही के द्वारा हुए, इसही रूप यह परिणम रहा है। सारा सम्बन्ध वही निरखना। यहाँ यह बात दृष्टिमे न आयगी कि कर्मोके क्षयसे अनन्तज्ञान उत्पन्न हुआ है, क्योकि शुद्धनिश्चय दृष्टिका अभी इस दृष्टाने व्रत ले रखा है। तो उस ही शुद्धपर्यायरूपमे उस द्रव्यको निरखना, यह है शुद्ध निश्चयनयका काम। तो यह भी व्यवहारनयमे गर्भित है। जो प्रकरणमे व्यवहारनय कहा जा रहा है उसका अर्थ है कि अभेदसे चिगकर भेदमे आना। शुद्ध पर्यायको भी देखा, किन्तु भेदमे आया तो वह भी इस प्रसगमे व्यवहारनय है। अब अशुद्ध निश्चयनयका विषय देखिये। यह अशुद्ध निश्चयनय पदार्थकी अशुद्ध पर्यायको उस पदार्थमे निरखना, वहापर भी उसही मे अद्वैत बुद्धि बनायी गई है कि यह रागादिक भाव यह कषायभाव आत्माका परिणाम है। आत्माकी परिणतिसे हुआ है, आत्मामे हुआ है और आत्माके लिए हुआ है। उसका फल भी इसे प्राप्त हो रहा है, इस तरह उन अशुद्ध पर्यायोको उस ही एक द्रव्यमे सम्बन्धित देखना, यह है अशुद्ध निश्चयनयका दर्शन। यहाँ भी यह व्यवहारनयमे माना गया है, तो व्यवहारनय शुद्ध निश्चयनय अशुद्ध निश्चयनयका विषय भी बता रहा है और इसके अतिरिक्त जो अन्य व्यवहार है कर्मोका सम्बन्ध, परद्रव्य का मेल इसको भी बताता है। तो यहाँ व्यवहारनयसे देखनेपर तो यह विदित होता है कि जीव स्वभावभावका कर्ता है और विभावभावका कर्ता है। पर निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्धनय, परमशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे यह जीव अकर्ता है।

किसी दृष्टिका एकान्त करके मान्यता बनानेमें विडम्बना—यहा इतना और ध्यानमे लाइयेगा कि निर्णय तो इस तरह है, लेकिन जिस दृष्टिमे जो बात दिख रही है उसको एकान्तत. मान लेना कि सर्वथा ही ऐसा है, बस इस एकान्तवादमे इन अनेक मतोकी उत्पत्ति हुई है। जहा किसीका सिद्धान्त है कि ब्रह्म सर्वथा अकर्ता है और जब प्रश्न किया जाता है

कि यह ब्रह्म सर्वथा अकर्ता है तो ये रागद्वेष जो यहां नजर आ रहे है इनका करनेवाला कौन है ? तो उत्तर दिया जाता है कि प्रकृति । यद्यपि यहां तक भी कुछ समन्वय था कि प्रकृतिका उदय होनेपर रागादिक हुए । हुए आत्मामे, लेकिन प्रकृतिके साथ अन्वयव्यतिरेक है रागादिकका ऐसे प्रकृति कर्ता है, ठीक है, लेकिन यह प्रकृति प्रकृतिरूपमे न रही, कर्म-प्रकृति रूपमे प्रकृतिको नही माना गया, किन्तु प्रकृति है, कोई कुदरत है, कोई अन्य चीज है इस तरहसे बिल्कुल ही सम्बन्ध तोड दिया । आत्माका आधारवाला भी सम्बन्ध कुछ न रहा। तो ऐसा एकान्त बनानेकी जिनकी दृष्टि है उनमे बुद्धि चलती है कि वह ब्रह्म सर्वथा अकर्ता है । तत्त्व तो यह था कि यह ब्रह्म अपने सहजस्वभावरूपसे रागादिकका कर्ता नही है, वह तो जैसा है सो ही है । हा उस पदार्थमे पर्याय है, पर जिस समय पर्यायके सम्बन्धमे कोई खोज कर रहे अथवा निर्णय दे रहे तो उस समय उसकी पर्यायरूपसे ही वहा निर्णय है, न कि उसका सर्वरूपसे निर्णय है । तो इस तरह जो कहा है कि यह ब्रह्म अकर्ता है तो नयदृष्टिसे समझे तब तो संगत बैठता है और सर्वथा समझे तो संगत नही बैठता है, क्योकि व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा कर्ता है । अब कोई व्यवहारदृष्टि वाला ही एकान्त रख ले कि इन रागादिकका करनेवाला यह जीव ही है, अन्य कोई नही है और इस दृष्टिवाला दार्शनिक भी है, जिसने यह स्वीकार किया है कि जीव कभी रागरहित नही होता । मुक्त भी यह हो जाय तो भी इसका अर्थ है कि इसका राग मद है, दबा हुआ है, तब तक इसे बैकुण्ठ है और जब सदाशिवकी इच्छा होगी तो वह उन मुक्त जीवोको (बैकुण्ठ गए हुए जीवोंको) वहासे ढकेल देगा । फिर उनको उस संसारमे रुलना पडेगा । यह कुछ कथा-सी लग रही है । कुछ दर्शनसा जंच रहा है, तो इनके कथानकका भी आधार तो यही होगा । संसारी जीवोके लिए कि संसार अवस्थामे यह जीव कभी मंदराग भी हो जाय, शुक्ललेश्या जैसी स्थिति हो जाय तो यह हो जाय । इसको लोग बैकुण्ठ कहे तो कह दें, लेकिन वहां मुक्ति नही है । ऐसा बैकुण्ठ तो नवग्रैवेयक माना जा सकता है, जहां शुक्ललेश्या है, मंदराग है, कोई झंझट नही है, भूख प्यास जैसी कोई वेदना भी नही है । लौकिक दृष्टिमे ऐसा स्वरूप बताया जाय तो लोग तो उसीको भगवान कहेगे । जब यहा अवतारवाले भगवानमे खाते पीते, कपड़े पहिनते, विवाह करते, लड़के बच्चोसे सहित होते हुए भी लोग उन्हे भगवान कह डालते है तो ऐसा अगर नवग्रैवेयक देवोका स्वरूप बताया जाय तो क्या लोग उसे भगवान न कहेगे ? लोकदृष्टिमे चाहे वह भगवान है, लेकिन वहा होता क्या कि ३०–३१ सागर तक भी उनकी स्थिति होती, उतनी अवधि जब पूरी हो गयी तव वहा राग उखड गया । जन्म लेना पडा । राग उखडा तो अन्त से ही तो उखडा है और अन्त. स्वरूप सदासे मौजूद है । उस समय जब उखडा तो यह लगेगा कि यह सदाशिव क्षुब्ध हो गया

यो कथानक भी बन गया हो, लेकिन यह दृष्टिमें न रहा कि वहा कोई मुक्त दशा न थी और राग बराबर रहा आया ।

वीतराग सर्वज्ञ अवस्थाकी सिद्धि--भैया ! मन्दकषाय वैकुण्ठवास (ग्रैवेयक) से भी परे कोई दशा जीवकी हो सकती है, जो रागरहित होती है । युक्तिसे भी विचार करें कि जो बात नैमित्तिक है और वह कम कम देखी जा रही हो तो यह निश्चय नही है कि कही वह चीज बिल्कुल भी नही रहती—एक बात । दूसरी बात यह है कि जो किसी प्रतिबन्धक के द्वारा रोका जा सकता हो और वह कही अधिकाधिक देखा जा रहा हो तो यह निश्चय है कि किसी जगह वह बात परिपूर्ण भी प्रकट होती है । यह बात इसलिए कही जा रही है कि अभी जो यह कहा गया था कि राग जब मद मद देखे जा रहे हैं तो किसी आत्मामे राग लेश भी न रहे, यह भी सम्भव है ।

तो यहां कोई यह प्रश्न कर दे कि जब जीवोमे ज्ञान मन्द-मन्द देखे जा रहे हैं, किसीमे ज्ञान कम है, किसीमे और कम है तो कही एक ऐसा भी जीव होगा कि जहाँ ज्ञान बिल्कुल भी न रहता होगा, यह शका की जा सकती है । इसके ही निवारणके लिए यह बात बता रहे हैं कि जो नैमित्तिक भाव है, किसी प्रतिबधके उदयसे, उपाधिके उदयके कारण हुई है वह चीज यानी रागादिक जहा मद-मद पाये जा रहे हो तो उसका यह निर्णय है कि कोई जीव ऐसा है कि जहाँ रागादिक कतई नही रहते । अब दूसरी तरफ देखिये, यह बात बतायी गई है कि जो बात किसी प्रतिबन्धकके, आवरणके कारण रुकी हुई है और वह चीज कही अधिकाधिक मालूम पड रही है तो वह किसी आत्मामे परिपूर्ण है, यह निश्चय होता है । यह बात इसलिए कही गई कि कोई ऐसा स्वीकार न कर ले कि जैसे राग कम कम पाये जा रहे हैं तो वहाँ यह निर्णय बना कि कही राग लेशमात्र भी नही रहता । इसी तरह ज्ञान जब जीवोमे मद मंद देखे जा रहे है तब कोई जीव ऐसा भी होगा जहाँ ज्ञान कतई नही रहता । किन्तु ऐसा कहना बिल्कुल असंगत है, क्योकि ज्ञान औपाधिक नही है । इसी प्रकार कोई यह न मान बैठे कि राग जब अधिकाधिक पाये जा रहे है तो कोई ऐसे भी जीव है जिनमे राग सर्वाधिक एक रूपसे पाया जाय । वह तो नैमित्तिक चीज है । राग भी अधिक होता है, मगर कोई राग ध्रुव रह जाय और सदाकाल उस उस ही प्रकारसे परिणमे, ऐसा वहाँ न होगा । हाँ ज्ञान जहाँ परिपूर्ण विकसित हो जाता है वहाँ बात आ पडेगी कि वैसा ही ज्ञान पूर्णज्ञान शाश्वत बना रहे, परिणमता रहे, तो इन युक्तियोसे यह सिद्ध हुआ कि कोई आत्मा ऐसा हो जाता है कि जहाँ ज्ञान तो परिपूर्ण हो और रागादिक भाव रचमात्र भी न हो, ऐसी स्थिति जिनकी हुई है उन्हे कहते है मुक्त, परमात्मा तो उस अवस्थामे यह जीव स्वभावभावका कर्ता है ऐसा

कहा जाता है। व्यवहारदृष्टिसे यह निरखा जाता है। तो वस्तुत जो एक सहज अतस्तत्त्व है शुद्ध अतस्तत्त्व, सामान्य आत्मा, वह न स्वभावभावका कर्ता है, न विभावभावका कर्ता है। इसमे कर्तृत्वका विकल्प ही नही होता है। यहाँ हमे दृष्टि देना है इस अकर्ता अतस्तत्त्वकी ओर। बात यद्यपि कर्तृत्व सम्बन्धी पहिली दोनो भी सही है, मिथ्या नहीं है कि यह जीव अशुद्ध पर्यायका भी कर्ता है और शुद्ध पर्यायका भी कर्ता है, लेकिन यह कर्तृत्व पर्यायदृष्टिसे निरखा गया है। जब उस एक द्रव्यको निरखते है तो वह आत्मद्रव्य, वह ध्रुव आत्मा कर्ता नही है और कर्ता नही है इस प्रकारके निषेध करनेकी भी बात व्यवहारसे आयी हुई है। निश्चयत..तो जो है सो ही है, वह तो निश्चयदृष्टिमे निरखा जा रहा है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी आश्रेयताका स्मरण—हमको इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी ओर दृष्टि देना है, उसका आश्रय लेना है, वहाँ उपयोग जमाना है। उपयोग जम नही रहा, वहाँ दृष्टि दृढ नही हो पा रही, सो इसका कारण यह है कि उसका परिग्रहण भी और अभ्यास भी नही है। और उसके कारण लोग ऐसी आशका भी कर सकते है कि कहाँ है वह अतस्तत्त्व, लेकिन युक्ति भी बताती, आगम भी बताता और जिन्होने स्वानुभूति किया उनका अनुभव भी बताता है कि वह एक शुद्ध चैतन्यभाव और उसका दर्शन यो बाहरी ज्ञान द्वारा नही होता, यो इन्द्रिय और मनके व्यापारसे नही होता, किन्तु स्वयं प्रेक्टिकल ढंगसे उस आचरणमे लगना होगा, तब उस स्वरूपके आचरणके अभ्याससे उसका अनुभव और दर्शन होता है तो यही एक कार्य इस जीवनमे किया जाने योग्य है। पूर्णतया जिसके निर्णय हुआ कि केवल एक यही कार्य है इसीलिए हमारा जीवन है उसको यह आनन्दधाम उपलब्ध हो जाता है। अत इस आनन्दधाम ज्ञानमय तत्त्वके अतिरिक्त, आलम्बनके अतिरिक्त और मेरे करनेको कुछ नही है। ऐसी दृढ़ श्रद्धाके साथ हमे इसकी धुन रखना चाहिए।

आत्माके भोक्तृत्व अभोक्तृत्व विषयकी चतुर्थ जिज्ञासा—अब चौथी जिज्ञासामे पूछा जा रहा है कि यह ध्रुव आत्मा स्वाभाविक पर्यायोका भोक्ता है या विभाव पर्यायोका भोक्ता है या अभोक्ता है? इस जिज्ञासामे भी पूर्ववत् ३ विकल्प हुए है इस जिज्ञासुने जब यह लोकमे देखा है कि जीव सुखी, दुखी, आकुलित, क्षुब्ध, इन पर्यायोमे, अवस्थाओंमें चल रहे है, और अन्य जीवोमे ही क्या दुख? खुदमे ही अनुभव किया इसकी अशान्ति, सुख दुख, विकल्प विचार, तरंग ये नाना उत्पन्न हो रहे है, तो इनके ये भोगनेवाले बन रहे है। तो यह जीव विभावपर्यायोका भोक्ता तो है ना। इस तरह यह प्रश्न विकल्प हुआ है कि क्या यह ध्रुव आत्मा, यह पूरा आत्मा क्या इन विभावपर्यायोका भोक्ता है? अथवा विभाव पर्याये जब नही रहती है, एक स्वाभाविक ज्ञानानन्द जहाँ वर्तता रहता

ऐसी स्थितिको आशयमे रखकर प्रश्न विकल्प हुआ है कि क्या यह स्वभावपर्यायोका भोक्ता है ? मुक्त हो गया जीव, शुद्ध ज्ञानानन्दरसमे लीन हो गया जीव तो वहाँ क्या दिख रहा है ? आनन्द भोग रहा है। वहाँ भी आनन्द न भोगे, आनन्द न मिले तो वह भगवान क्या है ? ऐसे आशयसे यह जिज्ञासा बनी है कि क्या यह आत्मा स्वभावपर्यायका भोक्ता है ? अथवा जब सामने दो प्रश्न विकल्प हैं तो यह सम्भावित है कि न स्वभावपर्यायका भोक्ता होता, न विभावपर्यायका। तो क्या इस तरह अभोक्ता है ? ऐसे तीन प्रश्न विकल्पोमे यह चौथी जिज्ञासा बनी।

आत्माके भोक्तृत्व अभोक्तृत्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—उक्त जिज्ञासाके समाधानमे कहते है कि इस प्रसगका भी समाधान पानेके लिए उन दो दृष्टियोसे समझना होगा—निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि। व्यवहारदृष्टिसे तो यह आत्मा रागद्वेषादिक विभाव पर्यायोका भोक्ता है और कर्ममुक्त होनेपर स्वभावपर्यायका भोक्ता है, किन्तु शुद्धनयकी दृष्टिमे जिसका विषय सहज सत्त्व है, यह आत्मा अभोक्ता है, न स्वभावपर्यायका भोक्ता है, न विभावपर्यायका। भोक्ता मात्र ही नही है। भोक्तृत्वका अर्थ अनुभवन ले लीजिए। तो अनुभव बिना कौन जीव रहेगा ? किसी भी जगह जीव हो, कुछ भी परिस्थिति बन रही है उस परिस्थितिको भोग रहा है। ज्ञानी ज्ञानमय परिणामका भोक्ता है, अज्ञानी अज्ञानमय परिणामका भोक्ता है और सिद्ध प्रभु परमात्मदेव उस शुद्ध ज्ञानानन्दको भोग रहे है। तो अनुभवन सबमे चल रहा है। उस दृष्टिसे निरखनेपर यह जीव भोक्ता है, अनुभवन करनेवाला है, लेकिन यह जीव जो अनुभवन करता है और जो परिस्थिति मिली है उस पर्यायको भोगता है, ऐसा निरखनेमे तो द्वैत बुद्धि हुई, भेदबुद्धि हुई। एकमे ही भेद करके समझा गया है, सो भले ही यह सद्भूत भेद है, लेकिन वस्तु सहज तो अभेद स्वरूप है। कोई भी पदार्थ हो हम उसकी परिणति और उसका प्रयोजन निरखकर भेद कर लेते हैं। एक अग्नि ही है। अग्नि अपने स्वरूपमे जो है सो है और जिस स्थितिमे है वही उसकी स्थिति भी है। लेकिन उमे समझनेके लिए जब हम कहते है—देखो यह अग्नि जलती है, यह अग्नि प्रकाश करती है, यह अग्नि भोजन पकाती है, इस तरह हम भेद करते हैं। यह भेद असत्य नही है। काम सब हो ही रहे है उस अग्निके द्वारा। अग्नि जलाती है, और इसे कोई मना करें तो झट उसके हाथपर अग्नि रख दो। वह झट कह उठेगा अरे रे रे— अग्निने तो जला दिया। तो ये भेद असत्य नही हैं। किन्तु इन्हे अभूतार्थ यो कहा गया है कि उस पदार्थमे उसके सहजसत्त्वके कारण कहाँ यह भेद नही डाला हुआ है। जीव रागादिक भावोका करनेवाला है। उस रूपसे परिणमता है। तो जीव रागरूप परिणमता है, यह यद्यपि व्यवहारसे कहा है। सो यह बात असत्य है क्या ? कि जीव

रागरूप परिणम रहा है ? असत्य नही है। परिणमता है अन्यथा मोक्षमार्ग समाप्त हो जायगा। किसके लिए मुक्ति करना, मोक्षमार्ग करना ? यह तो रागरूप परिणमता ही नही है। जब यह मुक्त ही पडा हुआ है तो फिर मुक्ति मायने क्या ? उसमे कार्य क्या ? तो यह नही कहा जा सकता कि आत्मा रागी नही है या राग परिणमन वाला नही है। आत्मा रागी है, यह बात तथ्यकी है, लेकिन जीवमे जीवके ही सहज शक्तियोके कारण, स्वरूपके कारण यह बात बनी हो, सो नही है। तब उस दृष्टिसे यह असत्य है और यह अभूतार्थ है, और इस दृष्टिमे राग अभूतार्थ है, राग परिणमन, रागकर्तृत्व अभूतार्थ है। इसको जरा गौण करके अब शुद्ध पर्यायकी बात भी देखो कि यह जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त रूपका परिणमाता है, कर्ता है—यह कहा, सो यह भी अभूतार्थ जानियेगा, तो क्या यह भी असत्य है कि भगवान परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दके अनुभवने वाले है ? यह असत्य तो नही है, लेकिन उस शुद्ध अन्तस्तत्वकी दृष्टिमे कर्तृत्व भोक्तृत्व है नही, फिर द्वैत करके जहाँ बताया तो अभूतार्थ है। इसलिए व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा भोक्ता है और निश्चयदृष्टिसे यह अभोक्ता है।

ज्ञानावस्था होनेपर कदाचित् जीवके भोक्तृत्वकी संभावनाविषयक जिज्ञासा—कल यह वर्णन चल रहा था कि यह चेतन निश्चयदृष्टिसे अभोक्ता है और व्यवहारदृष्टिसे कोई स्वभावपर्यायका भोक्ता है और कोई विभावपर्यायका भोक्ता है। इस प्रकरणसे सम्बन्धित एक यह प्रश्न उठता है कि यहाँ लोकमे आत्माकी दो पद्धतिया रहती है। कोई अज्ञान अवस्थामय रहती है और कोई ज्ञान अवस्थामय रहती है। तो अज्ञान अवस्थामे विभावोकी उत्पत्ति होती है, और विभावोका वह अज्ञानी भोक्ता है। याने अज्ञानी रागद्वेषोका कर्ता है और उसके फलमे दु खोका भोक्ता है। इसमे तो कोई सशयकी बात नही है, किन्तु ज्ञान हो जानेपर, सम्यक्त्व हो जानेपर फिर विभावोकी उत्पत्ति होती है या नही और उनका भोगना होता है कि नहीं। उक्त प्रश्नके समाधानमे यह समझना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान होनेपर जब तक वीतराग दशा नही होती है तब तक जीवके विभाव उत्पन्न होते है। और विभावोके होनेका ही नाम भवन है, उसीका नाम अनुभवन है, तो इस दृष्टिसे विभाव उत्पन्न होते है और विभावोका भोगना होता है लेकिन वह सब अनभिप्रायपूर्वक है। वहा उपयोग लगाया नही है, जुड़ाया नही है, उसमे लगाव नही रखता। तो वीतराग दशा होनेपर अकर्ता है, अभोक्ता है, इसमे तो कोई सन्देह है ही नही, लेकिन सम्यग्ज्ञान होनेपर जब तक वीतराग दशा नही होती तब तक विभाव उत्पन्न होते हैं और विभाव उनपर गुजरते है। गुजरनेका ही नाम भोगना है, अनुभवना है, तो भी उन ज्ञानियोको शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्रतीति है और उस प्रतीतिमे जो उन्होने अनुपम आनन्दकी झलक पायी है, इन दो कारणोंसे वे अप्रयु-

एकत्व शुद्ध आत्मामे जोडते हैं और इस कारणसे उन्हे भी विभावोका कर्ता और भोक्ता नही कहा जाता है। तो साधारणतया यह नियत हुआ कि शुद्ध नयसे तो यह चेतन अभोक्ता है। जैसे कि अकर्ता है और व्यवहारदृष्टिसे यह अपनी पर्यायोका भोक्ता है, जैसे कि पर्याय का कर्ता है, यो इस चतुर्थ जिज्ञासाका समाधान दिया गया है। यहा प्रासङ्गिक शिक्षा यह लेना कि उस भोक्तृत्वकी परिणतिको उपयोगमे न लेकर एक उस स्वभावको उपयोगमे लेना चाहिए। जो इसका शाश्वत सहजरूप है और उस ही में अपनेको अहंरूपसे अनुभवन करना चाहिए। जिस क्षण यह उपयोग अपने स्रोतभूत उस चैतन्यधातुमे मग्न हो जायगा उस क्षण इसमे भव-भवके कर्म भड जायेगे और निकटकालमे इसको सर्वथा त्रिविध कर्मोंसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

आत्माके नियतत्व अनियतत्त्वविषयक पञ्चमी जिज्ञासा—अब ५ वी जिज्ञासा जिज्ञासुकी आ रही है। इस जिज्ञासामे यह पूछा जा रहा है कि वह परमब्रह्म नियत है अथवा अनियत? नियत और अनियत, इस प्रश्न विकल्पके उठनेका कारण यह हुआ कि इस जिज्ञासुने लोकमे देखा कि ये जगतमे जितने पदार्थ हैं वे सब निरन्तर परिणमते रहते है। किसीकी शकल वही नही रहती है जो पहिले थी। सब अपनी-अपनी शकल बदलते रहते हैं। तो इससे यह प्रकट नजर आ रहा है कि पदार्थ कोई नियत नही, सभी पदार्थ अनियत है और इस दृष्टिमे लग रहा कि पदार्थ होता ही अनियत है। नियत मैं तत्त्व हूँ, यह वात यहाँ नही विदित होती। मिट्टी है, पत्थर बना, चूरा हुआ, सीमेन्ट बना। कुछ न कुछ वदलते ही जा रहे हैं। कोई एक चीज नही विदित होती और यहाँ चेतनमे भी पशु बने, पक्षी बने, मनुष्य बने, कीडामकोडा बने, जो जो भी बने वे बनते ही जा रहे हैं। यहा कुछ नियत नही दिख रहा है। ऐसा साव्यवहारिक प्रत्यक्षसे अनियतपनेको देखकर जिज्ञासु के ऐसा विकल्प हुआ है कि क्या आत्मा अनियत है? और जब कभी ऐसी दृष्टि गई कि कुछ भी वदले, पर "है" तो वहीका वही है, "है" कुछ नही बदला। पत्थर बदला, सीमेन्ट वदला, कुछसे कुछ बदला, मगर "है" नही बदला। तो उस सत् ब्रह्मकी दृष्टिसे यहा कुछ बदल ही नही है। जैसे जो बुद्धिमान् परिवार जन होते है वे अपने घरकी कितनी ही लडाई कर लें, किन्तु जब परका मुकावला होता है तो सब एक रहते है, तो वे लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि भले ही हममे परस्परमे लडाई चलती है मगर हमारेमे विगाड कुछ नही होता, वाहरसे कोई विगाडकी वात नही आ पाती। यही सब कुछ होता है, पर हम वाहरसे सब तरहसे सुरक्षित है, क्योकि सबका एक विचार है। वाहरके सघर्ष हुए, तो एक हुए। तो ऐसे ही भले ही सारे अदल वदल चल रहे हैं मगर उस "है" की सीमामे अर्थात् अपनेसे वाहरके संघर्षके प्रसंगमे तो सभी पदार्थ अपने "है" पनेको नियत रखते हैं, उनका कुछ

बिगाड नही होता । हर समय वह है, तो यो देख रहे है कि यह सद् ब्रह्म नियत है, तो जब कभी नियत देखा, कभी अनियत देखा तो ऐसी दृष्टिमे यह विकल्प हो रहा है कि यह परमब्रह्म इसमे नियत है अथवा अनियत ?

आत्माका निश्चयदृष्टिसे नियतत्व व व्यवहारदृष्टिसे अनियतत्व—अब उक्त जिज्ञासा के समाधानमे कहते है कि इसका भी समाधान दो दृष्टियोसे मिलेगा । निश्चयदृष्टिसे परखते है तो वह परमब्रह्म नियत है, जो है सो ही है, क्योकि निश्चयदृष्टिसे अथवा शुद्ध नयसे वह शाश्वत अन्तस्तत्व निरखा गया है । देखिये विचित्रताकी बात कि जब यह जीव निगोद काठ आदिक ससारी दशाओंमे रहता है तो सारा बदल गया । ऐसा तो नही है कि उस आत्माके किसी हिस्सेमे तो पूरी शुद्ध बात पडी हुई हो और बाकी हिस्सा बदला है, कोई पशु बन गया तो ऐसा तो नही है कि उसके किसी हिस्सेमे तो परमात्मापन हो और बाकी हिस्सा पशु बना हुआ हो । जैसे कि कुछ लोगोने कल्पना करली है कि किसी किसी अवतार मे कोई हिस्सा परमात्माकी झलक रख रहा है और कोई हिस्सा सिह, सूकर जैसे थूपड थापड बना है । ऐसा न हो करके वह समूचा आत्मा लो, जिस पर्यायमे है उस आकारमे है, वहाके भावमे है । जो भीतर कषायभाव जग रहा हो तो सारेमे कषायरूप हो रहा है, देखो दिख रहा है ऐसा कि वह पूरा बदल गया है, रहा क्या इसमे, लेकिन वस्तु सीमाकी महिमा इतनी अद्भुत है कि ऐसी स्थितिमे भावरूपसे पारिणामिक भावरूपसे वहाँ वह स्वरूप सहजतत्व अन्त प्रकाशमान है । अरे अन्त प्रकाशमान है तो कितना भीतर घुसकर देखे कि वह अतस्तत्व नजरमे आ जायगा । इतने बडे हाथीका जीव इतने बडे जीवमे कौन-सी जगह भीतरमे है ? पेटके ठीक बीचमे या मस्तकके ठीक बीचमे ? कौनसी जगह वह अतस्तत्व, परमात्मतत्त्व मौजूद है ? क्योकि कह रहे ना कि अन्त प्रकाशमान है, बाहरमे नही है । अरे वह अन्त क्षेत्रकृत अन्त नही है कि उसे क्षेत्रके रूपसे भीतर परखा जाय कि लो यह है परमात्मा । वह तो है ही सब प्रदेशोमे भावरूपसे, स्वभावरूपसे । वह कैसा भाव है कैसा स्वभाव है सो वचनके अगोचर है, सर्वत्र अन्त.प्रकाशमान है । सर्व प्रदेशोमे बाह्यमे भी अन्त. पडा है, अन्त मे भी अन्तः पडा है, क्योकि वह अन्त भावात्मक चीज है । जब उस अन्तस्तत्वको निरखते है निश्चयदृष्टिमे तो वहाँ नियत विदित होता है कि यह तो अपने चित्स्वभावमे नियत है और जब पर्यायदृष्टिसे निरखने चलते हैं तो पर्याये सब अनियत दिख रही हैं। कभी कुछ होता, कभी कुछ । अरे और तो जाने दो, जहाँ शुद्ध अवस्था प्रकट हो गई है ऐसी उस शुद्ध दशामे भी प्रति क्षण नवीन-नवीन पर्याये होती हैं । पर वे पर्याये परिणमनरूप नही हैं अर्थात् बदलरूप नही है, किन्तु भवनरूप हैं । जैसा हुआ था वैसा ही अब हो रहा है । निरन्तर प्रकाशमान है, निरन्तर चल रहा है तो व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा अनियत है ।

नियत आत्मतत्त्वकी आलम्ब्यता—अब ऐसे नियत अनियतके विवेचनमे हमको किस ओर अभिमुख होना है ? नियतकी ओर अभिमुख होना है। देखो नियतकी ओर अभिमुख होना भी एक अनियत दशा है, क्योकि पर्यायरूप है तो उस अनियतके द्वारा नियतका लाभ लेना यह अर्थ हुआ। हम जब अरहत सिद्ध प्रभुके शुद्ध गुणोको निरखते हैं तो वहाँ भी हमने उस अनियत स्वभाव पर्यायको देखा। अनियतका अर्थ वहाँ यह न लेना कि जैसे ससार अवस्थामे विषम परिणमन होता है कभी कुछ बना, कभी कुछ, ऐसा यहाँ नही ले रहे है। किन्तु अनियतका अर्थ है पर्याय, जो प्रतिक्षण हो रहे, अब हुआ, फिर और हुआ, ऐसा वह स्वभावपरिणमन उसकी भक्ति करना है। लेकिन जो मर्मज्ञ पुरुष है वे उस भक्तिके निकट पहुचकर उस परमभक्तिमे पहुच जाते है, शाश्वत, चित्स्वभावरूप अन्त-स्तत्वकी भक्तिमे पहुच होती है। उनका दृढ निर्णय है कि यह जो उनका स्वाभाविक वर्तन है वह स्वभावके अनुरूप है, वहा स्वभाव छिपा हुआ नही है, व्यक्त है। जब कि यहा ससार अवस्थामे स्वभाव गुप्त है, वहा प्रकट है। प्रकट होकर भी ज्ञानियोको प्रकट है, अज्ञा-नियो को नही। तो ऐसे शुद्ध पूज्य अनियत पर्यायोकी भक्ति भी उस एक नियत स्वभावकी भक्तिके लिए हुआ करती है। एक कौनसा ऐसा सहारा है कि जिस सहारेसे हम निर्भय हो जायें ? वह सहारा है इस नियत शुद्ध चित्स्वभावके आलम्बनका।

आत्माके स्वज्ञातृत्व परज्ञातृत्वविषयक षष्ठी जिज्ञासा—अब छठवी जिज्ञासामे यह पूछा जा रहा है कि यह आत्मा स्वका ज्ञाता है या परका ज्ञाता है ? ऐसे विकल्पके होनेका कारण यह है कि लोकमे ऐसा व्यवहार सुना जाता है, हमने उसको जाना, परको जाना, हमने बाहरकी चीजोको जाना और यह ख्याल तो पहिलेसे ही बना हुआ है और अनुभवसे भी जानने वाले यह कह देते हैं कि मैं परको जाननेवाला हू। स्वको रीता करके याने यहा कुछ भी जानना रूपसे अपनेको भला न निरखकर उसे पर जाना जा रहा है, यही दृष्ट होता है, जो जान रहा है सो यह जानत्तासे भरा पूरा है, इसकी सुध भी नही है, इसको समझा ही नही है, किन्तु एकदम बाह्य की ओर दृष्टि है। मैं इसको जानता हू, परको जानता हू, मैं इतनी बडो वैज्ञानिक विधियोको जानता हूँ, इतने रसायनोको जानता हू, इतने आविष्कारोका काम कर लेता हू, ऐसा सोचते हुएमे यह स्वसे विल्कुल अपरिचित रहता। स्वकी ओर तो रच भी सुध नही है। जैसे कोई पुरुष कमरेमे बैठा हुआ है और वडी तेज बारिश आ गई। और बाहरमे मानलो उसकी कचरिया पडी हुई सूख रही थी, या मदिरमे पूजन करने जानेकी धोती पडी हुई थी तो उस चीजका लुब्धक उसको उठानेके लिए बडे बेगसे दौडता है, इसलिए कि कही वह भीग न जाय, तो उस बेगसे दौडते समय उसके पैरमे या सिरमे कोई चीज लग जाय, खून भी आ जाय, पर उसका उस समय भान

तक नही होता है। क्यो भान नही होता है ? इसलिए कि उसकी दृष्टि उस बाहर रखी हुई चीजपर है। ठीक इसी प्रकार समझिये कि जब यह उपयोग परकी ओर अभिमुख होता है तो वहाँ सब बाहर ही नजर आ रहा है, भीतरका कुछ भी नजर नही आता। ऐसी स्थितियाँ प्राय सब जीवोके देखी जा रही है। उससे यह निर्णय होता है कि यह तो परका ज्ञाता है। स्वका ज्ञाता भी कोई हुआ करता है इसकी सुध नही है, और यह बात केवल लौकिक जनोकी नही कह रहे, दार्शनिक लोग भी ऐसे दर्शन बनाकर इसीको पुष्ट करते हैं। जैसे कहते कि ज्ञान अस्वसम्वेदी है, खुदको जानता ही नही, स्वसम्वेदन हुआ ही नही करता है। जो जाना जायगा सो परके द्वारा जाना जायगा। जैसे बाहरमे इस भीतको जाना है तो ज्ञानने भीतको जाना है और जिस ज्ञानने भीतको जाना है उस ज्ञानको अगर हमे जानना पडेगा तो दूसरे ज्ञानसे जानना पडेगा। और जब उस ज्ञानको भी जानना होगा, जो तीसरे ज्ञानसे जानना पडेगा। ज्ञानोमे यह कला नही है कि खुदका भी प्रकाश रखता हो, खुदको भी समझता हो, तब उस दर्शनसे भी यह सिद्ध होता है कि ज्ञान परका ज्ञाता हुआ करता है। ज्ञान अथवा आत्मा। यो यह विकल्प जगा है कि आत्मा क्या परका ज्ञाता है ? दूसरा विकल्प यो जगा है कि ज्ञानियोसे यह सुनते आये है कि यह जीव जो कुछ करता है वह अपना करता है और ज्ञानियोसे ही क्या सुनते, लोग भी कहते हैं कि जो करेगा वह अपना करेगा। कोई किसीके प्रति कषाय रख रहा है तो लोग कहते कि यह कषाय कर रहा है तो अपना ही बिगाड करेगा। और यह बात प्रसिद्ध भी हो रही है, जो करेगा सो अपना करेगा, खुद करेगा, खुद भरेगा। ऐसा लोकमे भी प्रसिद्ध है। तो जैसा करेगा वैसा भरेगा की बात है ऐसे ही जानेगा, परखेगा की बात है। अपनेको जानेगा, अपनेको परखेगा, दूसरेको क्या जान पाये ? एक हिसाब मात्र लगाकर कि जब वहाँ करेगा भरेगा अपनेको तो यह जानेगा, परखेगा अपनेको। तू इसी विकल्पमे घुल मिल गया और हिसाब भी बैठ गया। इस तरह क्या आत्मा स्वको ही जाननेवाला है ? ऐसे दो प्रश्न विकल्प हुए है।

निश्चयदृष्टिसे आत्माका स्वज्ञातृत्व—उक्त जिज्ञासाके समाधानमे सुनो—यहाँ भी दो दृष्टियोसे समाधान करते है और दो दृष्टियोका समाधान करके फिर एक परमार्थ दृष्टि मे भी परखनेकी बात कहेगे। निश्चयदृष्टिसे आत्मा स्वका ज्ञाता है और व्यवहारदृष्टिसे आत्मा परका ज्ञाता है। निश्चयदृष्टिका भाव यह है कि खुदकी बात खुदमे परखना—जब यह आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न है और वे सब अनन्त गुण आत्माके प्रदेशमे ही है क्योंकि प्रदेश भी क्या चीज है ? उन अनन्त गुणोका जो समूह है वही प्रदेशका रूप अंगीकार करता है। वही आत्मामे ऐसा नही है कि आत्मामे जगह बनी गई है फिर उनमे गुण

है या आनन्द व ज्ञान भरा है। कोई ऐसा इसमे द्वैत नही है किन्तु अनन्त गुणात्मक जो आत्मा है वही सर्वप्रदेशरूप कहलाता है। तो इसमे भी यह बात सिद्ध हुई कि वे गुण प्रदेशमय ही है और वे गुण जब प्रदेशसे बाहर नही है तो उन गुणोकी जो परिणति होगी वह क्या प्रदेशसे बाहर चली जायगी ? कभी नही जा सकती। वस्तुकी सीमा ऐसी है कि वस्तु का परिणमन कुछ भी वस्तुके बाहर हो ही नही सकता। लोग जो व्यवहारमे परखते है अमुकने अमुकको यो किया, वह केवल एक उपचारदृष्टिसे परखते हैं। वस्तुत कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ करनेवाला नही होता। परिणति ही बाहर नही जा सकती। लो जब जीवने मोह किया तो वह मोह परिणमन आत्माके प्रदेशोसे बाहर भग ही नही सकते। तो वह मोह परिणमन किसको मोहेगा ? आत्माको। बाहर न मोहेगा। इस "मुहेगा" शब्दको द्वैतपद्धतिमे यह कह लीजिए कि मोह करेगा। तो बाहर मोह न करेगा। बाहरकी चीजमे मोह न करेगा, किन्तु यह आत्मा अपने आपमे ही मोह परिणमन करता है, अपने को ही मोहता है। तो ऐसी मोह जैसी बाहरी बातोका भी असर तब दूसरी जगह नही पडा, जब ऐसी मुँहकी क्रियाका कर्म दूसरा न बन सका, तो ज्ञान जैसी सूक्ष्म पवित्र प्रतिभासात्मक चीजका असर बाहर कहा पडेगा ? जो जानता है सो अपनेको जानता है। अपनेसे बाहर जाननेकी परिणति नही होती, तब निश्चयदृष्टिसे निरखने पर यह विदित होता कि जीव स्वका ज्ञाता है।

व्यवहारदृष्टिसे परज्ञातृत्व— अब पर्यायदृष्टिसे परखिये— यहाँ नजर आयगा कि यह परका ज्ञाता है। यह सब स्पष्ट समझमे आ रहा। देखो—यहाँसे ८ मीलकी दूरीका पहाड स्पष्ट नजर आ रहा है। तो बताओ हमने कहाँ जाना ? हमने ८ मील दूरपर जाना, इतनी दूरकी चीज जान रहे हैं तो यह परका जानना नहीं है क्या ? हम जो जानते हैं कि यह पहाड है, यह टोक है, क्या यह झूठ बात है ? झूठ तो नही है। तो यह परका ज्ञाता हुआ कि नही ? हुआ ज्ञाता। पर अन्त यह निरखिये कि यह जाननहार ज्ञान उस परमे तन्मय होकर जान रहा है या स्वमे तन्मय होकर जान रहा है ? इसी तन्मयताके आधार से निश्चय और व्यवहारका रहस्य समझमे आता है। दूर रहनेवाले पर्वत भी जान रहे हैं, फिर भी वह तन्मयता पर्वतमे नही बन रही है, वह ज्ञान तो निजमे तन्मयतासे होता रहता है और यहाँ यह समझा जा रहा है कि वह पहाड है, तो यो व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा परका ज्ञाता है।

परमार्थदृष्टिमें ज्ञातृत्वविकल्पका विलय—अब परमार्थ दृष्टिमे उतरिये तो विदित होगा कि जानना तो क्रिया है। जानना क्या चीज है ? अरे आत्मा चेतन है और होता है। अपनेको जाना, परको जाना, यह बात वहा कहां पडी हुई है ? वह तो चित्स्वरूप

है और चिद्विलासरूप है। तो हम परमार्थ दृष्टिमे इस परमपारिणामिक भावकी नजरमे तो न तो स्वका ज्ञातृत्वका द्वैत बना है, न परके ज्ञातृत्वका द्वैत बना है, वहा जो मात्र चित्स्वभाव है, वह तो जो है सो है। तो इस विवेचनसे हमें यह शिक्षा लेना है कि हम इतने बाह्य पदार्थोको जान रहे हैं सो तन्मयतासे नही जान रहे, यह तो केवल विषयभूत हो रहे, वह ज्ञानकला इन पदार्थोमे नही बसी है, न इन्द्रियमे वह कला है। भीतर यह आत्मा स्वय अपनी उस तन्मयतासे सब कुछ जान रहा है। और ज्यो ही इस आत्माके अन्त प्रकाशमान सहज चित्स्वभावपर दृष्टि जाती है तो यह विकल्पोकी सभा सब बरखास्त हो जाती है और अपने आपमे उस आत्मतत्त्वका दर्शन करके तृप्ति होती है, उसके दर्शनका हमे यत्न और ध्यान रहना चाहिए।

आत्माके एकत्व व विभिन्नत्वविषयक सप्तमी जिज्ञासा—अब ७ वी जिज्ञासामे यह जानने की इच्छा हो रही है कि आत्मा एक है अथवा भिन्न-भिन्न है। इस प्रश्नका भाव यह है कि लोकमे कहते है कि आत्मा एक है और कुछ समझमे आ रहा है ऐसा कि यह आत्मा अनेक है। इतने मनुष्य है, पशु, पक्षी है, अनेक जीव दिख रहे है, यो आत्मा ऐसी द्विविधा देखकर यह जिज्ञासा हुई कि आत्मा एक है कि भिन्न भिन्न। तो आत्मा एक किस प्रकार है ? वह तो एक चैतन्यस्वरूपमात्रकी दृष्टिसे कहा जा सकता है, सो एक ही क्या कहना ? वह एकके विकल्पसे भी रहित है और अनेक आत्मा है, भिन्न-भिन्न आत्मा है, यह बात विदित प्रत्यक्ष हो ही रही है कि सब जीवोका परिणमन अपने आपमे जुदा-जुदा है। अर्थात् जितने ये परिणमनेवाले स्वय है वे सब जुदे-जुदे आत्मा है। अब यहाँ जानना यह है कि किसी भी एक आत्माको ले लीजिए, वह भी एक ही है या भिन्न-भिन्न अनेक है ? तो इसका भी उत्तर दो दृष्टियोसे आता है। निश्चयदृष्टिसे तो आत्मा एक है और व्यवहारदृष्टिसे आत्मा भिन्न-भिन्न है।

निश्चयदृष्टिसे आत्माके एकत्वकी प्रसिद्धि—निश्चयदृष्टिसे तो निरखा गया उस एक द्रव्य आत्माको जो स्वयसिद्ध है, अनादि अनन्त है, ऐसा वह आत्मा एक है। जैसे कि अपने आपके बारेमे भी घटित होता है कि मैं एक हूँ। जब बच्चे थे तब भी वही, बालक बना तब भी वही। जवान हुआ तब भी वही, वृद्ध हो रहे तब भी वही। सर्वत्र वही मैं एक आत्मा हूँ। अनुभव भी बतलाता है और व्यवहार भी बतलाता है। दूसरे यह जीव है, यह वही जीव है इसका परिचय बना हुआ है सो इसमे व्यवहार भी चल रहा है तो यह सब एक है। यदि इस तरहका एक न माना जाय तो न व्यवहार ही बन सकता है और न कोई परमार्थ व्यवस्था ही बनायी जा सकती है। एक है यह जीव ८

ही तो व्यापार, लेन देन ये सब चल रहे है। जैसे किसीने किसीको मानो दो वर्ष पहिले रुपया उधार दिया और आज वह अपने रुपये माँगे और वह कर्ज लेनेवाला अगर कह बैठे कि जिसको तुमने रुपये दिया वह आत्मा तो कोई दूसरा ही था। आत्मा तो क्षण-क्षण मे नया-नया भिन्न-भिन्न होता है। सो जिसको दिया हो उससे माँगो। तो यो व्यवहार भी सब समाप्त हो जायगा। और इसके उत्तरमे इसको भी मुँहकी खानी पडेगी। तो निश्चय-दृष्टिसे आत्मा एक है, ऐसा स्वीकार किए बिना व्यवहारमे भी विरोध पडेगा और परमार्थ मार्गमे भी विरोध पडेगा। हम धर्ममार्गमे क्यो चलें? तप, त्याग आदिके मार्गमे क्यो चलें? मैं तो नष्ट हो जाऊँगा। दूसरा कोई भिन्न आत्मा आयगा, उसे मोक्ष मिलेगा। तो मुझे फिर क्या जरूरत पडी कि मैं क्लेश सहूँ, और व्यर्थमे तपश्चरण करूँ। यो पर-मार्थमार्गकी भी व्यवस्था नही बनती। मैं एक हूँ और इसी बातमे एक परम शुद्ध निश्चय-नयसे देखा जाता है तो वह है एक अद्वैत केवल मैं एक चित्प्रतिभासमात्र हू। तो निश्चयनय से मैं एक हूँ।

व्यवहारनयसे आत्माके विभिन्नत्वकी सिद्धि—व्यवहारदृष्टिसे मैं भिन्न-भिन्न हूँ। क्योकि क्षण-क्षणमे जो नवीन-नवीन पर्याये चलती है वे पर्याये पहिली पर्यायोसे भिन्न हैं, और उन पर्यायोको, उन अवस्था रूपोको ही एक दृष्टिमे लेने पर, वह न पहिले था और न आगे रहेगा, ऐसी पर्यायकी दृष्टि होनेपर यह भिन्न-भिन्न हो गया। जैसे मनुष्य देव आदिक ये भिन्न भिन्न जीव हो गए। पर्यायदृष्टिकी यह भिन्नता न माननेपर भी अनेक अडचनें आयेगी। जो बालक की प्रकृति है और बालकमे जैसा विश्वास रहता है, स्त्री, मकान, बच्चो आदिके प्रति जो विश्वास रहता है, जवान होने पर तो उस प्रकारका विश्वास नही रहता। तो परमार्थ व्यवहारकी भिन्नता न मानने पर यहाँ व्यवहारमे भी अडचने आयेंगी और परमार्थमे भी अडचने आयेंगी। यदि व्यवहारदृष्टिसे पर्यायभेद नही है, भिन्नता नही है, एक ही रूप है तो अब उसका क्या करना? तपश्चरण क्यो करना, मोक्ष भी क्या मानना? अज्ञानअवस्था तभी तक है जब तक ज्ञान अवस्था नही आती अथवा अवस्था ही कुछ नही, कोई भिन्न प्रभाव वाली बात ही नही, तब फिर परमार्थ मार्ग भी किस लिए है? तो परमार्थदृष्टिसे जीव निराला है, यह भी बात यथार्थ है और दोनो दृष्टियोको जिसने पहिचाना है उससे ही तो धर्ममार्ग बनता है।

आत्माके एकत्व व विभिन्नत्वके परिचयीका आत्महितमें निर्णीत कर्तव्य—अब यहाँ अपने हितके लिए परखना यह है कि बातें दोनो सत्य बतायी गई हैं कि निश्चयदृष्टिसे आत्मा अनादि अनन्त एक वही है और पर्यायदृष्टिसे आत्माके ये पर्यायभेद है, नाना अवस्थायें हैं, इन दोनोको जानकर हमको करना क्या है? करनेकी बात यह है कि निश्चयदृष्टिसे

परखा गया और परमशुद्ध निश्चयनयसे, शुद्धनयसे परखा गया जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, जो कि शाश्वत एकरूप है उसका ही आलम्बन लेना है, लेकिन आलम्बन लेनेवाला, जो भाव है वह भाव पर्यायरूप है, वह प्रतिक्षणवर्ती होने से अनेक है, लेकिन इसही पर्यायबलसे हम को उस एक अखण्ड आत्मद्रव्यका आश्रय लेना है। भिन्नता और अभिन्नता जान करके हमको यह शिक्षा लेना है। हम अपने आपमे एकत्वकी भीतरी खोज करके हमको उसका आलम्बन लेना है और इसीलिए यह सब भेदका परिज्ञान किया जाता है। यो यह आत्मा निश्चयदृष्टिसे तो केवल है और व्यवहारदृष्टिसे भिन्न-भिन्न है। स्याद्वाद पद्धतिसे आत्माके विषयमे ऐसे धर्मोको न जानकर एकान्त मानकर अनेक दार्शनिकोने अपने मतव्य गढे। यद्यपि उन मंतव्योमे कोई दृष्टि थी उनकी, जैसे कि अभी १४ वें परिच्छेदमे कुछ प्रकरण आया था, किन्तु किसी भी एकान्तदृष्टि रखते हुएमे एक तो ज्ञानप्रकाश नही मिलता और उस अज्ञान अधेरेमे वास्तविक रूपसे कल्याण नही बन पाता। अत. स्याद्वाद विधिसे तत्त्वनिर्णय करना चाहिए और उसमे जो उपादेय तत्त्व है उसका आश्रय करना चाहिए।

जीवके कार्यत्वविषयक मिथ्याशयी जनोंका आठवीं जिज्ञासामें प्रथम प्रश्न विकल्प— अब ८ वी जिज्ञासामे यह जानना है कि यह आत्मा कार्य है या कारण? इस प्रश्न विकल्प के सम्बन्धमे भी चूँकि अनेक पुरुषोकी अनेक धारणायें होती है तो उनके अनुसार ऐसा विकल्प हो जानेकी बात सम्भव है यह समझना चाहिए। आत्मा कार्य है ऐसे विकल्प कर ने वाले अनेक लौकिक जन है। बिना बनाये क्या होता है? जो कुछ है वह बनानेसे बनता है ऐसी आम लोगोकी धारणा है और उस धारणाका पोषण किया है हमारे लौकिक बर्ताव ने। हम चीजें बनाते है तब बनती है। जो उत्पादन है वह किए हुएसे ही तो बना हुआ है और घरमे रसोईमे रोटियाँ आदिक बनानेका का कार्य रोज किया ही करते है। और यहाँ देखनेमे भी आता कि कुम्हारने घडा बनाया, जुलाहेने कपडा बनाया आदि। तो इन सब बातोकी परखसे लोगोकी एक आम धारणा बन गई कि जगतमे जो कुछ भी चीज है वह किसी न किसीके द्वारा बनाई गई है। अब प्रकरण लीजिए आत्माका। जगतमे ये इतने जीव है, इन जीवोको किसने बनाया? यह जीव किसी न किसीके द्वारा बनाया हुआ तो होना ही चाहिए, क्योकि ये भी चीजे है पर इनका बना सकनेवाला यहाँ लोकमे कुछ भी नजर नही आता। कौन बना दे? तो सोचा गया कि कोई अलौकिक शक्ति ईश्वर है ऐसा जो कि इन सब जीवोको रचता है और ऐसी अनेक किम्बदन्ती भी इसी आशयके आधार पर घढ डाली, बना डाली।

जीवोंके कार्यत्वविषयक एक किंवदन्ती—एक किम्वदन्ती ऐसी प्रचलित है कि प्र- ने सबसे पहिले ५ जीवोको बनाया औरु बनाया किस ढंगसे? जैसे कि लोग यहाँ

हैं कि बच्चा जब पैदा होता है तो गर्भमे आता है तो इसी तरह ब्रह्माके गर्भमे ५ जीव बैठे थे। एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य, एक शूद्र और एक स्त्री। तो जब वे कुछ बडे होने लगे तो उनके पेटमे दर्द पैदा होने लगा तो ब्रह्माने कहा कि ब्राह्मणजी तुम निकलो पेटसे ? तो वह बोला कि हम तो तुम्हारे पेटमे बडा मौज पा रहे हैं, हम तो नही निकलते, हमे बाहरका आराम बताओ तब निकलेंगे। अच्छा तुम्हारा काम है कि इस जगतमे देवता जैसे पूजते रहना। सब लो तुम्हे दान दक्षिणा देंगे और तुम खूब मौजसे रहना। सो इस तरह ब्राह्मण निकले। जब क्षत्रियसे निकलनेको कहा तो उसने भी कहा कि हमे मौजका काम बताओ तब निकलेगे, नही तो यही रहने दो। यहाँ बडा मौज है। अरे जावो पृथ्वी पर राज्य करना, सब पर शासन करना। इस तरह क्षत्रिय भी निकला। जब वैश्यसे निकलनेको कहा तो उसने भी कहा मुझे मौजका काम बताओ। अरे जावो व्यापारादिके कार्य करना, सारी दुनिया की सब चीजें तुम्हारे हाथमे रहेगी। सबको आवश्यकतानुसार उपयोगी वस्तुवे देना और आप मौजमे रहना। इसी तरह शूद्रसे कहा जावो तुम किसीकी जरा सेवा कर देना, बस मौजसे रहोगे, तुमको कोई चिन्ता फिकर रहेगी नही। इस तरह कहकर शूद्रको भी अपने पेटसे निकाला। अब रह गई स्त्री। कहा, ऐ स्त्री निकल पेटसे। हम तो नही निकलती। हमे तो यहाँ बडा मौज है। अरे तुम्हारे वश ये चारो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहेगे। बस तुम इनको अनेक प्रकारके नाच नचाना और मौजसे रहना। इस तरह स्त्री भी उस ब्रह्माके पेटसे निकली। तो उनकी इस किम्बदन्ती ने लोगो की ऐसी धारणा बनानेका पोषण किया कि तो आम लोगोकी धारणाके अनुसार यह बात प्रसिद्ध हो रही कि किसीने इस जीवको बनाया है ? तो यह प्रश्न विकल्प चल रहा है कि क्या आत्मा कार्य है, क्या किसीके द्वारा बनाया गया है ?

आठवीं जिज्ञासामें जीवके कारणत्वविषयक द्वितीय प्रश्न विकल्प——अब द्वितीय प्रश्न विकल्प सुनिये कि क्या आत्मा कारण है ? इस सम्बन्धमे भी लोग यह धारणा लिए है कि जो मैं करता हू सो होता है। आत्माके बिना कुछ हो तो ले। बडा यंत्र बना दिया, लेकिन एक इस जीवके बिना वह यत्र चल तो जाय। भले हो ओटोमेटिक यत्र तैयार है, फिर भी भी बिना बटन दबाये तो नही चल सकते। भले ही अपने आप यंत्र द्वारा कपडे तैयार होते, उनकी घरी भी होती, वे ठीक ठीक रखते भी जाते, फिर भी मूलमे जब तक उन यंत्रोंको चलाने के लिए कोई बटन नही दबायेगा तब तक यत्र नही चल सकता। इससे लोगोंने यह प्रसिद्ध किया कि आत्माके किये बिना कुछ नही होता। यह आत्मा सबका कारण है। ऐसे कुछ सन्देहोमे यह जिज्ञासा बन रही है कि आत्मा क्या कारण है ? कारण कुछ कह लीजिये या कर्ता, दोनोका एकही आशय है। यहाँ पर इस प्रकार जिज्ञासामे द्वितीय प्रश्न

विकल्प हुआ ।

निश्चय व व्यवहारनयसे आत्माके कार्यत्व व कारणत्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—उक्त जिज्ञासाका समाधान भी दो दृष्टियोसे होगा । एक शुद्धनय और दूसरा व्यवहारनय । शुद्धनय तो उस अनादि अनन्त सहज सिद्ध चैतन्यस्वरूपको ग्रहण करता है । शुद्धनयकी दृष्टि मे आत्मा न कार्य है, न कारण है, क्योकि इस दृष्टिमे तो केवल एक चित्प्रतिभास मात्र ही अनुभव हो रहा है । वहा कार्य कारणका भेद नही है । व्यवहारनयमे जब आते है तब कार्य-कारणविषयक भेद दृष्टिगत होता है । तब वहाँ एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कार्य व कारण हैं, यह बात तो घटित होती नही । इसका कारण यह है कि कोई भी पदार्थ उपादानतया किसी भी अन्य पदार्थका न कार्य बनता, न कारण बनता, क्योकि सभी पदार्थ अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्यको लिए हुए चल रहे है । तो किसी पदार्थके द्वारा कोई भी पदार्थ किया जाय ऐसी व्यवस्था नही है । तब अपने आपके आत्मामे ही सोचना होगा कि मै ही आत्मा अपने आपका करण बनता हू और मै ही अपने आपका कार्य बनता हू । तो इस व्यवहार-नयसे परखनेपर यह ज्ञात होता है कि पूर्वपर्यायसयुक्त यह मैं उत्तरपर्याय संयुक्त इस मैं का करण बनता हू । अर्थात् पूर्वपर्याय सहित द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण होता है, और वह उत्तरपर्याय इस पूर्वपर्यायसहित द्रव्यका कार्य होता है । पदार्थ है और वह निरन्तर है तथा प्रतिक्षण निरन्तर उसका परिणमन चला करता है । तब भी परिणमनकी धारा, वह सतति जो अनवछिन्न चल रही है वह इसी पद्धतिसे ही तो चल रही है कि जिस किसी भी पर्याय का आधारभूत, वर्तमान प्रादुर्भूतिका आधारभूत वह पूर्वपर्यायसहित द्रव्य है । यद्यपि वह पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायके सम्बन्धमे नही है, लेकिन उत्तरपर्यायके सम्बन्धमे वह द्रव्य तो है ना, और वह द्रव्य स्वयं पूर्वपर्यायकी विलीनतारूप है, तब ही वह उत्तरपर्याय हुई है । उत्तरपर्यायका होना पूर्वपर्यायका विलीन होना, इनका भिन्न-भिन्न समय नही है, और ऐसी स्थितिमे यही तो विदित होगा कि पूर्वपर्यायसहित वह द्रव्य इस उत्तरपर्यायका कारण है और यो ही लचड कारण नही, वह डटकर कारण है । वहाँ पूर्वपर्यायकी विलीनता और उत्तरपर्यायकी प्रादुर्भूति ये अनर्थान्तर हैं । इस रूप भी यह पूर्वपर्यायसयुक्त द्रव्य विशिष्ट करके प्रतीत होता है । इसी तरह कार्यकी बात समझना चाहिये । उत्तरपर्याय कार्य बनती है । यो व्यवहारदृष्टिसे आत्मा कार्य भी है और कारण भी है ।

यथार्थ कार्यकारणभाव न जानने से विपत्ति व विडम्बना—उक्त विधिसे कार्य कारणपनेका मर्म न जानकर लोगो को, लौकिक जनोको कितनी ही किम्वदन्तियाँ बनानी पडी और उन सब किम्वदन्तियोमे यह सिरताज बन रही है कि सब जीवोको करनेवाला कोई एक ईश्वर है । उन्होने यह नही समझा कि विदित जीव यह भी एक पर्यायदृष्टिसे है

अर्थात् बहिरात्मत्वकी दृष्टि अथवा व्यवहारमे यह बोलने चालने वाला, चलने फिरने वाला जो यह जीव है उसका नाम रखा जीव, और इसका कारण कौन बना ? इस जीवका आधारभूत जो वह एक चैतन्यभाव है वह आधार बना तो वही एक चित् शुद्ध अन्तस्तत्त्व ईश्वर है। जिसकी बुनियादपर यह सब सृष्टि बन रही है। ऐसी-ऐसी सभी सृष्टिया चल रही है। कोई जीव किसी दूसरे जीवका कर्ता, हर्ता, बिगाड करने वाला, सभाल करने वाला नही है। यह अज्ञान छाया है जो चित्तमे विकल्प आया है कि मैंने इसे उत्पन्न किया है, पाला है, तथा मैं इसका सुधार कर दूंगा, मैं इसका बिगाड कर दूंगा। यह एक विकल्प है और इसे बताया गया है मिथ्या अध्यवसान अर्थात् अर्थक्रिया न करने वाला अध्यवसान। विकल्पमे जो सोचा है वह बात हो ही जाय, ऐसा अविनाभाव सम्बन्ध तो नही है। विकल्पमे एक चिन्तन कर लिया कि अमुक पुत्र इस तरहसे ही चला करे, इस तरहका ही व्यवहार रखे, ऐसा पढा करे, कुछ भी सोच लिया, लेकिन इस विकल्पके करनेसे क्या उस पुत्रने कुछ चेष्टा कर दी, अगर वह करेगा चेष्टा तो अपने विकल्पके कारण अपने आपमे यत्न करेगा, इस पिताके विकल्पके कारण न करेगा। कितना भिन्न है प्रत्येक जीव परस्परमे कि उनका कोई सम्बन्ध नही बनता और यहाँ निरखिये तो जीवका अजीवके साथ तो सम्बन्ध कुछ व्यवहारत बन भी जायगा। किसी भी प्रकारका सम्बन्ध सही एक क्षेत्रावगाह हो गए, एक साथ बँधे हुए हैं और जब शरीर, मन, वचनमे योग होता है, आत्माका योग होता है, जब आत्मामे योग होता है तो मन, वचन, कायमे परिस्पद होता है। देखो— कितना निकट सम्बन्ध बन रहा है। तो जीवका अजीवके साथ तो निमित्त-नैमित्तिक, सम्पर्क, एकक्षेत्रावगाह आदि व्यावहारिक सम्बन्ध बन जायगा, पर जीवका जीव के साथ सम्बन्ध किसी भी प्रकार नही बनता। न उनका संघात होगा, न उनके समान-जातीय कोई पर्याय बनेगी और न वहाँ यह भी अविनाभाव देखा जायगा कि हमने ऐसा सोचा तो वह भी ऐसा सोच बैठे। यहाँ मन, वचन, कायके योग होनेपर आत्माके योग होना, आत्माकी क्रिया होनेपर मन वचन कायका योग होना आदिकी परस्पर सहयोग है। अन्य जीवके साथ तो रंच भी सहयोग नही है। फिर भी उनके ही प्रति विकल्प करके यह जीव बरबाद हो रहा है। अजीव तत्त्वके प्रति विकल्प करके कोई नष्ट नही हो रहा। यह सोचना कि यह आदमी धनके पीछे बुरी तरह पड रहा है। आज करोडका धन पासमे है तो वह अरबपति, खरबपति आदि बननेकी वाञ्छा करता है। उसकी ये वाञ्छायें किसलिए चलती हैं ? बस इसीलिए कि मैं इतने लोगोमे सिरताज कहलाऊँ। कही इसलिए नही धन वैभवके पीछे होड मचा रहे कि बच्चोका गुजारा चलाना है। तो उनके मनमे अपनी प्रतिष्ठा की चाह अन्दरसे बैठी हुई है जो कि उनकी बरबादीका कारण बन रही है। देखिये—एक

जीवका दूसरे जीवके साथ सम्बन्ध रच भी नही है। पर एक दूसरेको आश्रयभूत बनाकर दुःखी हो रहे है।

व्यवहारतः उपादानोपादेय रूपसे स्वयंमें कार्यकारणभाव, किन्तु शुद्धनयतः कार्य-कारणभावका अभाव—यह जीव किसी भी बाह्य पदार्थका कर्ता नही है, अपने आपमे ही किसी पर्यायका कारण बनता है और किसीका कार्य बनता है। अपना अर्थात् पर्यायका कारण बन रहा है और पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्यका कार्य बन रहा है। ऐसी बात धीरे-धीरे बडी शान्तिसे अन्दर ही अन्दर इस जीवके अनादिकालसे चल रही है याने इस जीवने अपने उपयोगमे तो बडा क्षोभ मचाया, बडा सक्लेश किया, सारी बाते हो रहीं तो यह उपयोगमे संक्लेश हुआ, क्षुब्ध हुआ, बडी खलबली मचायी, मगर पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण बना, ऐसा बननेकी विधि धीरे-धीरे वहाँ चल रही है। उस पद्धतिमे क्षोभ नही है, वहाँ कुछ गडबड नही हो रहा है। वह उपादानोपादेयकी धारा तो धीरे-धीरे चल ही रही है। यो समझिये कि जैसे कछुवाकी चाल और खरगोशकी चाल।

एक बार कछुवा और खरगोशमे होड लग गयी कि देखो यहाँसे १ मील दूर अमुक जगह पर जो पेड है वहाँ पर अपन दोनोको चलना है। सो देखना है कि वहाँ सबसे पहिले कौन पहुँचता है ? अच्छी बात। अब चल पडे दोनो। तो खरगोश तो छलांग मारकर दौड पडा, थोडी ही देरमें बहुत दूर निकल गया। कछुवा बेचारा पीछे पीछे धीरे धीरे ही चलता रहा। खरगोश कुछ दूर पहुचकर सोचता है कि कछुवा तो अभी कही का कही पडा होगा, चलो थोडा यहाँ विश्राम करे, बादमे फिर छलांग लगाकर झट उससे पहिले ही पहुच जायेगे। सो हुआ क्या कि खरगोश सो गया। उधर कछुवा धीरे-धीरे चलता ही रहा। जब तक वह खरगोश सोकर जगा तब तक तो वह कछुवा उस पेडके नीचे पहुच गया। देखिये—यह एक बच्चोकी छोटी-सी कहानी है पर यहाँ इस कहानीको कहकर यह बात बतायी जा रही है कि पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायको पैदा कर रही है, यह भी एक चाल है जो कि गुप्त है। वह धीरतापूर्वक बिना क्षोभ मचाये चलती जा रही है। पूर्वपर्याय सयुक्तद्रव्य उत्तरपर्यायका कारण होता जा रहा है। वहाँ तो बात यह है। वह ईमानदारीसे बराबर चलती ही जा रही है। पर यह अज्ञानी जीव जिसके भीतरमे यह धारा चल रही है वह उपयोगमे अपनी खलबली मचाये हुए है। परपदार्थोंका आश्रयभूत करके उनकी ओर दृष्टि रखकर कि ऐसा क्यो नही होता ? यह भी कारण हो गया, बडी खलबली मचायी जा रही है और ऐसा समागम पाकर अपने उद्धारका अवसर पाकर भी यह यहाँ चेत नही पा रहा है और खलबलीमे ही अपना जीवन समाप्त कर देता है। तो सर्व पदार्थोंकी ऐसी ही धारा चल रही है कि पूर्वपर्यायसयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण बन रहा है। तो

कार्य और कारण यदि कुछ निरखना है अपनेसे सम्बधित, तो निरखिये अपने आपमे ही। मैं अपने परिणामको छोडकर अन्य कुछ भी नही कर सकता हू और मुझमे जो कुछ भी हो रहा है उसका कारण मैं ही बना रखा हू, दूसरा मेरा कारण नही, और दूसरा मेरा कार्य नही। व्यवहारदृष्टिसे बताया जा रहा यह सब कुछ कि खुद ही खुदका कारण बन रहा और खुद खुदका कार्य बन रहा। शुद्धनयसे तो यह आत्मा एक चित्तत्त्व मात्र है, क्योकि इस दृष्टिमे यही देखा गया है तो इस दृष्टिमे आत्मा किसीका कार्य नही है, खुदका भी कार्य नही है और न किसीका कारण है। खुदका भी कारण नही है। वहाँ तो कोई विकल्प ही नही है। केवल एक चित् तत्त्व ही दृष्टिमे आ रहा है।

आत्माके सर्वव्यापित्व या सर्व-अव्यापित्वविषयक नवमी जिज्ञासा—अब ९ वी जिज्ञासामे यह विषय जाननेके लिए कहा जा रहा है कि आत्मा सर्वव्यापी है या सर्व-अव्यापी है? अर्थात् आत्मा समस्त दुनियामे, लोकमे फैला हुआ है अथवा वह सब जगह नही फैला, कुछ ही जगह रहता है। इस शकाका आधार भी वे दो प्रकारके दर्शन बन रहे है, जिन दर्शनोमे एक दर्शनने बताया है कि आत्मा सर्वव्यापी है, लोकमे कोई प्रदेश ऐसा नही है कि जहाँ यह आत्मा फैला न हो। और यहा तक कहा गया कि एक ही आत्मा है और वह सर्वव्यापी है। चेतन अचेतन सब पदार्थोमे वही रहने वाला है। यहा तक किसी दर्शनमे बताया गया है। उस आधारपर यह जिज्ञासा हुई कि क्या आत्मा सर्वव्यापक है? दूसरा प्रश्नविकल्प यह है कि क्या वह सर्व-अव्यापी है? अर्थात् समस्त लोकमे फैला हुआ नही है? इसका आधार एक तो यथा कथञ्चित् समझा गया साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, जहा कि यहा स्पष्ट विदित हो रहा कि यह पशु अपने आपके शरीरमे ही है, यह मनुष्य यह खुदके शरीरमे ही है। इसी सम्बन्धमे एक दर्शन और है, जो कहता है कि आत्मा तो बटबीज प्रमाण अत्यन्त अणु है और वह अणु आत्मा एकदम द्रुतगतिसे देहमे घूमता रहता है। इस कारण यह मालूम होता है कि आत्मा बडा है, देहव्यापी है। वह देहके किसी एक हिस्सेमे है। इस प्रकारके दो दर्शनोके आधारपर यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा सर्वव्यापी है या सर्व-अव्यापी?

आत्माके सर्वव्यापित्व व सर्व-अव्यापित्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—उक्त जिज्ञासाका समाधान भी दो दृष्टियोसे होगा। जब शुद्धनयसे देखते हैं तो वहा आत्मा न सर्वव्यापी विदित होता है, न सर्व-अव्यापी, क्योकि शुद्धनयका विषय है सहज स्वभाव। ९ तत्त्वोमे रहकर भी जो अपनी एकताको नही छोडे हुए है अर्थात् जो सदा शाश्वत एक स्वरूप है ऐसा जो सत्त्वका प्राणभूत सहज स्वभाव है वह शुद्धनयका विषय होता है। उसे जब कोई दृष्टिमे लिए हुए है तो उस स्थितिमे इसे न सर्वव्यापी विदित होगा, न सर्व-अव्यापी।

वह तो एक स्वभावकी दृष्टिमे मग्न है, उसके अनुभवमे है। तो निश्चयसे अर्थात् शुद्धनयसे आत्मामे ये कोई विकल्प नही किए जा सकते है। अब व्यवहारसे देखा जाय तो विदित होता है कि आत्मा अपने देह प्रमाण है, सारी दुनियामे व्यापक नही है। हाँ कुछ परिस्थितियाँ ऐसी है कि देहसे बाहर भी आत्मा रहता है। इसे कहते है समुद्घात। समुद्घातकी स्थितिमे आत्मा देहके बाहर भी रहता है। जैसे कि वेदना या कषाय जगने पर आत्मा अपने शरीरसे बाहर तिगुने प्रमाण क्षेत्र तक जाता है अथवा मारणान्तिक समुद्घात होने पर जन्मस्थानसे लेकर मरणस्थान तक फैला हुआ रहता है। अथवा केवली समुद्घातमे दो प्रतरके समयोमे यह लोकमे फैला है। पर वहाँ वातबलय अविशिष्ट रहता है, लोकपूरणकी स्थितिमे आत्मा सर्व लोकभरमे फैला होता है। वह एक समयकी स्थिति है, सो भैया ! उस स्थितिसे अन्य जीवोको क्या लाभ है ? वह तो उनके शेष तीन अघातिया कर्मोकी स्थिति कम होनेके लिए सहज होती है। तो आत्मा प्राय. देह प्रमाण है। यह जो देह प्रमाण है, उस प्रमाण इसमे विस्तार है। अनुभव भी आत्मप्रदेशोमे होता है। वह भी यहाँ जाना जाता है कि आत्मा बटबीजके प्रमाण न तो अणु है कि एक छोटा आत्मा देहभरमे चक्कर लगाता हो, न ब्रह्माद्वैतादिककी तरह यह सर्वव्यापी है। यह आत्मा सर्व एक नही है, किन्तु अनन्त आत्मा है और वह सब अपने अपने स्वरूपमे एक होता ही है। इस तरह आत्मा व्यवहारदृष्टिसे देहप्रमाण है। न तो सर्वव्यापीका एकान्त है और न अणुप्रमाण का एकान्त है।

ज्ञानत्वकी दृष्टिसे ज्ञाताकी अद्भुत सर्वव्यापकता—एक दृष्टि ऐसी हो सकती है कि जिससे शुद्धपर्याय परिणत केवलज्ञानी आत्माको हम सर्वव्यापी कह सकते है। उसकी दृष्टि यह है कि आत्मा ज्ञानमात्र है। जब इस निगाहसे चलकर देखते है और प्रदेशको गौण करके चूँकि ज्ञानद्वारा ही आत्मा परीक्षित होता है अर्थात् ज्ञानस्वरूप तके जानेसे ही आत्माका परिचय होता है तो आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान कितना बडा है ? उस ज्ञानको हम किस आकारसे निरखकर बताये कि इतना बडा है ? तो ज्ञानके आकारको ही निरख कर कह लीजिए। ज्ञान कितने आकारप्रमाण है ? समस्त ज्ञेयाकारप्रमाण है अर्थात् ज्ञानमे तीनो लोक, अलोक अतीत अनागत वर्तमान सभी तो विषय हो रहे है। तो इस तरह आत्मा नही किन्तु ज्ञान, ज्ञान क्या ? वह आत्मा। जब ज्ञानमय दृष्टिसे देखा तो वह ज्ञान सर्वव्यापी है और आत्मा तो केवली समुद्घात की स्थितिमे केवल लोकभरमे ही फैल पाया था, किन्तु यह ज्ञान तो लोक और अलोक सर्वत्र फैला हुआ है। सो यह कही प्रदेश से फैले हुएकी बात नही कह रहे, किन्तु ज्ञानसे इसी तरहसे रूपक आका जाता है कि ज्ञान कितनेमे गया ? कितने क्षेत्र तक फैला ? यद्यपि वह ज्ञान ही क्या, सभी गुण प्रदेश

अपेक्षासे आत्माके बाहर व्यापक नही है, फिर भी ज्ञान ही हमारा एक ऐसा अद्भुत गुण है कि जिसका अवगम इसी तरह जाना जाता है कि यह कितने ज्ञेयोमे फैला हुआ है ? इस दृष्टिसे हम ज्ञानको, आत्माको सर्वव्यापी भी कह सकते है, पर यह दृष्टि तो शकाकारकी नही है या लौकिक जन जो चर्चा करते हैं, इस सम्बन्धमे वे इस दृष्टिसे नहीं करते, किन्तु जैसे कि यह पदार्थ इतना बडा है, इतना फैला है, इतनेमे व्यापक है। इसी प्रकार यह आत्मा कितनेमे व्यापक है, यह बात चर्चामे आया करती है।

आत्माके सर्वव्यापित्व व सर्व-अव्यापित्वका समाधानोपरान्त निर्णय—उक्त विवेचनो से हमारा यह निर्णय हुआ कि आत्मा निश्चयत तो न सर्वव्यापी है, न सर्व-अव्यापी है और व्यवहारत यह देहप्रमाण है। कदाचित् समुद्घातकी स्थितियोमे देहसे बाहर भी होता है किन्तु वह इस तरह शाश्वत नही रह सकता है। वह है एक आगंतुक बात। और फिर उस समुद्घातसे हटकर फिर यह देहप्रमाण हो जाता है। औरकी तो बात क्या ? जब देहसे मुक्त हो जाता है आत्मा तो मुक्त-अवस्थामे भी यह चरम देहप्रमाण रहता है। कारण यह है कि अन्य प्रकारके आकार पानेका अब कारण नही रहा है। आत्मा छोटा बडा बने, भला चीटी के देह बराबर है हाथीके देह बराबर है। इस तरहकी विषम आकारमे घटे, बढे, इसका कारण है कर्मोदय। वह जब न रहा तो जिस स्थितिमे मुक्ति रही वही स्थिति रह जाती है। इस तरह वे सिद्ध भगवान भी उस चरमदेह प्रमाण रहते है।

आत्माके कषायसहितत्व व कषायरहितत्वविषयक दशमी जिज्ञासा—अब १० वी जिज्ञासामे यह जानने का उपक्रम हो रहा है कि आत्मा कषाय सहित है या कषायरहित ? कषायसहित या कषायरहित ऐसे दो विकल्पोका आधार यही है कि पाया ही जायगा जीव या तो कषायसहित या कषायरहित। सहित और रहित—ये दोनो जहाँ एक शब्दमे लिए जायेंगे वहाँ सारी दुनिया आ जाती है। जिसकी बात कहेगे वह सब आ जायेगा। जैसे जीवसहित जीवरहित। अब इसमे कौनसा पदार्थ छूट गया ? एक शब्दमे उस शब्दको बोलकर उससे रहित बोला जाय तो कुछ छूटा क्या ? सब आ जाता है। जब कषाय सहित और कषायरहित विकल्प हुआ तो सब आत्मा आ गया। कोई आत्मा ऐसा नही है जो इन दो चीजोसे पृथक् हो। या कषायसहित मिलेगा या कषायरहित मिलेगा। तो यहा यह जिज्ञासा होती है कि वास्तवमे यह जीव है कैसा ? कषायसहित है या कषायरहित। ऐसा भी सोच लीजिए कि जैसे कोई काठ मजबूत है, बडे सार वाला है, पुष्ट है और १००-५० वर्ष बाद वह साररहित हो जाता है तो वहा यह कहा जायगा कि यह काठ तो सारसहित था, मगर अब साररहित हो गया तो क्या इस तरह यहा भी है क्या कि आत्मा तो वास्तव मे कषायसहित ही है, मगर कारण पाकर कषायरहित हो गया। उस जीवका जो सार है

कषाय, वह सार निकल गया। जैसे पुराने काठमे से सार हट जाता है, क्या इस तरह आत्मा है ? ऐसा सोचनेका आधार एक वह दृष्टि हो सकती है कि जहाँ यह माना गया है कि जीव सदा रागवान है, उसका राग ही स्वरूप है। रागको छोडकर जीव हम और क्या बताये ? और कभी यह जीव तपश्चरण करके मुक्त भी हो जाता है, तो वहा कहीं रागशून्य नही हो गया, किन्तु दब गया और जब सदाशिवकी मर्जी होती तो वह राग पैदा करके फिर ढकेल देता है। तो इस तरहकी बातसे भी यह जिज्ञासा बन सकती है कि क्या आत्मा कषायसहित है अथवा कषायरहित। कषायसहित कहनेमे यह तो सीधा ही बिगाड है कि आत्मा कषायसहित हो गया। आत्मामे कषाय आगंतुक है, कर्मोदयसे आयी है, घटनासे प्रकट हुई है। वास्तवमे आत्मा तो कषायरहित है। कषाय औपाधिक चीज है। इस तरह आत्मा क्या कषायरहित है ? इस बातको लेकर १० वी जिज्ञासा आयी है।

आत्माके कषायसहितत्व व कषायरहितत्वविषयक जिज्ञासाका निश्चय दृष्टिसे समाधान— उक्त जिज्ञासाका समाधान भी निश्चय और व्यवहार--इन दोनो दृष्टियोसे किया जायगा। जब आत्माको शुद्धनयसे विचारते है तो वह न कषायसहित है, न कषायरहित है। आत्मा तो एक शुद्ध निज स्वभावमात्र है। सहित और रहित बताकर वस्तुका सही स्वरूप नही दिखाया जा सकता है। वह तो एक स्थिति बतायी गई है। जैसे पूछा जाय कि यह चौकी मैलसहित है या मैलरहित है ? तो मैलसहित कहनेपर क्या चौकीका स्वरूप बताया गया अथवा मैलरहित कहनेपर क्या चौकीका स्वरूप बताया गया ? चौकीका स्वरूप बताया जा सकेगा चौकीके ही निजमे रहनेवाले तत्त्वको बताकर कि यह ऐसे काठका है, ऐसा पुष्ट है, अमुक जातिका है। इस तरह तो चौकीका स्वरूप बताया जायगा, पर यह मैलसहित है, या मैलरहित है इस तरहके विकल्पमे चौकीका स्वरूप नही आ सकता है। यो ही आत्माका स्वरूप जो आत्मामे विध्यात्मक है, शाश्वत है, प्राणभूत है। उस आश्रवकी बात कहकर तो आत्माका स्वरूप बताया जा सकता है। पर यह कषायसहित है, या कषायरहित है, इन दो बातोसे आत्माका स्वरूप न आयगा। वे स्थितिया आ जायेंगी कि आत्माकी कोई स्थिति होती है कषायसहित और कोई स्थिति होती है कषायरहित। अथवा कषायसहित और कषायरहित दोनो प्रकारसे इस आत्मतत्त्वकी बात सोचनेमे तो इस आत्मस्वरूपका अपमान ही समझियेगा। कोई सम्मान नही होगा, किन्तु वह अपमान है। किसी तरह जब यह कहा गया कि आत्मा कषायसहित है तो यह तो प्रकट अपमान है, उसको कषायवान कहा जा रहा है। पर कषायवान तो नही है। वह तो पवित्र है, योगियो द्वारा ज्ञेयभूत है, वही एक मात्र आलम्ब्य है। उसे क्यो कहा गया कि कषायसहित है ? जैसे— किसीको कहा जाय कि तुम्हारे बाप कैद सहित है तो उसे वह कहाँ बरदाश्त करेगा ? वह तो साक्षात् अपमा

है। और जब कहा जायगा कि आत्मा कषायरहित है तो इस बोलीने कुछ इतना तो ध्यान करा ही दिया कि आत्मा कषायसहित था, मलिन था। जानने तो चले थे उस शुद्ध अतस्तत्त्वको, मगर उस जाननेकी उछालमे कषायरहित कहकर एक उसके मैलका स्मरण करा दिया कि वह कषायसहित था, रहित कौन होगा? जो पहिले सहित था अब वियुक्त हो गया। जिस शुद्ध आत्मतत्त्वका यहाँ वर्णन करनेके लिए यत्न कर रहे हैं क्या वह कषायसहित था? अगर था तो कभी कषायरहित नही हो सकता। वह शुद्ध आत्मतत्त्व सहज सत्त्वके ही कारण जो उसमे भाव है शाश्वत वह कषायसहित हो तो फिर अवसर ही नही हो सकता कि कषायरहित हो सकेगा। जैसे कि आत्मा चैतन्यसहित है। शुद्धनयसे निरखने पर यह विदित होता कि यह चिद्भावमय है। तो क्या उसका चिद्भावपना कभी छूट भी सकता है? तो उस शुद्ध आत्मतत्त्वको कषायरहित कहनेपर एक तो स्वरूप विदित नही होता, दूसरे अपमान भी विदित होता है।

आत्मतत्त्वको कषायसहित माननेमें विडम्बना व परमार्थ आत्मतत्त्वकी वचनागोचरता—अन्तस्तत्त्वको कषायसहित माननेमे यह विडम्बना भी बन जायगी कि यह कभी कषायरहित हो ही नही सकता। तो वह शुद्ध अन्तस्तत्त्व जिसका आश्रय करनेसे परम कल्याणलाभ होता है, वह कषायसहित जैसे नही है वैसे ही कषायरहित भी नही है। तब इन दोनो विकल्पोसे परे है। जैसे किसी पुरुषको कहा जाय कि तुम्हारे बाप कैदसे मुक्त हो गए तो भी उसे बुरा लगेगा। उसका अर्थ यह है कि कैदमे था। यदि कोई कहे कि यह कैदसे मुक्त हो गया, मान लो वह कैद भी न गया हो तब भी बुरा है और कैदमे गया हो तब भी उसे यह बात सुननी बुरी लगती है। तो यह तो शुद्ध अन्तस्तत्त्व जो योगी जनोको ध्येय है, पूज्य है वह स्वभाव परभावसे भिन्न, आपूर्ण, अनादि अनन्त, एक और एक इस प्रकारके विकल्पसे भी रहित एक चित्स्वभावमात्र ऐसे आत्माके स्वरूपको तो पूछा जा रहा है और उसे कषायसहित अथवा कषायरहित इस विकल्पमे पूछा जाय तो शुद्धनयकी दृष्टिमे ये दोनो ही भाव नही आते। वह तो एक ज्ञायक भावमात्र है। अथवा वह तो विकल्पके अगोचर है, वचनके अगोचर है, ज्ञायक भावमात्र है, ऐसा कहनेपर भी चूंकि शब्द सब धातु निष्पन्न है तो उस धातुका अर्थ है जानना। तो उस आत्मामे एक जाननेकी विशेषता की बात कही गई है। वह पूर्ण आत्मद्रव्य तो नही कहा गया है, फिर भी अगत्या कुछ शब्द ऐसे माने गए हैं कि जो एक विशेषणका सूचक न होकर परिपूर्ण द्रव्यका सूचक रहा करें। इस तरह किसी भी शब्द द्वारा उस अखण्ड आत्माका ज्ञान कराया गया है। वस्तुत तो वह अनुभवगम्य है। ऐसा यह आत्मा निश्चयत शुद्धनयसे न कषायसहित है और न कषायरहित है, किन्तु एक ज्ञायक स्वभावमय है।

आत्माके कषायसहितत्व व कषायरहितत्वविषयक जिज्ञासाका व्यवहारदृष्टिसे समाधान—अब व्यवहारदृष्टिसे जब हम देखने चलते है तो हाँ है यह आत्मा कषायसहित व कोई आत्मा कषायरहित है। १० वे गुणस्थान तक आत्मा कषायसहित कहा गया है। यद्यपि श्रेणियोमे उन कषायोका कोई व्यक्तरूप नही होता और न कोई उनके अनुसार यह प्रवर्तन होता है, वह तो ध्यानदशा है, लेकिन प्रकृतिका उदय हो रहा है वहाँ और उस उदयमे नैमित्तिक भाव बन रहे है। उसे उपयोग ग्रहण नही करता, अथवा उसमे बुद्धि नही लगायी जाती, पर निमित्तनैमित्तिक भाव तो वे चल रहे है। यो समझिये कि जैसे चेतन अचेतन पदार्थोंमे परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव अटल रहता है, उनका कोई निवारण क्या करेगा ? घडी ठीक है, पेच पुर्जे सही है, चाभी भर दी गई है तो वहाँ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक भाव है कि घंटी भी हिलती, सूई भी चलती, भीतर पेच भी चल रहे, वह निमित्तनैमित्तिक भाव है। उसे कौन टाल देगा ? कभी कोई पुर्जा बिगड गया, घडी बन्द हो गयी तो वह भी निमित्तनैमित्तिक भाव है ऐसी स्थितिमे भी उसे होना पडता है, इसे कौन टाले ? यहाँ जब निरखते है सहकारी कारण, उपादेय कारण, प्रतिबधकका अभाव यह सब ठीक हो गया हो तो वहाँ कार्यका कोई निवारण नही कर पाता। इसे थोडा इस दृष्टिसे समझनेके लिए यहां भी देखिये कि श्रेणियोमे अभी इतनी योग्यता है। उन जीवों मे जो कषायसहित है, ७ वे गुणस्थान तकके उन साधुवोमे। और तदावरण प्रकृतिका उदय भी है और वहा बताया जा रहा है चारित्रगुणका विकार, जो चारित्रगुण स्वय चैतन्य स्वरूपको लिए हुए नही है अर्थात् है तो चेतनसे अभिन्न लेकिन जैसे अकलकदेवने भी स्तवनमे कहा है कि यह आत्मा चिद्चिदात्मक है, प्रमेयत्व आदिक धर्मसे अचेतन है और ज्ञानधर्मसे चेतन है तो ज्ञानदर्शनको छोडकर अन्य कोई धर्म चेतनेका स्वरूप नही रख रहा है। तो लो इस दृष्टिसे वहा अचेतन अचेतनमें निमित्तनैमित्तिक भाव हो रहा है, चारित्रगुण हो रहा है, विकृत और प्रकृतिका उदय हो रहा है। और योग्यता वहा आत्मामे उस प्रकार की है तो श्रेणिमे भी किमपि कुछ हो गया हो, जिसको हम वचनोमे क्या कहे ? जिन पर वह बात बीत रही है वे आत्मा भी ज्ञानमें नही ले पाते हैं। इतना जो कुछ वहां हो रहा है, तो व्यवहारदृष्टिसे अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे वहां दिख रहा है कि हा आत्मा कषायसहित है और जहां ये कषाये न रही तो वहा कषायरहित है, सिद्धभगवान कषायरहित है, अरहंतप्रभु कषायरहित हैं, क्षीणमोह कषायरहित है, अथवा मोटे रूपमें देखे तो जहा व्यक्त कषाये जग रही हैं उनको हम कहते है कि यह बड़ा कषायवान है और जो पुरुष शान्त रहता है उसको कहते हैं कि यह कषायरहित है। तो ये दो बातें जो देखी जाती है वह व्यवहारदृष्टिसे है।

कल्याणलाभके लिये शुद्धनयके विषयभूत अन्तरतत्त्वकी आश्रेयता—शुद्धनयसे तो इस समयसारको इस शुद्ध आत्मतत्त्वको जो योगियोको ध्येयभूत है उसे जब हम निरखते है तो वहा एक चिद्भाव विदित होता है। वहा सहित और रहितपनेका विकल्प नही उठता है। इस तरहका यह आत्मा निश्चयत. अर्थात् शुद्धनयसे न कषायसहित है, न कषाय-रहित है, किन्तु व्यवहारनयसे है कषायसहित व कषायरहित। जैसे कि कुन्दकुन्द प्रभुने बताया है कि वह शुद्ध आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। क्यो नही है आत्मा प्रमत्त या अप्रमत्त ? यो नही कि आत्मा स्वत सिद्ध है, अनादि अनन्त है, वह शुभ अशुभ भावसे परिणमने का अपने मे स्वभाव नही रखता है। होता है शुभ परिणाम, अशुभ परिणाम आत्मामे, पर उनको परिणमानेका स्वभाव रखे अगर तो जैसे केवलज्ञान स्वभाव होनेसे परिणमता रहता है इसी तरह ये कषायें शुभ अशुभ भी परिणमती रहा करे। तो स्वभा-वत आत्मा शुभ अशुभ भावोसे नही परिणमता है, पर होता रहता है, ऐसे ही उन कर्मों का उदय दुरंत है, फिर भी स्वभावसे अन्यभावरूप नही परिणमता, इस कारण न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, किन्तु वह तो जो वह एक है, जो चिद्भावस्वरूप है वही वह है, अन्य किन्ही परिणतियोसे उसे बाँधा नही जा सकता है। यहा चर्चा चल रही है उस शुद्ध अत-रतत्त्वकी, जिसकी उपासनासे, जिसके ध्यानसे सर्वकर्ममल हट जाते है और जन्म मरणके संकटोसे दूर रहकर अभयधाममे यह आत्मा सदाके लिए विराजमान हो जाता है। उस शुद्ध अतस्तत्त्वकी बात यहाँ बतायी गई है कि उसे न तो कषायसहित कह सकते हैं और न कषायरहित कह सकते हैं। इसीके साथ-साथ अन्य बातें भी जाननी चाहिएँ। जैसे कषायसहित, कषायरहित नही, मिथ्यात्वसहित मिथ्यात्वरहित भी नही आदिक, ऐसी जो जो भी बातें प्रस्तुत हो उन उन विकल्पोसे भी परे यह आत्मतत्त्व है। उस शुद्ध अन्तरतत्त्व के ध्यानसे, आश्रयसे आत्माका कल्याण होता है और वह शुद्ध आत्माका अभयपद प्राप्त होता है कि जिसमे ये सिद्ध भगवन्त विराजे है, जो बडे-बडे योगीश्वरोके द्वारा ध्येय है।

आत्माके एकत्व अनेकत्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—अब ११ वी जिज्ञासामे यह जाननेकी बात है कि आत्मा एक है कि अनेक। इसी जिज्ञासाके समानमे यह जिज्ञासा पहिले हुई थी कि आत्मा एक है अथवा भिन्न-भिन्न। उसका सार यह था पूछनेमे कि आत्मा वहीका वही है या भिन्न-भिन्न है, जिसे इन शब्दोमे कहिये कि आत्मा तत् है या अतत्। और इस जिज्ञासामे सख्याकी प्रधानताके आशयसे जिज्ञासा है कि आत्मा एक है या अनेक। इसका भी समाधान पूर्व समाधानकी तरह निश्चय व व्यवहार—इन दो नयोसे जाना जाता है। यह प्रश्न एक ही आत्मामे उठा हुआ समझें और एक ही मे समाधान पाये। निश्चयदृष्टिसे आत्मा एक है व व्यवहारदृष्टिसे पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनेक है। जैसे

मनुष्य, तिर्यञ्च आदि अवस्थावोमे पहुंचता तो उस उस योग्यताकी अपेक्षा अनेक है। इसी अनेकताके एकान्तमें क्षणिकवाद व जीव आत्माके भेदका दर्शन रचा गया। आत्मा द्रव्य दृष्टिसे एक है व पर्यायदृष्टिसे अनेक है।

आत्माके नित्यत्व अनित्यत्व विषयक १२वीं जिज्ञासामें नित्यत्व विकल्पका मंतव्य—अब यहाँ १२ वी जिज्ञासा हो रही है कि आत्मा नित्य है या अनित्य? नित्यका अर्थ है सदाकाल रहनेवाला, अनित्यका अर्थ है सदाकाल न रहनेवाला। ऐसे प्रश्न विकल्प होनेके आधार ये हैं कि जब कि यहाँ दिख रहा है कि जीव वही एक रहता है, जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त और मरणके बाद भी कही भूत प्रेत आदिक होता है, इस तरहकी भी धारणायें सुनी तो इस दृष्टिसे लौकिक जनोंको यहाँ जिज्ञासा हुई कि क्या आत्मा सदाकाल रहने वाला है? दार्शनिक दृष्टिसे परखा कि आत्मा ध्रुव अपरिणामी माननेका एक मंतव्य है तो उस आधारपर भी यह जिज्ञासा हो जाती है कि क्या आत्मा नित्य है? नित्य एकान्तवादियोने आत्माको ध्रुव अपरिणामी नित्य माना है। जिसे कहते कूटस्थ नित्य। कूटस्थका अर्थ यह है कि लुहारकी जैसे निहाई होती है जिसपर कोई चीज रखकर हथौडेसे पीटा जाता है तो वहाँ देखिये कि संडीसीसे पकड़े हुए कोई चीज है, उसपर हथौडेसे तेज मारा भी जाता है पर वह निहाई ज्योकी त्यो अडिग रहती है। वहाँ हथौडा भी ऊँचे नीचे उठता रहता है, संडासी भी छिन-छिनमे अदलती बदलती रहती है, और जो लोहा पिट रहा है वह भी बदलता रहता है, मगर जो निहाई है वह तो ज्योकी त्यो अवस्थित रहती है, वह अपरिणामी है, कभी बदलती ही नही है, कभी परिणमन होता ही नही है। ऐसा होता है नित्य। यह उनका एक दृष्टान्त है। तो नित्य एकान्तवादी मानते है आत्माको कूटस्थ नित्य अपरिणामी। क्या ऐसा है?

द्वादशी जिज्ञासाके अनित्यत्व प्रश्नविकल्पका मंतव्य—अब दूसरे प्रश्न विकल्पकी बात सुनो—जब यहा ही लोकमे देखा कि जो भी जीव है वह क्षण भरमे बदलसा जाता है। आज जिससे मित्रता है और बडा हृदय मिलाजुला है और कलके दिन एकदम विमुख हो जाता है तो वह जीव कहां रहा, वह तो बदल ही गया। कोई शत्रु है आज अत्यन्त विमुख है, कारण पाकर वह घनिष्ट मित्र हो जाता है, पूर्ण विश्वासपात्र बन जाता है तो वह जीव और था, यह जीव और है। वही होता तो जैसा करता आया वैसा ही करता ना। तो इससे यह सिद्ध होता है कि जीव अनित्य है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टिसे सोचे तो कोई दर्शन ऐसा कहते है कि जीव तो इतना अनित्य है, इतना ध्रुव है कि वह दूसरे क्षण भी नही रहता। इसका प्रधान नाम चित्तक्षण है, न कि जीव। उस चित्तक्षण का ही नाम जीव रख दिया। वे दार्शनिक स्पष्टरूपसे उसका नाम चित्तक्षण रख रहे है।

कल्याणलाभके लिये शुद्धनयके विषयभूत अन्तस्तत्त्वकी आश्रेयता—शुद्धनयसे तो इस समयसारको इस शुद्ध आत्मतत्त्वको जो योगियोको ध्येयभूत है उसे जब हम निरखते है तो वहा एक चिद्भाव विदित होता है। वहा सहित और रहितपनेका विकल्प नही उठता है। इस तरहका यह आत्मा निश्चयत अर्थात् शुद्धनयसे न कषायसहित है, न कषायरहित है, किन्तु व्यवहारनयसे है कषायसहित व कषायरहित। जैसे कि कुन्दकुन्द प्रभुने बताया है कि वह शुद्ध आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। क्यो नही है आत्मा प्रमत्त या अप्रमत्त ? यो नही कि आत्मा स्वत सिद्ध है, अनादि अनन्त है, वह शुभ अशुभ भावसे परिणमने का अपने मे स्वभाव नही रखता है। होता है शुभ परिणाम, अशुभ परिणाम आत्मामे, पर उनको परिणमानेका स्वभाव रखे अगर तो जैसे केवलज्ञान स्वभाव होनेसे परिणमता रहता है इसी तरह ये कषायें शुभ अशुभ भी परिणमती रहा करें। तो स्वभावत आत्मा शुभ अशुभ भावोसे नही परिणमता है, पर होता रहता है, ऐसे ही उन कर्मों का उदय दुरंत है, फिर भी स्वभावसे अन्यभावरूप नही परिणमता, इस कारण न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, किन्तु वह तो जो वह एक है, जो चिद्भावस्वरूप है वही वह है, अन्य किन्ही परिणतियोसे उसे बांधा नही जा सकता है। यहा चर्चा चल रही है उस शुद्ध अतस्तत्त्वकी, जिसकी उपासनासे, जिसके ध्यानसे सर्वकर्ममल हट जाते हैं और जन्म मरणके संकटोसे दूर रहकर अभयधाममे यह आत्मा सदाके लिए विराजमान हो जाता है। उस शुद्ध अतस्तत्त्वकी बात यहाँ बतायी गई है कि उसे न तो कषायसहित कह सकते हैं और न कषायरहित कह सकते हैं। इसीके साथ-साथ अन्य बातें भी जाननी चाहिएं। जैसे कषायसहित, कषायरहित नही, मिथ्यात्वसहित मिथ्यात्वरहित भी नही आदिक, ऐसी जो जो भी बातें प्रस्तुत हो उन उन विकल्पोसे भी परे यह आत्मतत्त्व है। उस शुद्ध अन्तस्तत्त्व के ध्यानसे, आश्रयसे आत्माका कल्याण होता है और वह शुद्ध आत्माका अभयपद प्राप्त होता है कि जिसमे ये सिद्ध भगवन्त विराजे है, जो बडे-बडे योगीश्वरोके द्वारा ध्येय है।

आत्माके एकत्व अनेकत्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—अब ११वी जिज्ञासामे यह जाननेकी बात है कि आत्मा एक है कि अनेक। इसी जिज्ञासाके समानमे यह जिज्ञासा पहिले हुई थी कि आत्मा एक है अथवा भिन्न-भिन्न। उसका सार यह था पूछनेमे कि आत्मा वहीका वही है या भिन्न-भिन्न है, जिसे इन शब्दोमे कहिये कि आत्मा तत् है या अतत्। और इस जिज्ञासामे सख्याकी प्रधानताके आशयसे जिज्ञासा है कि आत्मा एक है या अनेक। इसका भी समाधान पूर्व समाधानकी तरह निश्चय व व्यवहार—इन दो नयोंसे जाना जाता है। यह प्रश्न एक ही आत्मामे उठा हुआ समझें और एक ही मे समाधान पायें। निश्चयदृष्टिसे आत्मा एक है व व्यवहारदृष्टिसे पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनेक है। जैसे

मनुष्य, तिर्यञ्च आदि अवस्थावोमे पहुंचता तो उस उस योग्यताकी अपेक्षा अनेक है। इसी अनेकताके एकान्तमें क्षणिकवाद व जीव आत्माके भेदका दर्शन रचा गया। आत्मा द्रव्य दृष्टिसे एक है व पर्यायदृष्टिसे अनेक है।

आत्माके नित्यत्व अनित्यत्व विषयक १२वीं जिज्ञासामें नित्यत्व विकल्पका मंतव्य— अब यहाँ १२ वी जिज्ञासा हो रही है कि आत्मा नित्य है या अनित्य ? नित्यका अर्थ है सदाकाल रहनेवाला, अनित्यका अर्थ है सदाकाल न रहनेवाला। ऐसे प्रश्न विकल्प होनेके आधार ये है कि जब कि यहाँ दिख रहा है कि जीव वही एक रहता है, जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त और मरणके बाद भी कही भूत प्रेत आदिक होता है, इस तरहकी भी धारणायें सुनी तो इस दृष्टिसे लौकिक जनोको यहाँ जिज्ञासा हुई कि क्या आत्मा सदाकाल रहने वाला है ? दार्शनिक दृष्टिसे परखा कि आत्मा ध्रुव अपरिणामी माननेका एक मतव्य है तो उस आधारपर भी यह जिज्ञासा हो जाती है कि क्या आत्मा नित्य है ? नित्य एकान्तवादियोने आत्माको ध्रुव अपरिणामी नित्य माना है। जिसे कहते कूटस्थ नित्य। कूटस्थका अर्थ यह है कि लुहारकी जैसे निहाई होती है जिसपर कोई चीज रखकर हथौडेसे पीटा जाता है तो वहाँ देखिये कि संडीसीसे पकडे हुए कोई चीज है, उसपर हथौडेसे तेज मारा भी जाता है पर वह निहाई ज्योकी त्यो अडिग रहती है। वहाँ हथौडा भी ऊंचे नीचे उठता रहता है, सडासी भी छिन-छिनमे अदलती बदलती रहती है, और जो लोहा पिट रहा है वह भी बदलता रहता है, मगर जो निहाई है वह तो ज्योकी त्यों अवस्थित रहती है, वह अपरिणामी है, कभी बदलती ही नही है, कभी परिणमन होता ही नही है। ऐसा होता है नित्य। यह उनका एक दृष्टान्त है। तो नित्य एकान्तवादी मानते हैं आत्माको कूटस्थ नित्य अपरिणामी। क्या ऐसा है ?

द्वादशी जिज्ञासाके अनित्यत्व प्रश्नविकल्पका मंतव्य—अब दूसरे प्रश्न विकल्पकी बात सुनो—जब यहां ही लोकमे देखा कि जो भी जीव है वह क्षण भरमे बदलसा जाता है। आज जिससे मित्रता है और बडा हृदय मिलाजुला है और कलके दिन एकदम विमुख हो जाता है तो वह जीव कहा रहा, वह तो बदल ही गया। कोई शत्रु है आज अत्यन्त विमुख है, कारण पाकर वह घनिष्ट मित्र हो जाता है, पूर्ण विश्वासपात्र बन जाता है तो वह जीव और था, यह जीव और है। वही होता तो जैसा करता आया वैसा ही करता ना। तो इससे यह सिद्ध होता है कि जीव अनित्य है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टिसे सोचें तो कोई दर्शन ऐसा कहते है कि जीव तो इतना अनित्य है, इतना ध्रुव है कि वह दूसरे क्षण भी नही रहता। इसका प्रधान नाम चित्तक्षण है, न कि जीव। उस चित्तक्षण का ही नाम जीव रख दिया। वे दार्शनिक स्पष्टरूपसे उसका नाम चित्तक्षण रख रखे

जिस क्षणमे जो चित्त है चित्त मायने जीव चेतनकी बात बस उस ही क्षणमे वह है, न पहिले था, न आगे होगा। और इस सिद्धान्तमे केवल जीवको ही क्षणवर्ती नही माना। प्रत्येक पदार्थ क्षणवर्ती हैं। रूपक्षण, रसक्षण, गधक्षण, स्पर्शक्षण ये पदार्थ हैं, पुद्गल कोई पदार्थ नही। पुद्गल तो इन रूप, रस, गध, स्पर्श आदिकके मेल होनेपर एक कल्पना किया गया है कि यह कल्पना किया गया है। पदार्थ तो रूपक्षण आदिक हैं। और वे भी सब क्षण-क्षणमे ही होनेवाले हैं, दूसरी क्षण ठहरने वाले नही हैं। तो यो सभी पदार्थोंकी भाँति यह आत्मा भी अनित्य है, क्षणवर्ती है, ऐसे दो प्रश्न विकल्पोमे यह जिज्ञासा बनी है।

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें द्रव्यदृष्टिसे आत्माके नित्यत्वका कथन—उक्त जिज्ञासा का समाधान भी दो दृष्टियोसे होगा—निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि अथवा कहो द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि। जब द्रव्यदृष्टिमे निहारते हैं तो आत्मा सदाकाल शाश्वत वही एक रहता है। जैसे यहा वृक्षोमे दिखता है कि जो एक नई पतली टहनी निकली है वह झुकी हुई है, कोमल है। उसका स्पर्श और है जब वह बडी मोटी हुई, बडा रूप लिया तो बडा दृढ एक शाखाका रूप बन जाता है। तो इतना परिवर्तन हो गया, तिस पर भी क्या यह कहा जायगा कि वह टहनी कोई और थी अब यह शाखा कोई नयी बन गई। इतनी ही मोटी किसी दिन आकर फिट बैठ गयी। ऐसा तो नही नजर आता। वह तो वही चीज है जो आज ऐसे स्थूल आकारमे आ गया है। तो ऐसे ही सभी वस्तुओंकी बात समझना चाहिए। जीव भी चाहे कितना ही बदले, मित्रतासे शत्रुतामे आये, क्रोधसे लोभमे आये, कषायसे अकषायमे आये, उसका हो अनेक परिणमन, पर जिसमे परिणमन हो वह एक जीव है। दूसरी बात यह है कि कोई भी असत सत् नही होता। कुछ होना ही नही हो और कुछ बन जाय ऐसा कही नही होता है, न कभी हो सकेगा। कुम्हार भी घडा बनाता है तो वहाँ भी मिट्टी ही तो घडारूप परिणमी। कुछ भी न हो और यो ही घडा बना दे तो ऐसा तो कोई नही कर पाता है और कोई कर दे तो उस घडेमे से कोई पानी न पी सकेगा। वह इन्द्रजाल है, मायासे दिखाया हुआ है। उसमे अर्थक्रिया न होगी। तो कुछ भी चीज बनती है तो किसी सत्त्वसे ही तो बनती है। असत् कभी सत् नही हो सकता। तो मानो पहिले न था, आगे न रहेगा और वर्तमानमे है तो ऐसा असत्भूत आयेगा कहासे? तो आत्मा ध्रुव नही, किन्तु क्षणवर्ती है। कुछ ऐसा एकान्त नही टिक सकता है। द्रव्यदृष्टिसे निहारने पर वह पदार्थ है अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहेगा। उसका कभी विनाश नही होता। तद्भावाव्ययं नित्यं। नित्यका अर्थ दिया है कि उसके भवनका कभी व्यय न होना सो नित्य है। वही ऐसा नही कि पर्याय न हो, अपरि-

णामी ही हो वह नवीन-नवीन क्षणोमे नवीन-नवीन अवस्थारूप होता जाय, इस व्यायाम का कभी अभाव न होगा, इस व्यापारका कभी अभाव नही होता। इसीको नित्य कहते है। तो जिसमे परिणमन होता रहता है वह मूलभूत वस्तु है तो सही। कोई अगुली नामका पदार्थ हो तब ही तो कभी सीधी हो, कभी टेढी हो, कभी गोल हो, उसमे नाना आकार बनाये जा सकते हैं। तो जिससे ये नाना आकार बन रहे है उसके आधारभूत कोई द्रव्य तो है ही। तो इसी तरह विचारतरंग मालाये जहां उत्पन्न होती है उन विचारोंका आधार वह एक है। यो आत्मा द्रव्यदृष्टिसे नित्य है। अब ऐसे द्रव्यदृष्टिसे नित्य रहनेवाले आत्मा मे उसके अन्त स्वभावपर दृष्टि की जाय तो जैसे कि एकान्तवादियोने माना कि वह तो अपरिणामी ध्रुव है, यह बात नजर आयगी। जब उस जीवमे उस सहजस्वभावको निहार रहे हो तो क्या वह सहज स्वभाव परिणामी है ? क्या वह सहजस्वभाव मिट जाने वाला है ? वह तो शाश्वत एक रूप है, यो वह शाश्वत एक रूप अपरिणामी निहारा जा रहा है। वह निहारा जा रहा है शुद्धनयसे। वस्तु केवल शुद्ध नयात्मक ही नही हुआ करती। जैसे अशुद्ध नयात्मक ही नही हुआ करता वह तो शुद्ध अशुद्ध नयात्मक है। यहाँ अशुद्धसे मतलब विकारसे न लेना, किन्तु कोई भेद आ जाय, कुछ अन्य बात विचारी जाय उसे अशुद्ध कहते है और एक सहज स्वभावमात्र का ही विचार हो उसको शुद्ध कहते है। तो वस्तु शुद्धाशुद्धात्मक है। तो यो द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है, आत्मा भी नित्य है।

पर्यायार्थिकदृष्टिमें आत्माके अनित्यत्वका कथन—अब पर्यायदृष्टिमे निरखनेपर क्या विदित होता है। इसपर दृष्टि कीजिए। पर्याय जो उस द्रव्यके ऊपर आय होती है, जिसका कि फिर व्यय भी होता है, ऐसी जो कुछ भी स्थिति है वही तो पर्याय कहलाती है। वह स्वभावरूप नही बनता, इसलिए वह द्रव्यके ऊपर लोटने वाली चीज है। कही इसका अर्थ यह न लेना कि भीतर द्रव्य पूरा मौजूद है और वह अपने दिलको डाटे हुए है कि कही ऊपर पर्याय लोट रही तो उसके बोझसे मैं दब न जाऊँ। इस तरह कोई द्रव्य भीतरसे अपना दिल गडा करके डटा हो और उसके ऊपर पर्यायें लोटती जा रही हो, ऐसा नही है, किन्तु पर्याय जो है वह सर्वप्रदेशोमे है। अन्त बाह्य सर्वत्र है, पर ऐसी पर्याय होनेपर भी वहा स्वभाव अपरिणामी है, स्वभाव एकस्वरूप है। उस स्वभावमे बदल नही है। पर्यायें बदल रही है, स्वभाव वहीका वही है। यो उस स्वभावदृष्टिसे देखनेपर यह विदित होगा कि जो स्थितियां आती हैं वे स्थितिया तो अनित्य है, अध्रुव है, विनाशीक है, इस तरहकी अगर अनित्यता न हो तो न व्यवहार ही ठीक रह सकता है और न धर्ममार्ग ही चल सकता है।

क्षणिकैकान्तमें मार्गका अपलाप—एक ऐसा कथानक है कि एक क्षणिकवादी सेठको

गाय चरानेको एक ग्वाला ले जाया करता था। जब महीना पूरा हो गया तो उसने अपनी चराई मांगी। मान लो २) माहवार चराई पडती थी। तो सेठने कहा—अरे तुम क्यो हम से चराई मागते हो ? जिस आत्माको हमने गाय चरानेको दिया था वह तो कोई दूसरा आत्मा था। तुम तो अब कोई दूसरे ही आत्मा हो। वह मुझसे चराई मागे जिसको हमने गाय चरानेको दिया था। तो मानो वह गाय चराने वाला (ग्वाला) भी कोई वैसा ही दार्शनिक होगा, उसने भी झट एक उपाय सोच लिया। दूसरे दिन उस गायको सेठके घर न ले गया, अपने ही घर बांध लिया। अब तो आ गई सेठ पर आफत। सेठ झट पहुंचा ग्वालेके पास, बोला—हमारी गाय तुमने अपने घरमे क्यो बाध लिया ? हमारी गाय हमे दो। तो ग्वाला बोला—अरे सेठ जी, जिसने ग्वालेको गाय चरानेको दिया था वह तो कोई और ही जीव था, तुम तो कोई दूसरे जीव हो। वही मुझसे अपनी गाय मागे जिसने दिया हो। अब क्या करे सेठ ? माफी मागा और उसे २) के बजाय ४) देकर अपनी गाय वापिस लिया। तो देखिये—यदि कोई अनित्यताके एकान्तका हठ करले तो फिर उससे क्या व्यवहार चल सकेगा ? इसी तरह कोई नित्यताका एकान्त कर ले तो भी व्यवहार नही चल सकता है। वह तो कूटस्थ है। किसीसे कोई बात कहा—मान लो नौकरसे कोई बात कहा और वह ऐसा ही ठूठकी तरह खडा रह गया, क्योकि सेठने समझा दिया होगा कि जीव तो कूटस्थ अपरिणामी है तो ऐसा ही रहना चाहिए। कुछ सुने ही नही तो फिर भला बताओ काम कैसे चल सकेगा ? तो अनित्य एकान्तमे व्यवहार नही चल सकता। मोक्ष-मार्ग भी नही चल सकता। जब जीवमे कुछ बिगाड ही नही होता, पाप भी नही करता, जन्म मरण नही करता तब कौन तपश्चरण करेगा ? क्या जरूरी पडा है ? और जब आत्मा क्षण-क्षणमे नया-नया ही बनता है तो फिर तपश्चरण करनेसे फायदा क्या, क्योकि तपश्चरण तो कोई दूसरा आत्मा करे और मुक्त हो कोई दूसरा आत्मा। तो फिर तपश्चरण करनेका झझट ही कोई क्यो मोल ले ? तो नित्य एकान्त और अनित्य एकान्तमे न तो परमार्थधर्म ही बन सकता है और न व्यवहारधर्म ही बन सकता है। यो स्याद्वादपद्धति से पदार्थ नित्यानित्यात्मक है।

स्याद्वादसम्मत नित्यानित्यात्मकत्व माने बिना आपत्तियोंका दिग्दर्शन—गुरुजी सुनाते थे कि कोई एक वेदान्ती गुरु शिष्योको पढाया करते थे—ब्रह्म एक है, ध्रुव है, अविकार है आदि, और उन गुरुकी आदत ऐसी थी कि एक मिठाई की दुकानमे जिसमे मास भी पकता था और मिठाइया भी अच्छी अच्छी बनती थी, उस दुकानमे बैठकर रसगुल्ले खाया करते थे। तो एक शिष्यको यह बात अच्छी न लगती थी। एक दिन क्या हुआ कि जब वही गुरु जी उसी दुकानपर बैठे रसगुल्ले खा रहे थे तो उस शिष्यने देख लिया, तो झट

गुरुके पास गया और दो तीन थप्पड जमा दिए। गुरुको बड़ा बुरा लगा। बोला, तूने थप्पड क्यो मारा ? तू बडा अविनयी हो गया.. । तो शिष्यने कहा, महाराज आप इस मास पकने वाली दुकानपर रसगुल्ले क्यो खाते ? तो गुरुने कहा– अरे कौन खा रहा है ? मेरा ब्रह्म तो अविकारी है, शुद्ध है। तो शिष्य बोला– अरे तमाचा किसके लगा ? तुम्हारा ब्रह्म तो अविकारी है, उसके तमाचा लग ही कैसे सकता है ? तमाचा तो इस देहमे लगा ? तो गुरु ने कहा– बस तुमने तो आज हमारी आँखे खोल दिया, याने सही ज्ञान जागृत करवा दिया। तो देखिये– कभी इस विधिसे भी आँखे खुला करती है। कोई एक राजा था। वह आत्मा परमात्मा कुछ नही मानता था। तो एक दिन वह हाथी पर बैठा हुआ कही घूमने जा रहा था। रास्तेमे मत्रीका घर मिला, बोला—अरे मत्री तुम आज हमे आत्मा और परमात्मामे अन्तर बताओ ? तो मंत्री बोला— महाराज ! आप हाथीसे उतर कर नीचे आइये ! एक आध घटा पासमें बैठकर अच्छी तरह सुनिये। तो राजा बोला—अरे हमारे पास अधिक समय नही है। हमको तो तुम ५ मिनटमे यो ही खडे-खडे बता दो। तो मत्री समझदार था। वह बोला— महाराज ५ मिनट की तो बात क्या– यदि हमारा अपराध माफ हो तो हम एक ही मिनटमे समझा दें। अच्छा, तुम्हारा अपराध माफ है समझा दो। तो मंत्री ने झट एक कोडा लेकर तीन चार कोडे राजाकी पीठमे जड दिए– तो राजा बोला– अरे रे रे भगवान ! तो मंत्री बोला—बस आप अपने प्रश्नका उत्तर स्वयं ही पा गए। जिसे आप अरे रे रे कहते वह तो आत्मा है और जिसे भगवान कहते वह परमात्मा है। तो कही इस तरहसे भी समझा दिया जाता है। तो नित्यानित्यात्मक माने बिना न कुछ व्यवहार ही बन सकता है और न परमार्थ ही बन सकता है। तब यह ध्यानमे लाये कोई कि यह मैं आत्मा सदाकाल रहने वाला हू और क्षण-क्षणमे परिणमता रहता हू। उसही की तो ये नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदिक अथवा ये सुख दुःख, शान्ति अशान्ति आदिक अनेक पर्याये होती है। तो ऐसा यह मैं नित्यानित्यात्मक हूँ, मुझे धर्म करना चाहिए, किसलिए कि सदाके लिए हम संकटोसे मुक्त हो जाये। अच्छा तो जब अनित्य समझा अपने आपको कि ये मेरी पर्याये बदलती रहती हैं तो अशुद्ध पर्यायसे छुटनेमे ही कल्याण है, तभी तो वह धर्ममार्गमें लगेगा। और उसको यह ज्ञान है कि आज अज्ञान अवस्था है तो इससे हटकर हम ज्ञान अवस्थामे आ तो सकते हैं। तो अपने वह धर्ममार्गमें लगेगा। साथ ही यहाँ भी विचारे कि मैं सदा रहने वाला हूं, इसलिए मुझे दरकार है कि मैं धर्म करूँ। क्योंकि यदि मैं धर्म न करूँगा तो सदाकाल ऐसी पर्यायोमें रहकर दुःख भोगना पड़ेगा। तो नित्या-नित्यात्मक स्वीकार करनेमे परमार्थ मार्ग भी बनता है, व्यवहार मार्ग भी बनता है।

त्रयोदशी जिज्ञासामें आत्माके सत् अथवा असत् होनेके विषयमें अभवत्के प्रश्नविरल

का कथः —अब पूछा जा रहा है कि यह बताओ कि आत्मा सत् है अथवा असत् ? बात बडी मूलकी पूछी जा रही है जिसका समाधान होनेके बाद अन्य विकल्प उठ सकेंगे वह मूल बात यहा पूछी जा रही है। आत्मा सत् है अथवा असत् ? असत्के बारेमे यो शका होती कि यह दिख रहा है कि बालक पैदा हो गया, जीव जतु उत्पन्न हो गए, था तो कुछ नही और असत् हो गया। बल्कि कीडा मकोडोमे तो यह देखा जा रहा कि उनके माँ बाप भी कोई नही होते और वे पैदा होते जाते है। अभी खाटमे जो खटमल होते हैं वे कितने ही भडा दिए जाये, उनके माँ बाप भी न रहे, माँ बाप होते ही नही, मोटे खटमल न रहे, फिर भी खटमल होते रहते हैं, तो बताइये वे कहासे पैदा हो जाते हैं ? अरे असत्से सत् बन गए तो ये सब असत् है, सत् कुछ है ही नही।

प्रश्नकारका नैरात्म्यवाददर्शनका प्रमाण बताते हुए असत् विकल्पका समर्थन— अथवा यो देखिये कि केवल एक आत्माके बारेमे ख्यालका पुल ही बाधा जा रहा है और ऐसा पुल बाधकर धर्म और दर्शनका रूप देकर पुण्यवान जीवोको भी कष्ट पहुचाया जा रहा है। अरे आरामसे वे घरमे रहते, सुख भोगते, सारी बात थी, एक आत्माकी बात और लगा दी कि अब उनका सुख भी किरकिरा हो गया। सुबह आकर मन्दिर आ गए, दर्शन करें और धर्म करे, सयम करें, अपनेको कष्ट दें, तो एक आत्माकी बात कह कर लोगोको कष्टमे फसा दिया। और यदि यह समझा देते कि आत्माफात्मा कुछ नही है, ये तो ख्यालके पुल बाधे गए है, तो यह मनुष्य चैनमें रहता। यह बात केवल एक लौकिक जनो की नही कह रहे, ऐसा एक दर्शन भी गढा हुआ है, जिसका नाम है नैरात्म्यवाद। नैरात्म्यवाद क्षणिकवाद, ये सब एक मित्रमण्डलीके ही लोग हैं। नैरात्म्यवादका यह मतव्य है कि यह जीव जब तक ससारमे जन्म मरण करता है, भटकता है तब तक वह मान रहा है कि यह मैं हू। तो आत्माका स्वीकार किया जिसने कि मैं हूँ। फल उसका यह है कि ससारमे भटकना पडता है और जिस दिन यह ज्ञान हो जायगा कि वह आत्मा तो एक कल्पनाकी ही चीज है। जिस क्षण आत्मा था वह तो एक क्षण था और उस क्षण जो कुछ था वह तो अवक्तव्य है, विकल्पके अगोचर है। वह तो निर्विकल्प प्रत्यक्षका विषयभूत है जो कि व्यवसायात्मक नही होता, नैरात्मवादियोका प्रत्यक्षज्ञान निर्णयात्मक नही कहलाता। उन्होंने कहा है कि जहाँ निर्णय बसा है वहाँ सविकल्पज्ञान हो गया और वह प्रत्यक्ष न रहा, वह कल्पनाकी चीज बन गया, तो निर्णय तो कल्पनाकी चीज है, वस्तुत्वकी चीज नही है और इस स्थितिमे जो समझा गया है आत्मा कि यह मैं हू, बस उस समझके साथ ही जानो कि मायाजाल लग गया। सविकल्पज्ञानने यह बात समझा तो सविकल्पज्ञान मिथ्या माना गया है।

वचन और विकल्पके विषयभूतोंकी काल्पनिकता बताकर प्रश्नकार द्वारा आत्माके असत्त्वका समर्थन—यदि कोई नैरात्म्यवादियोको क्षणिकवादियोको ज्यादह हैरान करे कि सविकल्प ज्ञान मिथ्या कैसे है ? सब जान रहे है कि भीत है, चटाई है, लोग है, यह निर्णय मिथ्या कैसे है ? तो उनका यह कहना है कि इस निर्णयसे व्यवहार तो चल रहा है, मगर यह उपचारसे माना गया है । वस्तुत प्रमाण नही है । तो ऐसे निर्विकल्प प्रत्यक्षका विषय-भूत वह आत्मा एक क्षणवर्ती है । क्षण क्या चीज कहलाती है ? तो स्याद्वादियोके सिद्धान्त से ही समझ लो—शंकाकार कह रहा है कि इसका प्रमाण है कि आँखोकी पलक नीचे डाल दी, फिर उठा ली, यो आँखोकी पलके उठने गिरनेमे जितना समय लगता है उतने से समय मे अनगिनते समय होते है, उनमे से सिर्फ एक समयकी बात कह रहे है । आँखकी पलकको कोई धीरे-धीरे नही गिरा सकता । किसीसे कहा जाय कि भैया जरा अपनी आँखकी पलक धीरे-धीरे एक मिनटमे गिराओ, तो क्या गिरा सकेगा ? नही गिरा सकता । अरे वह तो बडी जल्दी गिर जाती है, तो उस आँखकी पलकके एक बार गिरनेमे असख्यात समय होते है । उनमे से एक समयको वह चित्तक्षण हो तो कुछ निर्णयमे आयगा क्या ? जितना निर्णयमे आया हुआ है वह सब सविकल्प है और मिथ्या है । तो जब तक यह कल्पना रहेगी कि मैं आत्मा हू तब तक तो उसका ससार है जन्म मरण है और जिस दिन यह ज्ञानप्रकाश हो जायगा कि वह हमारी भूल थी जो मैं मान रहा था कि जीव हू तो उसे मोक्ष हो जायगा । ऐसे इन नैरात्म्यवादियोका कहना है । तो उस दार्शनिकके मतव्यमे यह प्रसिद्ध हो रहा है कि आत्मा असत् है, तो क्या इस तरह आत्मा असत् है ? यह पूछा गया है इस जिज्ञासाके एक प्रश्न विकल्पमे । तो उस असत्की दृष्टिको परमार्थसे और लौकिकसे दोनोसे कोई पुष्ट करता हुआ अगर समझाया जाय किसीके द्वारा तो उसको यह संदेह होता कि क्या आत्मा सत् है अथवा असत् ?

त्रयोदशी जिज्ञासाके सत्त्वविषयक प्रश्नविकल्प—आत्मा सत् है अथवा असत्, इस जिज्ञासामे असत् विषयक प्रश्न विकल्पके बारेमे कुछ वर्णन किया गया । अब क्या आत्मा सत् है, इस तरहकी जिज्ञासा हुई है, उसका दिग्दर्शन भी उसी वर्णनमे कुछ-कुछ किया गया था और विशेषरूपसे यह जानें कि चूँकि दुनियामे देखते है कि यह जीव सत् है । है और हू का व्यवहार भी होता है । यह है, वह गया आदिक क्रियाओसे भी विदित होता है कि जीव सत् है और दार्शनिक दृष्टियोसे सत् । अद्वैतवादियोने इसको ऐसा सत् मान लिया कि यह आत्मा विभक्त सत् नही है, अंशरूप सत् नही है; किन्तु महासत् रूप है, जिसे कहते है विश्वरूप है । ऐसा कुछ दार्शनिकोसे सुना, उस आधारपर इसकी जिज्ञासा हुई है कि आत्मा क्या सत् है ? इस प्रकार यह जिज्ञासा जिसको उत्पन्न हुई है वह पुरुष समझ

रहा है इस विषयमे कुछ-कुछ, क्योकि संशय ज्ञान तब तक नही हो पाता जब तक कि उन दोनो धर्मोके बारेमे कुछ बोध न हो। जितनी कोटियोमे संशयज्ञान हुआ करता है, उन सब कोटियोका उसे ज्ञान है तब संशय हो सकता है। वही पुरुष तो संशय कर सकता है जो कुछ सीप होती है, कुछ चाँदी होती है ऐसा समझा हुआ हो। तो इस जिज्ञासुने समझी तो है आत्माके बारेमे सत्त्व और असत्त्वकी बात, लेकिन निर्णय नही कर पाया, इस कारण यह जिज्ञासा हुई है कि आत्मा सत् है या असत् ?

आत्माके सत्त्व-असत्त्वविषयक त्रयोदशी जिज्ञासाका समाधान—अब उक्त उभयप्रश्न विकल्पवाली जिज्ञासाका समाधान देते है कि आत्मा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा से सत् है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे असत् है। इस आत्मामे अनेक असत्त्व भी परिचयमे आ रहे है, लेकिन उन असत्त्वोकी ओर तो दृष्टि जिसको हो गयी और स्व-चतुष्टयसे सत्त्वकी दृष्टि जिसके नही रही ऐसा पुरुष इस आत्माको सर्वथा असत् भी कह सकता है। और जिस पुरुषको स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके सत्त्वकी दृष्टि रही और वहाँ जब स्वविशेषण हट जाता है, है ही सत्, ऐसा अगीकार किया और बढकर परके द्रव्य क्षेत्र आदिकसे असत् है यह भी ध्यान छोड दिया, ऐसे पुरुषको ये दोनो सर्व सत्रूप नजर आते है, किन्तु है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत्। जैसे कि बताये कोई कि यह पुस्तक सत् है या असत् है अर्थात् है या नही है, ये दो प्रश्न विकल्प किए जायें तो जिनकी बाहरी चीजोपर दृष्टि है वे कहते है कि नहीं है। क्या नही है ? उसके समझ है, वह भीतर अन्तर्जल्पमे बोल देता है। चौकी, भीत आदिक नही हैं। अब जो उसका गुप्त ज्ञान है उसकी तो दृष्टि इसने लिया नही और इतना ही सुनकर बडे लोगोने बताया कि नही है और वह नही का एकान्त कर दे तो तथ्य तो न निकलेगा और कोई इस पुस्तकको सत् ही बताये यह है ही है, इसमे "न" कतई नहीं है, तो इसके मायने है कि पुस्तक पुस्तक भी है, भीत भी है और सब कुछ भी है, तो भी बात नही बनती। फिर पढनेका काम कैसे किया जा सकेगा ? क्योकि वह पुस्तक तो भीत आदिक भी बन गई। फिर तो वह पुस्तक सिर फोडनेका काम भी करने लगेगी। तो पुस्तक पुस्तक रूप है, इसके अतिरिक्त अन्य सबसे असत् है। यदि पदार्थमे अन्यका असत्त्व नही हो तो अर्थक्रिया नही हो सकती है। वस्तु स्वरूप न रख सकेगा, ऐसा सत्त्व असत्त्व प्रत्येक पदार्थ मे है। अपने सत्त्वसे सत्त्व है और परके सत्त्वसे असत्त्व है।

वस्तुकी सदसदात्मकताका निर्णय—सत् और असत्के एकान्तमे अनेक दार्शनिकोंने अपने मतव्य गढे है। जितने भी दर्शन हैं अन्य एकान्तवादियोके उनको परीक्षा करने पर यह विदित होगा कि इनकी सत् असत्के बारेमे यहा इतनी भर भूल हुई सत् और असत्की

ही किसी त्रुटिके कारण कुवादोकी उत्पत्ति हुई है। ये सत् असत् केवल एक रूपसे नही, द्रव्यरूपसे सत्, क्षेत्र रूपसे सत्, कालसे सत, भावसे सत् और उसके प्रतिपक्षी परद्रव्यसे असत्, परक्षेत्रसे असत्, परकालसे असत्, परभावसे असत्, इस तरह ये ८ कोटियाँ हो गईं। इनके खण्डसे अनेक कुवादोकी उत्पत्ति हुई। तो वस्तुका स्वरूप बनता है– स्वचतुष्टयसे सत् और परचतुष्टयसे असत् होने के कारण। यह बात प्रत्येक पदार्थमे स्वरसत बनी हुई है। जो भी है वह नियमसे सदसदात्मक है। यदि सदसदात्मक नही है तो है ही नही वह कुछ। कल्पना कर लो एक अपने आपके अस्तित्वकी बात सोचना है। मैं हू और इस मैं को माना मनुष्यरूपसे। सोचा कि मैं मनुष्य हूँ। तो मैं मनुष्यरूप कब हू ? कब मै मनुष्य रह सकता हू ? तभी तो जब कि मैं घोड़ा बिल्ली, गिलहरी, छपकली आदिक नही हू। यदि मैं जैसे मनुष्य हू वैसे गिलहरी, छिपकली पशुपक्षी आदिक होऊ तो फिर मैं क्या रहा ? फिर लोग मुझे किस रूपमे देखेगे ? मनुष्यरूपमे देखेगे या पशुपक्षी रूपमे ? जब मैं सर्वात्मक हो गया तो मैं क्या रहा ? तो इस दृढ निश्चयके साथ यह बात है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है और परसे असत् है, यह बात त्रैकालिक है। ऐसा नही है कि प्राय करके ऐसे हो और किसी समयमे कोई और कुछ थोडी देरको वन जाता हो, ऐसा होनेसे इसमे तो बडा धोखा हो जायगा। यदि निश्चय ही हो कि मैं सर्वात्मक हू तो उससे किसीको प्राणहारी धोखा नही होगा, किन्तु अभी यहाँ बैठा हू और कदाचित् सिहादिक क्रूर जानवर हो जाऊँ तो फिर यहाँ बैठने वाले लोगोका क्या हाल होगा ? यदि कदाचित् मैं अन्यरूप हो जाऊँ तो वह और ही बुरा है। तो यह निर्णय है कि मैं मैं ही हू, अन्य नही हू।

वस्तुके यथार्थ सदसदात्मकत्वके निर्णयका लाभ—प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही सत् है, परस्वरूपसे असत् है इस निर्णयमे तो बडी ज्ञानकी बाते भरी हुई है। जो लोग ममता कर रहे है किसी भी वस्तुमे परिवारमे या अचेतन पदार्थोमे उनकी ममताका भी कारण इसी सत् असत्का अनिर्णय है। क्यो होती है ममता कि यह घर मेरा है ? यो हो रही है अज्ञानीको ममता कि उस अज्ञानीने यह निर्णय नही किया है कि मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही सत् हू परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् हूं। यहाँ उसके कर्तृत्व, कर्मत्व, अधिकरणत्व आदिक सभी षट्कारक उसके उसमे ही हैं, अन्यमे नही है। यह ज्ञानोका निर्णय है। यह निर्णय नही है अज्ञानीको तब वह वहाँ कल्पनाये करता है कि घर मेरा आधार है, मेरे लिए घर है। मैं इस घरका कर्ता हू, मेरा घर कर्म है, सारे कारक लगा रखे है इस अज्ञानी ने, परवस्तुके साथ तब ही तो इसे ममता होती है। तो ममताके छेदका भी उपाय यह है कि यह दृढ निर्णय कर लेना चाहिए कि मैं अपने स्वरूपसे सत् हूं,

और पररूपसे असत हू, मैं अपने द्रव्यसे सत हू, इसका भाव यह है कि मैं गुणपर्यायोका पिण्ड हू, मेरेमे अनन्त शक्तियाँ हैं और उनके परिणमन, पर्याय होते हैं। उन गुण और पर्यायोस्वरूप मैं हू। मैं दूसरे पदार्थके गुण पर्यायरूप नही हू। देखिये इस सत असतके निर्णयसे सारी हैरानी खतम हो जाती है। हैरानी जितनी भी किसीको कभी भी आती है तो इसी सत्त्व असत्त्वके निर्णयमे कमी होनेसे आती है। जब मैं सदा अपनी गुणपर्यायोरूप ही रहा आया, इसही रूप रहूगा तो इस मुझका मेरे प्रदेशोसे बाहर मेरा कही क्या रखा है ? जिस देहमे एक क्षेत्रावगाहरूपसे रह रहा हू वह भी मेरे प्रदेशोसे बाहर है। यद्यपि प्रदेशोमे ही देह है। जहाँ देह है वही प्रदेश है, एक क्षेत्रावगाह है, लेकिन जैसे लोग एक घरमे रहने वाले दो भाइयोने जिनकी आपसमे बनती न हो, एक घरमे रह रहे है, तो एक घरमे रहते हुए भी लोग बताते है कि वे एक जगह नही रह रहे है, क्योकि उनमे बनती नही है। एकके विचार और हैं, एकके विचार और हैं तो लोग कहते है ना कि एक घरमे रह तो रहे है पर वे भाई एक जगह नही है। वह उससे अलग है, वह उससे अलग है। तो ऐसे ही एक आकाशक्षेत्रमे रह रहे है ये दोनो और ऐसे दोनो रह रहे हैं कि जैसे विपदा आनेपर दोनो भाई एक साथ ही कही जायेंगे, फिर भी वे दोनो भाई एक जगह नही है। इसी तरह मरण होनेपर या कही जानेपर ये दोनो आत्मा और शरीर एक साथ जायेंगे, ऐसे एक क्षेत्रावगाही है देह व आत्मा अभी, फिर भी ये दोनो एक जगह नही है, क्योकि जीवका स्वरूप और है, देहका स्वरूप और है। भले ही एक क्षेत्रमे रह रहे हैं, मगर आत्मस्वरूपसे दूर है शरीर और शरीरसे दूर है आत्मस्वरूप। तो तथ्य दृष्टिसे जिसने सत्त्व असत्त्वका निर्णय किया है उसको हैरानीमे कभी आ जायगी। करना है साहसके साथ यह काम कि परके सम्बन्धमे सम्बन्धका उपयोग न रहे और मैं अपनेको सबसे निराला केवल चैतन्यमात्र अनुभवमे लूँ। देखिये यही है एक महारत्नत्रय, यही है सर्वस्व वैभव, ऐसा अपने आपको विचारमे लें, चिन्तनमे लें तो यह होगी हमारे कल्याणकी चीज। तो परसम्बन्ध मिटे ऐसा ज्ञान होनेमे यह सदसदात्मकताका निर्णय सहयोगी हो रहा है।

क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे भी आत्माकी अन्य सबसे विविक्तता— देखिये—एक वस्तुको स्वरूपसे सत् पररूपसे असत् कहा, उसीमे सब आ जाता है निर्णय, फिर भी विशेषताके साथ भिन्न-भिन्न पद्धतियोसे कहना आवश्यक है, सो यहाँ परखिये—यह मैं आत्मा अपने क्षेत्रसे सत् हूँ, परके क्षेत्रसे असत् हूँ। परका क्षेत्र भी यहा आकाश क्षेत्र नही कह रहे है। किन्तु परद्रव्यके द्रव्यका और स्वयंका निजी क्षेत्र है। जैसे अपने आपका उस परद्रव्यने अवगाहन किया है। उसके निजी क्षेत्रकी बात कह रहे है उसपर कि निजीक्षेत्रसे भी मैं सत् हू, मैं अपने ही क्षेत्रसे सत् हू, अपने ही प्रदेशसे हू। मुझमे एक क्षेत्रावगाहरूपसे यह देह भी

रह रहा, आत्मा भी रह रहा, फिर भी देहका निज क्षेत्र देहमे है और मेरा क्षेत्र मुझमे है। मैं परके क्षेत्रसे सत नही हू। मैं आत्मा स्वकालसे सत हू, परकालसे सत नही हू। कालके मायने परिणमन, दशा, पर्याय। दूसरेकी दशासे भी मैं नही हू, मैं अपनी ही अवस्थासे हू, अपनी ही परिणतिसे परिणमता रहता हूं, दूसरेकी परिणतिसे मैं नही परिणमता। यह कहलाया स्वकालसे सत और परकालसे असत् होना, इसके निर्णयमे कितनी ही परेशानियाँ खतम हो जाती हैं। अरे मैं किसी पदार्थको कुछ परिणमा नही सकता, फिर किसीको कुछ परिणमानेका मेरेमे आग्रह क्यो होता है? यह मिथ्या अध्यवसाय है। यह मेरी बरबादीका हेतुभूत है, क्यो हो रहा है किसी भी परमे अपनी इच्छानुसार परिणमानेका आग्रह? अरे न परिणमानेका आग्रह रहे और न उस प्रकार परिणमानेकी इच्छा रहे, दोनोसे निराला होकर मैं अपने स्वतत्र स्वभावरूप निजतत्त्वका अनुभव करूँ। जब मैं किसीकी परिणतिको कर ही नही सकता, तब किसीमे क्यो आग्रह हो? जब कोई परपदार्थ मेरी किसी परिणति को कर ही नही सकता, किसी परसे मेरा सुधार नही। मैं ही स्वयं रह जाऊँ, अकेला रह जाऊँ, अकेला ही बना रहू, अकेला मैं अकेलेका वैभव भोगूं उसमे तो मुझे सर्वस्व वैभव मिलेगा और जहाँ किसी पर कालसे अपने आपका सम्बन्ध जोडा वहाँ यह रीता हो जायगा। मैं अपने ही परिणमनसे परिणमता हू, किसी परके परिणमनसे मै नही परिणम रहा। यह निरखा गया स्वकालसे सत और परकालसे असत होनेकी बातमे।

भावापेक्षया भी मेरा अन्य सबसे विविक्तत्व— अब भावकी अपेक्षा देखिये--मैं अपने भावसे सत हू, परभावोसे असत हू। मेरा भाव, मेरा गुण, धर्म, स्वभाव, शक्ति, उनसे मैं सत हू, परके भाव, परके गुण, परकी शक्तियोसे मै असत हू, ऐसा यह निर्णय भी सारी विडम्बनाओका समाधान कर देता है। अज्ञानी जीव तो परपदार्थमे ऐसे अद्वैतवादकी तरह एकत्व बुद्धि कर रहा है कि वह अपने सत्वको कुछ पृथक् समझ ही नही पाता है तो परसे पृथक् समझ न हो और परभावोसे अपनेको सत बना लेना, इन दोनोका एक ही अर्थ है। तो मै स्वभावसे सत हूँ, परभावसे असत हू, अपनी शक्तियाँ और धर्मोसे ही मेरा सत्व है, परकी शक्तियो और धर्मोसे मेरा सत्व नही है। जब स्वभाव ही निराला निराला है तब इनका मेल कैसे हो सकता है? देह और जीवके मेल न होनेके सम्बन्धमे अन्यत्वभावनामे बताया है— जल पय ज्यो जियतन मेला, पै भिन्न-भिन्न नही मेला। जैसे दूध और जल ये दोनो मिले हैं इस प्रकारसे ये जीव और शरीर मिले हुए हैं, पर वस्तुत भिन्न-भिन्न हैं, भेले नही है, एकरस नही हैं, निराले-निराले हैं। जीव जुदा शरीर जुदा। जिसको अपना कल्याण चाहिए हो उसको यह निर्णय तो कर ही लेना चाहिए कि जीव जुदा है, मैं जुदा हू, देह जुदा है। यह निर्णय होनेपर फिर बहुतसे विवाद सुलझ जाते हैं। सम्पर्कमे प[illegible]

वार जनोसे, मित्रजनोसे जरा-जरा सी बातपर जो कलह उत्पन्न होती है वह फिर न रहेगी। जहाँ यह जान लिया कि मैं तो इस देहसे भी निराला हू। कलह हुआ करती है कोई बाहरी बातके कारण। निज-निज बातके लिए कलह नही हुआ करती। जैसे पहिले हजारो मुनियोका सघ एक साथ रहता था, वे सब निज-निज बातके लिए थे, इसलिए उनमे कभी कलह नही होता था। यदि परकी बातके लिए कोई बनता तो वहाँ कलहका स्रोत बन जाता। तो सभी पदार्थ अपने-अपने भावके लिए भावको लिए हुए सत हैं। जब ऐसी बात है तब किसी भी पदार्थसे मेरा सम्बन्ध क्या रहा ? कुछ भी सम्बन्ध न रहा।

अपनी परविविक्तताकी प्रतीतिमें ही आत्महितकी संभवता—आत्महितार्थीको यह निर्णय करना ही होगा कि मैं देहसे निराला आत्मा हू। इस लोकमे कोई किसीके सुख दुखका साथी न होगा, न है, न कभी हुआ। मोहमे भले ही कुछ लोग कहते हैं कि मैं इसके दुखमे साथी हू, मैं इसकी विपत्तिमे सहायक हू। सहायक होगे वे कब तक ? जब तक कि उसके पुण्यका उदय है, सो बन जायेगे निमित्त और दुखमे भी साथी होनेकी अपनी बात दिखायेंगे, लेकिन वस्तुत स्वय का ही पुण्य स्वयको साधक है तब दूसरेकी करतूत मेरे लिए साधक हो रही है। तो जब ऐसा यह वीरान जगल है जहा कोई किसीकी बात नही पूछ सकता है ऐसे वीरान जंगलमे पडे हुए हम ऐसे इस अशरण असार ससारमे पडे हुए हम व्यर्थकी कल्पनायें दौडायें, उससे कुछ लाभ नही होनेका। सोचना होगा अपने आत्माका उद्धार करना, इससे बढकर दुनियामे कोई काम है क्या ? अनादिकालसे न जाने क्या-क्या होते आये— बडे-बडे राजा महाराजा हुए, बडी-बडी ऋद्धिया पायी, सब कुछ भोगा, मगर आज रीते नजर आ रहे कि नही। पहिलेका पाया हुआ कुछ नही है और वर्तमानमे भी कोई शान्ति नही है। यह सब परिग्रह ग्रहका सताप है। ग्रह कहते हैं पिशाचको। यह परिग्रह पिशाचका सारा प्रताप है कि हम रीते बने हुए हैं, भरे पूरे नही हैं। भरे पूरे तो वे मुनिजन हैं जो अपने ज्ञानोपयोगमे अपने इस पवित्र ज्ञानस्वरूपको अनुभव रहे हैं। वह ऐसा भरापूरा है कि जिस बातको वह भी जाहिर नही कर सकता, क्योकि अधजल गगरी छलकेगी, पर भरी पूरी गगरी छलकेगी नही, क्षोभ उसमे नही होता। जहाँ अधूरापन है, कुछ बात करनेकी चतुराई आ गई या कुछ विज्ञान सीख लिया तो ये सब क्या हैं ? ये सब अधूरी विद्यायें है। जीवका स्वरूप तो केवल ज्ञानज्योति है। केवल रहे तो क्या मिला ? सारा लोक मिलेगा। और जो कुछमे लगा उसको क्या मिलेगा ? कुछ भी न मिलेगा। भोजन करते समय भोजन करने वाला न न करे तो उसको प्रीतिसे भोजन अधिक उपस्थित होगा, चाहेगा भी नही। लो दोनो ही खुश है, परोसने वाला भी और यह खाने वाला भी। किस बातपर यह बात बनी ? एक उसके न न पर, और यदि उसमे

हाँ हाँ की अधिकता जगी--यह लावो, वह लावो·· तो परोसने वाला भी झुँझलायेगा और खाने वाला भी झुंझलायेगा। तो जैसे यहाँ न, न करनेसे भोजन जैसी चीज भी खूब आदर से प्राप्त होती है ऐसे ही परमार्थसे भी परपदार्थोंके प्रति न, न की बात चित्तमे आये तो यह भी भरपूर रहेगा, खुश रहेगा और उसके प्रसंगमे जितने भक्तजन होगे वे भी भरपूर हो जायेंगे, वे भी प्रसन्न हो जायेंगे।

आत्माके सदसदात्मकत्वके ज्ञानप्रकाशसे श्रेयोमार्गमें कदम बढ़ानेका अनुरोध—इस जीवने अब तक अपने स्वभावसे सत्त्व की बात नही निरखी और परभावोसे असत्त्वकी बात नही निरखी, इसी कारण यह अहंकार, ममकार आदिक भावोमे बडी तेजीसे दौड लगा रहा है। तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् होना और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत होना, इसका ज्ञान होनेमे अपने उद्धारका मूलभूत सारा ज्ञानप्रकाश आ जाता है। यही नही किया अब तक। धर्मके नामपर पूजा भी करे, वन्दना भी करें, यात्रा भी करें, उपवास भी करे, सब कुछ करें और उनके साथ यदि यह सत्त्व असत्त्वकी दृष्टि नही है कि अपने ही चतुष्टयसे सत् हू, परके चतुष्टयसे असत् हू, इसका निर्णय नही है तो ऐसा धर्म-कार्य करते हुए भी परके साथ वह लगाव ही लगा रहा है, किन्तु बिलगावरूप धर्मकी प्राप्ति उसके नही होती। जब समझमे आये तब ऐसा निर्णय करके चलें कि हमे तो सबसे पहिले यह काम करना है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही सत् हू, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही असत् ही हू, इस ज्ञानप्रकाशको हमे मजबूत बनाना है। जिसके आधारपर नियमसे हैरानी दूर होगी, परेशानी दूर होगी, संकट भी समाप्त हो जायेगे, आत्माका वास्तविक तथ्यभूत कल्याण हो जायगा।

चतुर्दशी जिज्ञासामें एक ही द्रव्यमें सत् असत् जाननेकी जिज्ञासुकी उत्सुकता—वस्तु-स्वरूपकी व्यवस्थाके लिये सत्त्व असत्त्वका वर्णन चल रहा था, जिसमे यह बताया गया कि प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नही है, इस बातको युक्तियो पूर्वक और अनुभवपूर्वक सिद्ध किया गया था। अब १४वी जिज्ञासा मे यह जाननेका उद्यम हो रहा है कि अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे आत्मा सत् है, यह ठीक तरह समझ लिया गया, और उन चारोमे भी जो द्रव्यसे सत् है वही क्षेत्र, काल, भावसे असत् है, जो क्षेत्रसे सत् है वही द्रव्य काल भावसे असत् है, जो कालसे सत् वही द्रव्य क्षेत्र भावसे असत् है, जो भावसे सत् है वह द्रव्य क्षेत्र कालसे असत् है, ऐसी विधियोसे भी समझा जा सकता है, लेकिन क्या कोई ऐसी भी गुजाइश है कि वस्तु अपने द्रव्यसे ही सत् हो और अपने ही द्रव्यसे असत् हो? बात सुननेमे कुछ बेढब लग रही है कि कही ऐसा हो सकता है क्या कि अपने ही द्रव्यसे सत है और अपने ही द्रव्यसे असत् है,

लेकिन यह जिज्ञासु थोडा इस आग्रहपर डट गया कि मुझे तो अनेकान्तात्मकता, स्याद्वाद एक ही वस्तुमे बताइये कि वस्तु अपने ही द्रव्यसे सत् है और अपने ही द्रव्यसे असत् है।

एक आत्मामें अभेदपद्धति व भेदपद्धतिसे लक्षित स्व परका विभाग करके सत्त्व असत्त्वका घटन—लो चलो अब स्याद्वादकी कलासे यह बात जाननेके लिए कि वस्तु अपने द्रव्यसे सत् है व अपने ही द्रव्यसे असत् है, इस जिज्ञासाका हल करनेके लिए अपने ही द्रव्य मे स्व और परका विभाग करना होगा। द्रव्यका लक्षण बताया गया है सिद्धान्त शास्त्रमे कि जो गुणपर्यायवाला हो वह द्रव्य कहलाता है। गुणपर्ययवत् द्रव्य, ऐसा तत्त्वार्थसूत्रका वचन है। तो गुणपर्याय आदिक कुछ एक अभेदरूपसे दीखा, वह द्रव्य समझमे आया कि यह निश्चय पद्धतिसे समझा गया द्रव्य है, और चूंकि गुणपर्यायात्मक है द्रव्य, तो उस द्रव्यकी हमे कोई पर्याय भी जाननी चाहिये, तब तो हम द्रव्यको समझ सकेंगे। तो अब गुणपर्यायोको जानने जब चलेंगे तब तो उनका वहाँ बडा विस्तार है। अनन्त गुण हैं, उनकी उतनी ही पर्यायें हैं। तो जब गुण और पर्यायोको भेदरूपसे भिन्न-भिन्न ढगोसे जानने चले तब भी द्रव्य ही जाना गया कि और कुछ ? यही द्रव्य जाना गया। हाँ यह जाना गया व्यवहारदृष्टिसे, भेदपद्धतिसे द्रव्य। अब इन दोनोमे से अर्थात् अभेदविधिसे जाना गया द्रव्य और भेदविधिसे जाना गया द्रव्य ये दो परस्पर प्रतिपक्षी हो गए, क्योकि अभेद विधिसे जाने गए द्रव्यका जो स्वरूप है, जो उसकी मुद्रा है, उससे भिन्न मुद्रा है भेदपद्धतिसे जाने गए द्रव्यकी। तब जिस समय अभेदपद्धतिसे जाने गये द्रव्यको सत् कहा जा रहा है कि अभेद-द्रव्यसे सत् है तो उस समय यह बात सिद्ध हो गयी कि भेद द्रव्यसे असत् है। भेदपद्धतिसे समझा गया जो कुछ द्रव्य है उस ढगका तो यह नही है। सत् और असत्‌मे है और नही ही तो जानना है। तो जब अखण्ड द्रव्यकी दृष्टिसे वस्तु सत् है तो वह खण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् है। इस प्रकार जब दूसरी दिशामे विचार करते हैं कि हमको तो यह समझमे आ रहा कि द्रव्य अनन्त गुणरूप है, अनन्त पर्यायरूप है, इस तरह देखा गया द्रव्य है, सो सही बात है। यो खण्ड द्रव्य दृष्टिसे जो सत् है वह उस समय उस मुद्रामे अखण्ड द्रव्यसे असत् है। जो समझा गया खण्ड द्रव्यदृष्टिमे, वह तत्त्व तो नही है, जो अखण्ड दृष्टिमे परखा गया था। तो यो स्वद्रव्यसे ही सत् हुए, स्वद्रव्यसे ही असत् हुए। उस ही स्वद्रव्यमे अभेदविधि व भेदविधिका विभाग करके स्व और पर बन गया। तो स्वद्रव्यसे सत् है, स्वद्रव्यसे असत् है, इसमे भी झलक यह आयी कि स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है। असत्का अर्थ है—नही। तो अब पुन इसको निरखें कि अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे जो अभेद द्रव्य प्रतीत हुआ वह प्रतीत तत्त्व खण्ड तो नही है, भेदवाला तो नही है ? हाँ नही है। चाहे उस ही द्रव्यका भेद करके खण्ड करके जाना गया, समझाया गया तो उस समय जो प्रतीतिमे आया है वह ऐसा तो नही है कि जो अखण्ड द्रव्यदृष्टिमे समझा गया था। नही है, तो बस है और नही

है इन दोनोको ही तो सत् असत् कहा करते हैं। इस तरह स्वद्रव्यमे भी, स्वपर विभाग करके वहाँ सत् और असत्का निर्णय किया गया है।

अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे ज्ञात सत्की ओर तत्वज्ञ का प्रधानतया उपयोग——इस प्रसंगमे ध्यानमे लेने योग्य एक बात और भी है कि जैसे जब हम किसी वस्तुको जानते है कि स्व-चतुष्टयसे सत् है, पर चतुष्टयसे असत् है तो इसमे प्रयोजनवश दोनो ही बातें माननेके काबिल है, फिर भी मुकाबला करके निरखा जाय कि हमारे हितके लिए हम किस विकल्पकी ओर ज्यादह मुडकर निर्विकल्प बन सकेगे तो यह ज्यादह मुक्त होगा कि स्वचतुष्टयसे सत है, इसकी ओर ज्यादह ढलो। यद्यपि तथ्यभूत दोनो है, पर चतुष्टयसे असत् है, यह भी ठीक है, स्व चतुष्टयसे सत् है यह भी तथ्यभूत है, फिर भी एक निर्विकल्पक ध्यानकी धुन बनाने वाला योगी पुरुष अधिकतर इस मार्गसे अन्त बढे तो वह बडी सुगमतया अपनी अन्त परमार्थ यात्रा करने लगेगा। आत्मा स्वरूपसे सत् है, फिर भी पररूपसे असत् है। यह भी आवश्यक है। जिस समय मोह रागद्वेष सता रहे हो और किसी प्रकारकी हैरानी, परेशानी हो रही हो उस समय पररूपसे असत् है, इस प्रकारका ज्ञान कितनी बडी मदद करता है इस जीवको आनन्दधाममे ले जानेके लिए ? तो यो भी कह सकते कि पररूपसे असत् है इस ज्ञानचन्द्र ने तो स्वरूपसे सत् है इसका दर्शन कराया और स्वरूपसे सत् है इस ज्ञानचन्द्र ने हमको निर्विकल्पधाममे पहुचनेमे सहयोग दिया। इस तरह जैसे हम प्रयोजनवश इनमें विभाग कर सकते है, इस प्रकार यहाँ जो स्वपरकी बात कही गई है कि अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है और खण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् है। इन दो मे हम दोनोका मुकाबिला करे, हम किस का विशेष आश्रय करके कल्याणपथमे पहुंचे ? तो वहाँ भी यही उत्तर होगा कि अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है, इसमे जो प्रतीति हुई है उसका आश्रय करके अपने अन्त बढे। यहाँ भी वही हालत है कि खण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है इस ज्ञानप्रकाशने तो अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है, इसका परिचय करानेमे सहयोग दिया और अखण्ड द्रव्य दृष्टिसे सत् है इस ज्ञानविकल्पने निर्विकल्प स्थितिमे पहुचानेके लिए सहयोग दिया। अब दूसरी दिशाकी बात देखिये——जहाँ यह निर्णय है कि वस्तु खण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है वह अखण्ड द्रव्य दृष्टिसे असत् है यह समझानेके लिए और व्यवहारदृष्टिके द्वारा उसे कुछ आगे बढानेके लिए यह कथन है, इस कथनसे जो अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् कहा गया है उससे भी हमे यह प्रेरणा मिलती है कि यह तो खण्ड द्रव्यदृष्टिसे देखा गया सत् है। यहाँ ही हमे नही अटकना है ? यो कि वह अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् है। तब हमे क्या करना कि खण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत्को जानकर यह अटकनेके लिये नही है ऐसा विवेककर अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे जो सत् है उसे प्रतीतिमे पहुंचना है। जो कल्याणका धाम है वह स्थान एक ही है। चाहे प्रथम साइडसे चलकर बढे ।

चाहे दूसरी साइडसे चलकर बढ़े, उस सकरी गलीसे सावधानीपूर्वक चुपचाप ही चलनेसे कल्याणधाममे पहुंचना होगा। यो स्वद्रव्यसे ही सत हैं, इसमे भी स्वपर विभाग करके सत और असतका कथन युक्त बैठ जाते हैं।

स्वक्षेत्रमें भी सत्व असत्व जाननेकी इच्छा—अब १५ वी जिज्ञासामे यह जाननेका उपक्रम किया जा रहा है कि जैसे आत्मा स्वद्रव्यसे सत् है और परद्रव्यसे असत् है, इस तरहका विवक्षासे परिज्ञान कराया गया तथा स्वद्रव्यमे भी स्वद्रव्यसे सत असतका परिज्ञान कराया गया था, क्या इस ही तरहसे स्वक्षेत्रकी भी बात हो सकेगी कि पदार्थ स्वक्षेत्रसे सत है और स्वक्षेत्रसे असत है, इस प्रसंगमे क्षेत्रका अर्थ आकाशक्षेत्रसे नही लेना है, वह परक्षेत्र है। केवल एक पदार्थकी दृष्टि चल रही है, और एक ही पदार्थमे स्याद्वाद विधिसे निरखनेकी बात चल रही है, तो आत्मा अपने क्षेत्रसे सत है जिसको सिद्ध किया गया था कि आत्मा असख्यातप्रदेशी है। जो आत्माका गुण समुदाय है वही प्रदेशपनेको प्राप्त है उसकी दृष्टिसे आत्मा सत है और अन्य पदार्थोंके प्रदेशकी दृष्टिसे असत है। तो जो स्व-क्षेत्रकी अपेक्षासे सत कहा गया था उसमे यह जिज्ञासा हो रही है कि स्वक्षेत्रकी अपेक्षा से भी सत और असत क्या ये दोनो बातें सम्भव हो सकती हैं ?

आत्माके स्वक्षेत्रका अखण्डक्षेत्र व खण्डक्षेत्रका निश्चय व्यवहारपद्धतिमें विभाग—उक्त जिज्ञासाका समाधान भी हम उसी प्रकारकी दो पद्धतियोसे पा सकेंगे—भेदपद्धति और अभेदपद्धति। स्वक्षेत्रको जब अभेदपद्धतिसे देखा जाता है तब अखण्डैकक्षेत्री विदित होता है, जब ही भेदपद्धतिसे आत्माके प्रदेश, स्वक्षेत्रको निरखा जाता है तब वहाँ असख्यातप्रदेश विदित होते हैं। सो जब अखण्ड क्षेत्रको स्वरूपसे देखा जाता है तो भेदपद्धतिमे उस ही को पररूपसे देखा जा रहा है। भेदविधिसे तो नजर आयगा ही खण्ड क्षेत्र। जैसे—अभेदविधि से स्वक्षेत्रको देखा जाय तो क्या कोई यह कह सकेगा कि आत्मा असख्यातप्रदेशी है ? कभी नही कह सकता। जब उसने अखण्ड क्षेत्रकी दृष्टि की है तो उसके लिए तो एक दिखेगा, प्रदेशकी भी बात नही है, एक क्षेत्री है, पूरा है। जैसे कोई एक बाँसको लिए जा रहा है तो कही उसकी दृष्टि प्रत्येक पोरपर तो नही रहती है कि मैं ये इतने पोर लिए जा रहा हू। वह तो ऐसी ही दृष्टि रखता है कि मैं यह पूरा एक बाँस लिए जा रहा हू। देखने वाले लोगोकी भी ऐसी दृष्टि नही रहती कि यह देखो इतने पोर लिए जा रहा है। वे तो ऐसी ही दृष्टि रखते हैं कि यह तो एक बाँस लिए जा रहा है। तो लो—जिसका जो प्रयोजन है उस प्रयोजनसे वह वस्तु अखण्ड दिखी, वहाँ भी खण्ड पोर नजर नही आता। और जब मान लो किसीको दात कुदेरनेकी सीक निकालनी है उस बासमे से तो उसे वह अखण्ड न दीखेगा, उसे तो पोर नजर आयगा। इस पोरमे से तोडा, इसे छीला, इसमे से सीक

निकाला, ये सीक १०) रुपये की बिक जायेंगी। तो जिस दृष्टिसे निहारना हुआ उस दृष्टि से वही नजर आया। जब इस आत्माके क्षेत्रको निहारनेमे लिए चले तो अभेदपद्धतिसे निरखनेपर तो अखण्डक्षेत्री आत्मा दृष्टिमे आया तथा जब स्वक्षेत्रको ही भीतर खण्डदृष्टिसे देखने चले तो वहा असख्यात प्रदेश नजर आये। आत्मा असख्यातप्रदेशी है। लो इतने बडे शरीरमे हम रह रहे है तो मैं इतने क्षेत्रमे रह रहा हू ना, सो इनने विशाल क्षेत्रमे जो मैं घिरा हू तो प्रदेश मेरेमे बहुत है। एक अविभागी क्षेत्रके हिस्सेका नाम प्रदेश है। वहा इतना तो जानते ही है कि हम साढे तीन हाथके हैं, तो जब साढे तीन हाथके है तो जितनी अगुली है उतने मापमे मान लो। ६० अगुलका शरीर है। जब ६० अगुलका है यह आत्मा तो एक अगुलमे कितने ही सूत भी होते है। मानो एक अँगुलमे ५ सूत आये तो कहा जायगा कि ३०० सूत प्रमाण है। जब सूत है तो सूतमे भी बहुतसे विभाग है। यो कितने विभागोमे फैला हुआ है यह आत्मा ? खण्ड दृष्टिसे ऐसा दृष्टिमे आयगा।

अखण्डक्षेत्रसे सत व खण्डक्षेत्रसे असत तथा खण्डक्षेत्रसे सत व अखण्डक्षेत्रसे असत आत्माकी निरख—स्वक्षेत्रको सप्रतिपक्षताके ढगसे आमने-सामने रखकर निर्णय दिया जाय कि खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे जो आत्मा सत है क्या वह खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे ? सत है नही है। उस दृष्टिमे और कुछ जाना गया, इस दृष्टिमे और कुछ जाना गया। दृष्टिका ही तो प्रताप है। जिस समय किसी माँ के बेटेकी बरात रवाना होती है तो रवाना होनेसे पहिले दरवाजेपर उस बेटेकी माँ उसकी बलइयाँ लेती है। उस वक्तमे माँ अपने उस बच्चेको देखकर नही अघाती। अरे १८-२० वर्ष तक उसका पालन पोषण किया तब तो बलइयाँ नही ली- उसकी बारात जाते समय बलइयाँ क्यो ली ? इसलिए कि उस समयकी दृष्टि उसकी कुछ उत्सुकता को लिये और ढगकी है। पहिले उसकी दृष्टि और ढगकी रहा करती थी। तो देखिये यहाँ एक दृष्टिका ही तो फेर है। जिस समय जो जैसी दृष्टि करता है उसको बाहरमे वैसी ही चीज दिखती है। इस तरह जब हम अपने आत्माको निरखते है तो उस आत्माको जब हम अभेद पद्धतिसे देखे तब उसकी कला अद्भुत ही समझमे आ रही है जो कि वचनके अगोचर है, और जब भेदपद्धतिसे अपने आत्माके क्षेत्रको देखें तो उस समय उसका विस्तार ही एक विचित्र है। तो यो जब अखण्ड क्षेत्रदृष्टिसे देखा गया आत्मा सत् है तो वह खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे असत् है और जब असख्यातप्रदेशी है, समुद्घातमे सारे लोकमे फैल जाता है ये आत्मा आदिक जब हम निरखते है तो उस खण्डदृष्टिमे जिस प्रकारका क्षेत्रवाला आत्मा सत् है वह अखण्ड क्षेत्रदृष्टिसे असत् है।

स्वहितनिर्णिनीषुका अखण्डकी ओर झुकाव—यहा भी स्वहितनिर्णयके लिए जब इस बातपर विचार करने चलेगे कि फिर हमको इन दोनोंमे भी किसका अधिक यत्नपूर्वक

सहारा लेना चाहिए ? यद्यपि बातें दोनो तथ्यभूत है लेकिन जब समझानेका प्रयोजन है, उसके विषयको बतलानेका प्रयोजन है जिससे कि जिस मार्गसे हम चलेगे उस मार्गके लायक हम बन सकेंगे, उसके लिए खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे सत् है, इस परिचयका आलम्बन लिया जाता है, किन्तु इस ज्ञानप्रकाशने क्या किया, इसका कितना काम था ? इस ज्ञानप्रकाशका इतना काम था कि वह यहा बता दे कि अखण्ड क्षेत्रसे आत्मा यह विराजमान है। यो समझिये कि जैसे कोई सेठ राजाके दर्शन करनेके लिए, या उससे यो ही मिलनेके लिए जा रहा हो तो उसे पहिले दरवान मिलता है, तो पहिले दरवानसे काम उसका पडेगा। दरवान उसे वहा तक ले जाता है जहासे राजा दिखने लगता है और वहा दरवान यह कहता है—सेठ जी, देखो वहा राजा जो विराजे हुए हैं, तुम वहा जावो, बस इतना कहकर दरवान अलग हो जाता है और वह सेठ अकेले ही बडी उत्सुकतासे निर्भय होकर राजाके पास पहुच जाता है, वहा फिर मिलता है और बात करता है। यो ही समझिये कि जिस आत्मार्थी पुरुषको अपने इस आत्माराजाके दर्शन करना है, उसको पहिले दरवानसे काम पडेगा। अब यहा दरवान कौन है ? एक खण्ड दृष्टि, खण्ड द्रव्य, खण्ड क्षेत्र, खण्ड काल और खण्ड भाव इनका परिचय। ये ही इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वके दर्शन करानेके लिए कहां तक ले जायेंगे ? वहा तक जिस सीमासे इस शुद्ध अन्तस्तत्वके दर्शन हो सकते है। बस तब इस दरवानने कहा—हमारा काम तो इतना ही था, हमने अपना काम पूरा कर दिया अब हे सेठजी, सेठ मायने श्रेष्ठ। तो जो आत्मा आत्मार्थी है वह सेठ तो है ही। तो इस दरवानने कहा कि सेठ जी अब निरखिये—वह है अखण्ड शुद्ध अंतस्तत्व। अब मैं विदा होता हू, यह दरवान विदा हो गया। और यह सेठ, यह आत्मार्थी उपयोग खण्ड द्रव्यदृष्टिके मार्गका सहारा लेकर खुद निजके नेत्रोका सहारा लेकर यह पहुचता है शुद्ध अन्तस्तत्वपर तो अब अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे भी प्रयोजन नही रहा, दोनो दृष्टियोसे अतीत होकर इस शुद्ध अन्तस्तत्वसे इसने मिल लिया, ऐसे अभेदरूपसे मिल लिया कि जो बहुत दिनोका बिछुडा था और आज मिला है तो जैसे कोई गरीब किसी निधिको पाकर एकान्तमे ले जाकर उससे गाढ मिलन करता है, उससे पूरा-पूरा तृप्त होता है, उसे बाहरी बाते ध्यानमे नही रहती हैं, इस तरह यह सेठ अपने आपके इस शुद्ध अन्तस्तत्व राजाके दर्शन कर लेता है। क्योकि वह एक ही था। दोनो पदार्थ एक ही है। वहा इन मिथ्यात्वादिक बैरियोने इन चुगलखोरोने इसका मनफट कर दिया था। बात इतनी ही थी। थे तो दोनो एक ही, लेकिन अब उन चुगलखोरोके दिल नही मिले तो यहा निर्भय होकर अपने शुद्ध अन्तस्तत्वमे एकरस होकर तृप्त हो रहा है। इस पद्धतिसे यह विदित होता है कि अखण्ड क्षेत्रदृष्टिसे जो सत् है, उसको निरखनेमे परम श्रेय है।

एकमें अनेकान्तका निर्णय——उक्त प्रकारसे निजके क्षेत्रदृष्टिसे यह आत्मा सत् है और असत् है। ये दोनो बाते इस ही निज क्षेत्रमे स्व और परका विभाग बनाकर युक्त हो जाती हैं। ऐसी अनेकान्त की बात चल रही है कि कोई पुरुष यदि इसका उत्सुक है कि हमें तो एक वस्तुमे अनेकान्तका परिचय करायें, तुम दूसरी वस्तुका नाम लेकर अनेकान्तका परिचय क्यो कर रहे हो ? तो ऐसे उस भव्य पुरुषकी बात सुनकर यहा इस विधिसे वर्णन किया जा रहा है कि स्वक्षेत्रसे ही यह आत्मा सत् है और असत् है। हाँ सत्त्व और असत्त्वकी बात स्वपरके विभाग बिना बन नही सकती, इस कारण इस स्वक्षेत्रमे ही स्वपरका विभाग करके यह सत् और असत्की बात बनती है।

आत्माके स्वकालसत्त्वका स्पष्टीकरण व स्वकालसे सत् असत् होनेकी जिज्ञासा—आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् है, इससे सम्बन्धित पृथक्-पृथक् भङ्गोमे बात चल रही है। जिसमे यह बताया गया कि आत्मा अपने द्रव्यकी अपेक्षासे भी स्व पर विभाग द्वारा सत् असत् है और अपने क्षेत्र अपेक्षासे भी स्वपर विभाग द्वारा सत् असत् है। अब यह जिज्ञासा हुई है कि उसी तरह कालकी अपेक्षासे भी अर्थात् स्व काल की अपेक्षासे भी आत्मा सत् असत् हो सकता है क्या ? इस प्रश्नके समाधानसे पहिले इस ही समस्याका निर्णय करे कि स्वकालसे सत् है, परकालसे असत् है। ऐसा जो पहिले समझाया गया था, सो व्यवहारमे तो नजर आ ही रहा है कि कोई किसीकी परिणतिसे परिणाम नही रहा है, वह तो स्पष्ट ही था, उसको अलगसे बताने की क्या जरूरत थी ? तो इस जरूरतको भी सुनो पहिले। मोह अवस्थामे जीवको यह नही नजर आता कि मै दूसरेके परिणमाये नही परिणमता और मेरे परिणमाये बिना दूसरा परिणमता रहता है, यह बात मोहमे विदित नही होती। अब जरा दार्शनिक पहलूसे देखो इस बातको। कोई दार्शनिक ऐसा मानता है कि ज्ञान अर्थावलम्बनमात्र है। जब ज्ञानमें चेतनका आकार हो, प्रकार हो, मुद्रा हो, बस तब ही तो वह ज्ञान है। देखिये यद्यपि परके प्रकाश बिना, परकी मुद्रा बिना रहता नही है ज्ञान, परप्रकाश बिना कभी भी न रहा। जब ज्ञान है तो उसमे ज्ञेय झलकेगा, जिसकी जितनी योग्यता हो, लेकिन ज्ञानका झलकने रूप मुद्राके कारण ही ज्ञान सत् है यह बात नही है। ज्ञान अपने आप सत् है। जैसे दर्पण है तो वह झलकाये बिना रहेगा ही नही। संदूकमे बन्द कर ले तो उसका पलड़ा झलका, कपडामे बन्द करे तो कपडा झलका। मैदानमे रखे तो आसमान झलक गया। दर्पण झलके बिना नही रहता है। जब कोई माने कि दर्पणका जो आकार है क्या वह ही परिणामा। यद्यपि प्रकाशकी झलक बिना दर्पण कभी रहता नही, फिर भी है, उस झलकसे निराला दर्पणका अपना खुदका स्वरूप है, इसी प्रकार परज्ञेय झलके बिना ज्ञान रहेगा नही,

तथापि उस परज्ञानसे प्रतिविम्ब से अतिरिक्त ज्ञानका कोई स्वरूप है। और इसी दृष्टिसे दर्शन ज्ञानके लक्षणमे ऐसा भी वर्णन आता है कि जो ज्ञानाकारको प्रतिभासे सो दर्शन और जो ज्ञेयाकारको प्रतिभासे सो ज्ञान। किसी दार्शनिकने ऐसा माना है कि अर्थके आलम्बन मात्र ही ज्ञानका स्वरूप है। इसका अर्थ क्या हुआ कि अर्थके कालमे ही ज्ञानका सत्त्व है तो ज्ञेय है सो उसके कारण ही ज्ञानकी सत्ता है और परज्ञेय नही है तो ज्ञानकी सत्ता नही है। तो लो इस दार्शनिक विधिसे परपरिणतिसे आत्माका सत्त्व माना जा रहा था तो यह आवश्यक हुआ कि यह बताया जाय कि ज्ञान अथवा आत्मा परकालसे सत् नही है। यदि परकालसे सत् इस तरहसे मान लिया जाय कि जिस पदार्थका आलम्बन किया ज्ञानने और वह पदार्थ झलक रहा इतने मात्रसे ज्ञानको सत् माना जाय तो पहिले जिस पदार्थका आलम्बन करके ज्ञान हुआ है वह पदार्थ विनष्ट हो जायगा तो ज्ञान भी नष्ट हो जायगा फिर उनके मतमे। तब यह आवश्यक हुआ कि यह बताया जाय कि ज्ञान अथवा आत्मा अपने कालसे सत् है, और अपने कालसे सत् है, इसीका ही अर्थ हुआ कि ज्ञान परकालसे असत् है। तो ऐसे स्वकालसे सत् रहनेवाले और परकालसे असत् होनेवाले इस आत्माके सम्बन्धमे अब स्वकाल सत्के बारेमे ही जिज्ञासा हो रही है कि क्या स्वकालकी अपेक्षा भी यह आत्मा सत् असत् हो सकता है?

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें भेद अभेद स्वकालदृष्टिसे आत्माके सत्व असत्वका कथन— उक्त जिज्ञासाके समाधानमे ये दो दृष्टियाँ मूलमे बनानी हैं। एक भेद अभेद स्वकालदृष्टि, दूसरा सामान्य विशेष स्वकालदृष्टि। भेद अभेद स्वकाल दृष्टिका अर्थ यह है कि एक ही समयमे जो पर्याय हो रही है, वर्तमान पर्यायको ही भेददृष्टिसे देखना और अभेददृष्टिसे देखना, यहाँ भूत भावीपर्याय की बात नही कही जा रही है। जैसे प्रत्येक पदार्थमे प्रतिक्षण एक ही परिणमन होता है, पर उस परिणमनको जब भेददृष्टिसे देखते है तो उस ही समय मे नाना पर्यायें दिखती है। जैसे आत्मामे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक गुण हैं और उन गुणोकी पर्यायें भी हैं, एक साथ पर्यायें हैं, ज्ञान परिणमन हो रहा, उसी काल मे श्रद्धा परिणमन है, आनन्द परिणमन है, एक ही साथ अनन्त परिणमन हो गए, क्योकि गुण अनन्त हैं। अब अनन्त गुणोको निरखकर जो अनन्त पर्यायें विदित हुई उन सबको अभेद दृष्टिसे देखेंगे, अनन्त पर्यायें कहा हैं, एक परिणमन है, जो भी हो वह एक परिणमन है। तो ऐसे वर्तमान क्षणमे एक क्षणमे होने वाली पर्यायको अभेददृष्टिसे देखें तो अभेदपर्याय विदित हुई और भेददृष्टिसे देखें तो भेदपर्याय विदित हुई। अब यह अभेदपर्याय और भेद पर्याय ये परस्पर स्व पर बन गए। जिस समय अभेद कालदृष्टिसे निहारा जा रहा है तो जो एक अभेदपर्याय विदित हुआ वह स्व है, तो भेद दृष्टिसे निरखी गयी वे अनन्त पर्यायें पर

हो गई। तब अभेद स्वकालसे जो सत् है वही भेद स्वकालसे असत् है। इसी प्रकार जिस समय हम आत्मामे उन अनन्त पर्यायोको जान रहे है, भिन्न-भिन्न रूपसे जान रहे, उसका स्वकाल याने उस आत्माका उस समयमे जो परिणमन है, जान रहे है, तथा उसे अगर जान रहे भेददृष्टिसे तो भेददृष्टिसे जो स्वकाल नजर आया, वह जब स्व मान लिया गया, तब अभेद दृष्टिसे विदित हो सकनेवाली जो अभेद पर्याय है वह पर हो गया। तो अब यहाँ भेद स्वकालसे सत् है तो अभेद स्वकालसे असत् है, यो स्वकालकी अपेक्षा भेद अभेद विभाग मे सत् असत् की बात हुई।

अब सामान्य विशेष काल विभागमें सत् असत् पहिले देखो—जैसे कि कहा था कि पर्याय को मौलिक दो विभागोंमे बाँटो। भेदाभेद स्वकाल और सामान्य विशेष स्वकाल। तो भेदा-भेदस्वकालका वर्णन कुछ कर दिया, अब सामान्य विशेष स्वकालकी बात समझियेगा। आत्मामे वर्तमान, भूत और भावी जितनी भी पर्यायें है वे अनन्त पर्यायें हैं। विशेषकाल, ऊर्द्धता विशेष, क्रम-क्रमसे होनेवाली ये अनन्त पर्यायें ये जानी गईं विशेष स्वकालसे और अभेद पद्धतिमे वर्तमान, भूत, भविष्यत जितनी पर्यायें हैं वे सब पर्यायें क्या है ? पर्याय ही तो है। सो उन अनन्त विशेष पर्यायोको सामान्यदृष्टिसे देखे तो एक सामान्य अभेद पर्याय विदित हुई। तो अब इस तरहसे जाने गए ये दो सामान्य व विशेष स्वकाल अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्तमान सब कालोका अभेद विधिमे नाम है सामान्य स्वकाल, जब कि अभेददृष्टि से देख रहे हो और एक-एक क्षणकी पर्यायका नाम है विशेष स्वकाल, तो जब सामान्य स्वकालसे सत् है तो वह विशेष स्वकालसे असत् है, इसी तरह विशेष स्वकाल से जो सत् विदित होता है वह सामान्य स्वकालसे असत् है। इस तरह स्वकालकी अपेक्षासे एक आत्मा मे सत् असत्का ज्ञान होता है।

स्वकालसे सत् असत्के निर्णयमें प्रधानतया आलम्व्य भाव—यहाँ भी प्रयोजनवश जब जानने चलेगे हम भेद अभेदके स्वकालके मैदानमे कि जो हमने यह समझा है कि अभेद स्वकाल तो है एक क्षणकी अभेद पर्याय और अनन्त गुणोकी अनन्तपर्याये है, भेद स्वकाल तो इन दोनोका जो हम परिचय कर रहे हैं तो मुकाबलेतन इसमे आलम्बनके योग्य कौन सी दृष्टि है प्रधानतया ? तो विचार करने पर विदित होगा कि जो हम भेद स्वकाल ज्ञात कर रहे है कि लो यह है ज्ञान, यह है मिथ्यात्व, यह है सम्यग्दर्शन, यह है कषाय, यह है शान्ति, यही तो भेद स्वकालका रूप है। तो जब हम भेदस्वकालको ज्ञात कर रहे है तो हमारा उपयोग एक पदमे स्थिर नही हो पाया, लेकिन आवश्यक है उसका भी परिचय। उसके परिचय बिना हम आगे कदम बढ़ा ही नही सकते। जैसे कि पहिले सीढियो पर चढे बिना हम अटारी पर पहुच ही नही सकते। तो भेदस्वकालसे सारी बातें यदि

होती है। आत्मामे अनन्त गुण है। इसके परिचयका साधन क्या है? यह भेद स्वकाल। कैसे समझें कि इस आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, इतने गुण हैं, इसको समझाने वाला कौन है? यह भेद स्वकाल। जैसे अग्नि जलाते हैं– दहन गुण है, प्रकाशन गुण है, तापन गुण है, पाचन गुण है, इसे कैसे समझें? जब हम देखते हैं कि पक गया कुछ, प्रकाश हो गया कुछ, तो इन पर्यायोको देखकर ही हम गुणका ज्ञान करते हैं। तो आत्मा अनन्तगुणात्मक है, इस बोधका कराने वाला तो यह भेदस्वकाल है, इस कारण भेदस्वकालका परिचय आवश्यक है, लेकिन निर्विकल्पसमाधिकी धुन रखनेवाले पुरुषोंके लिए यह पहिला हस्तावलम्बन मात्र है और इसके सहयोगसे अन्तर्दशक अभेद स्वकालके निकट यह आत्मार्थी पहुचता है अर्थात् अभेद स्वकालका परिज्ञान करना भेदस्वकालके परिज्ञानकी अपेक्षासे धीरता, गम्भीरता, उदारता आदिकको लिए हुए है। इसके पश्चात् चलना तो अभेद स्वकालके परिचय विकल्पको भी छोडकर निर्विकल्प शुद्ध अन्तस्तत्त्वमे। इसी प्रकार जब हम सामान्य स्वकाल और विशेप स्वकाल अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्तमान सारे काल परिणमन और त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोको चूंकि वह पर्याय ही है इस सामान्यस्वकालको निरखकर पर्याय सामान्य मात्र जाना। इस तरह सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय इन दोनोके परिचयके सम्बन्धमे भी मुकाबलेतन परखा जाय कि इनमे आलम्ब्य विशेषतया क्या है? यहाँ भी यह विदित होगा कि जब हम भूत वर्तमान भविष्य रूप विशेष स्वकालके परिचयमे लगे है तब वह धीरता, वह साम्यभाव निर्विकल्प समाधिमे पहुंचने जैसा निकट वाला आनन्द नही प्राप्त होता, लेकिन ज्ञातव्य अवश्य है। हम पदार्थ की उन अनन्त पर्यायोको श्रुतज्ञानके द्वारा यदि न जाने तो हम पदार्थका बोध न कर सकेंगे कि पदार्थ क्या है? पदार्थ नित्य है, सदाकाल रहने वाला है। मैं आत्मा भी नित्य हूँ, यह सब बोध किस तरह होगा? तो इस तरह यह विशेष स्वकाल प्रयोजनभूत है, लेकिन निर्विकल्प समाधिकी धुनवाले को यह सहयोगी तो हुआ, अब इसके बलसे यह अभेद पर्याय मे आया अर्थात् ऐसे पर्यायमात्रके अनुभवमे आया कि जहाँ यह विकल्प भी नही उठता कि यह पर्याय, ये अनादि अनन्त अनेक पर्यायें या ये विकल्प, यो यह सामान्य स्वकालमे आया और सामान्य स्वकालमे एक अलौकिक अनुभवके बलसे इससे भी अतीत होकर वह अन्तस्तत्वके अनुभवमे आया, शुद्ध अनुभवमे आया, मगर स्वकाल छूटेगा नही, भले ही उपयोग मे पर्याय नही है, मगर पर्याय द्वारा ही वह निष्पर्यायका अनुभव कर रहा है। यो आत्मा स्वकालसे भी स्वपरविभाग द्वारा सत् और असत् है।

स्वभावसे सत् असत्की जिज्ञासाके समाधानमें भेद स्वभाव व अभेद स्वभावका वर्णन—अब यह जिज्ञासा हो रही है कि आत्माके सत्त्व असत्त्व बतानेके प्रकरणमे द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भावसे सत् असत् घटाया था जिससे स्वद्रव्यसे भी सत् असत् है, स्वक्षेत्रसे भी सत् असत् है, स्वकालसे भी एक सत् असत् है, यह तो वर्णन हो चुका है। अब एक अन्तिम तद्‌विषयक यह जिज्ञासा रह गई है कि क्या आत्मा स्वभावकी अपेक्षासे भी सत् और असत् ये दो प्रकार होते है ? इसके समाधानको दो दृष्टियोसे जानना होगा--भेददृष्टि और अभेद-दृष्टि। भेददृष्टिको व्यवहारदृष्टि कहा, अभेददृष्टिको निश्चयदृष्टि कहा। परखना है आत्मा के भावोको। भाव जो शाश्वत है, अनादि अनन्त है, आत्माके साथ ही रहनेवाला है अर्थात् सहज है, ऐसे भावोकी चर्चा की जा रही है। तो आत्माके भावोको जब हम भेददृष्टिसे देखते है तो यहाँ अनेक गुणपर्यायें विदित होती है; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक गुण विदित होते है, और जब आत्माके भावोको अभेददृष्टिसे देखते है तो एक सामान्य भावरूपसे विदित होता है, जिसे कह लीजिए स्वभाव। आत्माका स्वभाव तो अभेद एक है, जिसका वर्णन करनेवाला कुछ शब्द है। ज्ञानमे आकर भी वचनगोचर नही होता, ऐसी बात होती है। जैसे एक रेतीली नदीके किनारे खडे हो, मानो यमुना नदीके किनारे खडे है और फर्लांगोका घाट पानीसे शून्य है, वहाँ जितने रेतके दाने है, जो सब ऊपर पडे हुए हैं वे सब दाने ज्ञानमे आये कि नही ? आये तो सही, लेकिन उनकी गिनती करके कोई बता सकेगा क्या ? गिनती करने चलेगा तो जीवन खतम हो जायगा, उनकी गिनती पूरी नही हो सकती। तो हम उन दानोको गिन भी नही पा रहे और अलग बता भी नही पा रहे, फिर भी सब जान रहे। तो ऐसा भी होता है कि ज्ञानमे तो आ रहे है, पर वचनमे नही आ सकते। और तो बात जाने दो, जब कोई भोजन करता है तो उसको स्वाद ज्ञानमे आ रहा है, मगर उसे बता नही सकता। तो आत्माका अभेदभाव एक सामान्य स्वभाव है, यह अनुभवमे तो आ जाता है, पर यह वचनोमे बाँधा नही जा सकता, फिर भी तीर्थप्रवृत्ति तो करनी आवश्यक ही है। उसके सकेत देना आवश्यक ही है, सो उसे चित्स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव आदिक शब्दो से बताया गया है। सकेत वाला शब्द है, यह स्वार्थक शब्द नही है। चित्स्वभाव ज्ञानस्वभाव आदिक जो शब्द हैं ये साकेतिक शब्द है जिनको कि हमे समझाना है, बताना है। कही ये यहाँ सार्थक शब्द नही है, जिस स्वभावको हम बतानेके लिए चल रहे है उसे ये शब्द बता रहे हो ऐसा नही है। ये शब्द बतायेगे विशेषणको, चित्स्वभावको। ये शब्द अस्तित्व स्व-भावकी बात नही कह रहे है। आनन्द चारित्र आदिक अनेक स्वभाव पडे हैं उन्हे ये चित्स्व-भाव आदि शब्द न बता सकेंगे अर्थकी दृष्टिसे। इस कारण चित्स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव ये सब वाचक शब्द नही है, किन्तु साकेतिक शब्द है। जैसे कोई मित्र किसी आवाजका संकेत कर लेता है कि तुम ऐसी चुटकी बजावोगे तो हम यह समझ जायेंगे और यह कार्य करेगे। तुम ऐसे हाथ उठाओगे तो हम यह अर्थ समझ जायेंगे और यह कार्य करेगे, तो जैसे वह

चुटकी या शब्द या क्रिया सांकेतिक है, वाचक नहीं है तो यो आत्माके स्वभावका वर्णन वचनके अगोचर है। फिर भी चित्स्वभाव ज्ञायकस्वभाव इस शब्दसे उस अभेद सामान्य स्वभावको बताया जाता है, हाँ तो अभेदभावकी दृष्टिसे जाने गए आत्माका एक सामान्य स्वभाव और भेदभावकी दृष्टिसे जाने गए आत्माके ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक अनन्त गुण।

स्व भेद भाव व स्व अभेद भावमें स्वपरविभागकी विवक्षासे सत् असत्का निर्णय व आलम्ब्य भाव—अब यहाँ स्वपरका विभाग बना लीजिए। अभेद स्वभावमे जो जाना गया है चित्स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव वह अभेद स्वभावसे सत् है तो वह भेद स्वभावसे असत् है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनन्त गुण ये हुए भेद स्वभाव, इसकी दृष्टिसे वह न आयगा ज्ञानमे। तो यो अभेदस्वभावसे जो सत् है वह भेद स्वभावसे असत् है। जब हम भेदस्वभावसे सत् परखेगे, आत्मामे ज्ञान है, चारित्र है, ऐसे अनन्त गुणोको जान-जानकर जब हम भेदस्वभावको जान रहे हैं तो उस पर्यायमे जो सत् है वह अभेद स्वभावसे असत् है। इस तरह स्वभावकी अपेक्षासे भी एक पदार्थमे सत् असत्की बात विदित हुई। यहाँ भी जब यह परखने चलेगे कि इन दोनो दृष्टियोमे भी मुकाबलेतन कौनसी दृष्टि प्रधानतया आलम्बनके योग्य है? तो यह बात बहुत कामकी कही जा रही है, जिसको उपयोगमे लेने से अपना स्वकाल सफल हो जायगा। भेदस्वभावकी दृष्टिमे यही तो निरखा जाता है कि यह ज्ञान है, दर्शन है अनन्त गुण है, यद्यपि यह समझना बडा आवश्यक है। इसके जाने बिना हम आत्माकी उस अतुल ऋद्धि महिमाको छू नही सकते। तो हुआ भेदभावका जानना आवश्यक, लेकिन यह भी परख लीजिए कि जो स्व भेद भावके विकल्पमे ही रहा करे उसे आत्मामे मिला क्या? वह तो एक चर्चा हो गयी। जैसे कि कोई जगलकी चर्चा करता है—इतने पेड है, खिडकियोकी चर्चा करता है कि इतने इसमे सरिया है, यो ही आत्माकी भी चर्चा कर ली कि इसमे इतने गुण हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक। तो ऐसी चर्चा कर लेने मात्रसे लाभ क्या उठाया? स्वाद क्या लिया? अभी केवल एक भेदभावके दर्शनमे वह रसपान नहीं हो पाया कि जिसमे यह तृप्त हो जाय, परम कल्याणमय बन जाय। तो आवश्यक होनेपर भी भेदभावको छोडकर अभेद स्वभावमे आना होता है, वह आयगा इसी के सहयोगसे। इसलिए कृतघ्नी बननेकी बात नही कह रहे लेकिन सच्ची कृतज्ञता भी व्यवहारनयके प्रति तब कहलायगी कि व्यवहारनयका जो प्रयोजन था उसको यह प्राप्त कर ले। तो यो भेद स्वभावमे अभेदस्वभाव जानें और अभेदस्वभावमे एकरस होकर फिर उसका अनुभव करे, यह सब स्वानुभवका उपाय है, इसके लिए यह सब चर्चा है।

वर्तमान अवसरमें एकमात्र सहजज्योतिस्वरूपके दर्शनका कर्तव्य—इस लोकमे कर्तव्य मात्र एक अपने सामान्य सहज ज्योतिस्वरूपकी दृष्टि रखनेमे है। जब ज्ञानका काम जानना

है तो जाननेका ही काम तो किया जाय, पर वह परको न जाने, स्वको जान ले। ज्ञानमे यह कला बसी हुई है कि जिसकी ओर उपयोग दे उसको यह जान सकेगा। जब बाहरी पदार्थोपर दृष्टि देते है तो उन्हे जानते है, देहपर दृष्टि देगे तो उसे जानेंगे। तो देहके भीतर खून, हड्डी आदिक बसे है, जिन्हे हम आँखोसे तो नही देखते, पर पूरा निर्णय है ना। अगर देहके भीतर हड्डी खून आदिक की ओर दृष्टि दें तो ज्ञान उसे भी जानेगा और जब भीतर के रागद्वेष, सुख दु ख, इन भावोपर दृष्टि दें तो यह उन्हे भी जानेगा। तो इसी तरह राग-द्वेप आदिक भावोसे परे जो आत्माका सहज स्वभाव है उसकी ओर दृष्टि करें तो क्या हम उसे न जान पायेगे ? बल्कि देहके भीतर जो खून हाड है उसको हम स्पष्ट न जान पायेगे, हम अनुमानसे ही समझेगे कि चूंकि दूसरोके हाड आदि देखते हैं और खुदमे भी ऊपरसे टटोलते है तो कुछ लगता है कि है वही। इस तरह हम उसे अस्पष्टरूपसे जानेंगे। पर अपने आपका जो भाव है, रागादिक भाव है उसे हम उससे ज्यादह स्पष्ट जान लेते है, क्योकि वह भाव हम आप यहाँ सबमे गुजर रहा और उन रागादिक भावोसे भी अधिक स्पष्ट हमे अपने उस ज्ञानस्वरूपका भान होगा। क्यो भान होगा कि जब हम रागको जान रहे है तो रागभावमे और ज्ञानभावमे द्वैतपना है, यद्यपि अपने आत्माके अन्त वसा है राग और उसको जाननेका यत्न भी अन्त है, लेकिन राग है अन्य वस्तु, ज्ञान है अन्य वस्तु। वस्तुके रूपमे यहाँ स्वतत्र पदार्थोकी बात नही कह रहे। किन्तु एक भाव है, जैसे कहते लोकमे कि ज्ञान है अन्य चीज, राग है अन्य चीज। तो ज्ञान रागको जानने चले तो उसे अति स्पष्ट न जान पायेगा, किन्तु जब ज्ञान ज्ञानस्वरूपको जानने चला तो सर्वाधिक स्पष्ट ज्ञान इसके हुआ। तो उस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको जाननेका यत्न इसीलिए किया जाता है कि हम उस ज्ञानके शुद्ध सहज स्वरूपको जानकर उसमे मग्न हो, एतदर्थ यह पौरुप है ज्ञानाभ्यास, पदार्थोका परिचयन, स्याद्वाद पद्धतियोसे उसका स्पष्ट परिज्ञान करना।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे एकत्व अनेकत्वका परिचय—यहाँ आत्माके परिचयकी बात कही जा रही है। अभी यहाँ बताया गया था कि आत्मा स्वचतुष्टयसे सत् है, परचतुष्टयसे असत् है, फिर यह कहा गया कि उस चतुष्टयमे भी प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी दृष्टिसे याने स्वके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है और असत् है। अब यह जिज्ञासा आ रही है कि आत्माको पहिले एक अनेक बताया गया था। वह एक सामान्यरूपसे या परदृष्टिसे कहा जा सकता है कि आत्मा अपने आपमे एक है और स्वरूपत. एक है और अनेक आत्माओ की दृष्टिसे अनेक है, किन्तु अब यहाँ यह जानने की बात कही जा रही है कि अपने द्रव्यसे भी आत्मा एक अनेक है, अपने क्षेत्रसे, कालसे, भावसे भी एक अनेक है। एक अनेकका अर्थ है कि एकरूप और अनेकरूप। जब द्रव्यदृष्टिसे परखते हैं तो गुणपर्याया-

त्मक पिण्ड वह अभेद एक है और जब गुण भी पर्याय भी अनेक गुण अनेक पर्यायें निरखी जाती है तो चूँकि जो भी गुण है, जो भी पर्याय हैं और जिस समयमे जिस पर्यायरूप हो रहा है आत्मा वह आत्मा वही तो है। जैसे नरक भवमे गया जीव नारकी है, वही तिर्यञ्च भवमे गया तो तिर्यञ्च है, देव भवमे तो देव है। तो जो जिस पर्यायमे रहता है वह वही तो जीव है। यो पर्यायदृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे निरखने पर यह आत्मा अनेक सिद्ध होता है। इसी तरह क्षेत्रदृष्टिसे अखण्ड क्षेत्रकी अपेक्षा एक है और खण्ड क्षेत्रप्रदेशकी दृष्टिसे यह अनेक रूप है, क्योकि वह अनेकप्रदेशात्मक है। ऐसे ही कालदृष्टिसे भेद स्वकालसे अनेक है, अभेद स्वकालसे एक है। जब जिस क्षणमे जिस पर्यायरूपसे परिणम रहा है पदार्थ तो वहाँ तो एक ही है वह और जो नाना गुणोके परिणमनरूपसे परिणम रहा है उसी समय तिर्यक विशेषकी दृष्टिसे वह अनेक रूप हो रहा है, ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है आदिक और सामान्य स्वकाल विशेष स्वकाल जब भूत भविष्य वर्तमान सभी पर्यायोका अभेद करके पर्यायमात्र रूपसे निरखा जा रहा है तो वहाँ वह आत्मा एक है। जब प्रतिक्षणकी पर्यायो को लेकर निरखा जा रहा है जो वह अनेक है, ऐसे भावदृष्टिसे भी एक अनेक प्रतीत होता है, एक चित्स्वभाव ज्ञायक स्वभाव, उस दृष्टिसे भी एक है और इसमे गुण अनन्त हैं, तो प्रत्येक गुणोकी दृष्टिसे यह आत्मा अनेक रूप हो जाता है। इन सब भेदोको जानकर अभेद एकस्वरूप ज्योतिका आश्रय.ले।

समस्त प्रकारोंके परिचयका प्रयोजन शुद्ध अन्तस्तत्त्वका शरणग्रहण—जैसे पारिणामिक भावमे तीन बाते कहकर दृष्टि दिलाई गई है शुद्ध जीवत्वपर अथवा वहाँ चार भेद बनाकर शुद्ध जीवत्व, अशुद्ध जीवत्व, भव्यत्व, अभव्य व उनमे एक शुद्ध पारिणामिक भाव पर दृष्टि दिलाई गई है और अन्यको ज्ञेयरूपसे कहा गया है, उन्हे आलम्बनके लिए नही कहा गया है, क्योकि शुद्ध जीवत्वको व्यवस्था करनेके लिए अन्य पारिणामिक भाव भी बताये गए है, और ये केवल तीन ही पारिणामिक भाव हो सो भी नही है, किन्तु अनेक पारिणामिक भाव है। अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदिक भाव क्या औपशमिक है या क्षायिक है या औदयिक है? उपशम, क्षय, क्षयोपशम व उदयकी अपेक्षा नही रखता है, वस्तु मे सहज ही बना हुआ है। तो पारिणामिक भाव भी अनेक हो जाता है। हाँ सिद्धान्त शास्त्रोमे तीन इस कारण बताये गए हैं कि अस्तित्व आदिक पारिणामिक भाव ये साधारण है, सभी द्रव्योमे पाये जाते है, इस कारणसे उनकी विवक्षा नही की। तो जैसे अन्य पारिणामिक भावोको जानकर आलम्बन तो शुद्ध जीवत्वका लेना होता है, इसी तरह आत्माकी गुणपर्यायें प्रदेश परिणतियां सब कुछ जानकर आलम्बन किया जाना है तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वभाव चैतन्यभावका किया जाना चाहिये। जीवोमे ऐसी प्रकृति पड़ी हुई है कि वे

अपना किसीको एक शरण माने और उस शरणमे रहे। यह प्रकृति कही नही मिट रही। जो मोही जीव है वे अपनी मोहमयी दुनियामे किसी न किसीका शरण मानते है और उसके आश्रय रहते हैं। कोई घर भी छोड दे, समाजमे नेतागिरी करे तो ऐसे लीडर लोग भी किसीको अपना सुखकारी मानकर उसका शरण लेते है, तो क्या इन विरक्त गृहस्थजनो ने, दार्शनिकोने, साधुवोने क्या अपनी आदतको बदल दिया ? नही बदला। वे भी किसी को निरखकर शरण मानते है, पचपरमेष्ठियोको शरण मानते है, और उत्कृष्ट बात आयी तो अपने आपमे विराजमान उस सहज कारणपरमात्मतत्त्वको शरण माना। जिस किसी को भी शरण मानकर उस शरणमे रहनेका उनका परिणाम रहता है। तो इस सब परिचयको करके हमको शरण गहना चाहिए इस शुद्ध अन्तस्तत्वकी। इस तरह इस अंतस्तत्व के आलम्बनके लिए अन्तस्तत्वके स्वरूपका वर्णन किया जा रहा है।

आत्माके साध्यत्व व साधकत्व विषयक १६ वीं जिज्ञासा—अब पूछा जा रहा है कि आत्मा साध्य है अथवा साधक ? यह प्रश्न यो आया कि प्राय साधक रूपसे सब लोगो की दृष्टि लगी हुई है और धर्मके प्रसंगमे जो जो भी व्यवहार प्रिय धर्मात्मा लोग कार्य करते है वे अपने को साधक रूपसे ही तो अनुभवते है, मगर साध्यरूपसे नही अनुभव पाते। साधक रूपसे यो अनुभवते है कि मैंने भक्ति किया, परमात्माका ध्यान किया, जाप किया, पूजा किया, विधान किया.., यो साधक रूपसे अपनेको मान रहे है, पर ऐसे व्यवहारी धर्मात्माको निश्चयकी यह सुध नही है कि मैं साध्य हूँ। बल्कि साधक बन बनकर यह पता भी न पाड सके कि आखिर हमको वास्तवमे एकमात्र चाहिये क्या ? कितनी यह आश्चर्य की बात है कि धर्मके लिए इतना तपश्चरण करे, इतनी साधना करे, सब कुछ करे, पर उनके चित्तमे यह निर्णय नही हो पाया कि मुझे केवल एक यही मात्र चाहिए। चाहनेका तो पता है, सोचता है वह कि हमे चाहिए धन, कभी मुकदमेकी जीत चाहा तो कभी परिवारी जन चाहा, कभी कुछ चाहा। ऐसी अनेक चाहे हो जाती है, पर कभी एक चाहपर टिक नही रहा कि मुझे केवल केवल एक यह चाहिए। इसका कारण कि उन्होने अपने आपको साध्यरूपसे नही परखा है और जब बात सुन करके ऐसा भी सोच लेते है कि यह मैं ही साध्य हू, पर यह मैं साध्य किस विधिसे हू, क्या साधन है, किस तरह यह साधन बना ? उसका निर्णय नही हो पाता। कभी तो कोई साध्यका एकान्त किये है, कोई साधकपनेका तो उनमे यह जाननेकी बात चल रही है कि वास्तवमे आत्मा साध्य है अथवा साधक ?

शुद्धनय व व्यवहारनयसे आत्माके साध्यत्व व साधकत्वविषयक निर्णय—उक्त जिज्ञासाका समाधान दो दृष्टियोसे आयगा। निश्चयदृष्टिसे तो आत्मा न साध्य है और न साधक, किन्तु परमपारिणामिक भावमय है, शुद्ध जीवत्वस्वरूप है। जो है सो ही है। शुद्ध

नयमे एक सहज स्वरूपका दर्शन हुआ, तो निश्चयसे आत्मा न साध्य है और न साधक है, किन्तु स्वकीय चित्स्वभावमात्र है, साध्य साधकका भाव यह तो व्यवहारदृष्टिका है और व्यवहारदृष्टिसे साध्यभाव होना तो आवश्यक है, पर साध्य क्या है, उसका सकेत पड़ेगा यह निश्चयका वाच्य, वह साध्यपनेकी पद्धति व्यवहारनयसे बनती है। तो व्यवहारसे यह आत्मा साधक है और यही आत्मा साध्य है। साध्य क्या है? यह जैसा है सहज वैसा ही मात्र रह जाय, यह साध्य कहलाता है। आत्मासे ही निर्मल पर्यायें प्रकट होती हैं और ये निर्मल पर्यायें भी प्रकट होती हैं इस शुद्ध अन्तरतत्त्वका आश्रय करनेसे। जिस कार्यकी जो विधि होती है वह कार्य उस विधिसे बनता है। तो आत्माका जो कैवल्य प्राप्त होगा तो केवलके आश्रयसे ही प्राप्त होगा, न कि अन्यके आश्रयसे। कुछ हीन पदमे, अशक्ति पदमे बाह्यसाधन जुटाये जाते हैं और वहाँ वे जुटाये जाना भी चाहिएँ, पर जुटाये जाकर भी सम्यक्त्व ज्ञान आचरणविषयक जितना भी कदम बढेगा वह शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे। तो शुद्ध अन्तस्वरूपके आलम्बनसे तो निर्मल पर्याय होती है और निर्मल पर्याय हो जानेसे अर्थात् जो था, जो है सहज वैसा ही रह जाना, इसका नाम है साध्य अवस्था और उस साध्य अवस्थाको सिद्ध करनेके लिए जो आत्मावलम्बनके लिए पौरुष कर रहा है वह पुरुष है साधक। तो इस तरह आत्मा साधक है और आत्मा साध्य है, लेकिन यह साधक साध्यकी जो दृष्टि है यह अविकल्प भावमे नही हुई। वहाँ विकल्प ही हुआ है, इस कारणसे साध्य साधकपनेकी बात व्यवहारदृष्टिसे है और शुद्धनयसे वह न साध्य है, न साधक।

धर्म और धर्मपालन—इस प्रसंगमे एक बात और जान लेना चाहिए कि धर्म किसे कहते है? परमार्थ धर्म किसे कहते हैं? इसका स्वरूप बतानेपर ज्ञान होगा कि यह किया नही जाता। यह सुनकर एक आश्चर्यकी बात होगी कि धर्म करनेकी बात तो सभी लोग कहते है, धर्म करो धर्म करो, ऐसा तो सभी लोग कहते हैं। और यो तो जब सूर्यग्रहण अथवा चन्द्रग्रहण पडता है तो उस समय छोटी जातिके लोग थैला लेकर निकलते हैं और कहते हैं कि धर्म करो धर्म करो। तो धर्म क्या चीज है? मूलत बात कही जायगी उत्तरोत्तर। धर्म नाम है वस्तुस्वभावका, आत्मस्वभावका। जो आत्माका स्वभाव है सो आत्माका धर्म है। ग्रन्थोमे लिखा है, अनेक जगह पढ लीजिए—वत्थु सहाओ धम्मो। आत्माका स्वभाव आत्माका धर्म है। अब बताओ वह आत्मा स्वभाव करनेकी चीज है क्या? कोई पुरुष स्वभावको करे, न था स्वभाव किया जा रहा है, वास्तवमे स्वभावमे थोडी कसर है, कोई खूट टेढ़ा हो गया है सो जीव घिसा जा रहा है, तो ऐसा कोई स्वभाव किए जानेकी चीज है क्या? तो धर्म भी किए जानेकी चीज नही है, तब फिर इतने मात्रसे क्या इस साधकका काम निकल जायगा? यो अगर इतने मात्रसे साधक बन जाय तो सारे जीव इस स्वभाव-

मय हैं। सभी साधक कहलायेंगे। सो साधकपनेकी बात यह है कि इस आत्मधर्मकी जो दृष्टि करे व उस आत्मधर्मका आलम्बन परिचय करे उसे कहते हैं धर्मपालन। लोग कहते है कि धर्मपालन करो। तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि आत्माका जो सहज चैतन्यस्वभाव है उसपर उपयोग दो, उसका आलम्बन करो, यह उसका भाव है। अच्छा, अब पालनविषय क्रममे यह प्रथम बात आयी कि आत्मामे जो अनादि अनन्त अन्त प्रकाशमान स्वभाव है उसकी दृष्टि करे, उसका आलम्बन लेना यही है धर्मपालन। अब यही बात जल्दी सीधे करते तो नही बन रही है, कुछ ऐसा कर्मविपाक है जिसके कारण ऐसा समझकर भी, जानकर भी उसपर नही टिक पाते। तब ऐसी स्थितिमे क्या करना कि हम उस आत्मस्वभावका दर्शन, आलम्बन कर सके, या इसको हम अनुभावात्मक न कर सकें तो पात्रता तो बनाये रहे, हम उस लायक तो रहे जिससे किसी भी समय इस अन्त प्रकाशमान कारणपरमात्मतत्त्वके दर्शन तो कर सकें। इस पात्रताको बनाये रखनेके लिए अब यह सब व्यवहार व्रत संयमका पालन तो अब तीसरे क्रममे आया यह भावभीना व्रत संयमका पालन करना। अब इसपर भी विरले पुरुष ही टिक पाते है। तब ऐसे ज्ञानीने क्या उसे निरखकर फिर अन्य लोक भी धर्मभावसे इसको करे तो वह भी धर्मपालन कहलाया। पर वह हुआ विचारसे धर्मपालन। वास्तवमे धर्मपालन है आत्माका अकृत अनादि अनन्त चित्स्वभावका आश्रय लेना। सो यह निज तत्त्व है वस्तुत. साध्य।

अन्तस्तत्त्वकी साध्यता—हमे इस अन्तस्तत्त्वको किस विधिसे साधना चाहिए? जो कि अभेद षट्कारक विधियोमे बात आती है उस विधिसे हमे स्वभावको साधना चाहिए। तो साध्य है यह अन्तस्तत्त्व, जिसके फलमे प्राप्त होता है निर्मल सिद्ध प्रभुत्व परिणमन। वह है साध्यका फल। साध्यकी जो प्रक्रिया बनाया है, साधनकी जो बात की है, वह उसका फल है। यहाँ इस बातको भी सतर्कतासे जानना चाहिए कि जो यह कह दिया जाता है कि साध्य तो वह सिद्ध अवस्था है और साधक यह भाव है। तो भी वह विधि नही आ सकी है कि जिस विधिसे प्रभुता पायी जा सके। यो ७ राजू ऊपर, लोकके अन्तमे दृष्टि लगाये रहे वह है सिद्ध पर्याय। वे प्रभु अनन्त चतुष्टयके धनी है। अच्छा तो उसे साध्य बना लोगे क्या? उसको क्या कर लोगे? पकड़ नही सकते, वहाँ पर जा नही सकते, उसका वहाँ उपयोग नही ले सकते। तो वह क्या साध्य बन आयेगा? वह भी ज्ञेय रहा, साध्य न रहा। साध्य तो यह अन्त प्रकाशमान स्वरूप है ज्ञानमात्र। इस ज्ञानमात्र अन्तस्तत्वको ऐसा ही अनुकूल ज्ञानोपयोग करके साधना है तो ऐसा साध्य साधक भाव मेरा कही बाहर नही पडा है। यह मैं साधक हू और यही मेरे द्वारा साध्य है, आराध्य है। कभी भी कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थको स्ववश नही कर सकता। किसी भी पदार्थमें यह

सामर्थ्य नही है कि वह किसी परपदार्थकी रचमात्र कुछ परिणतिको कर दे। भले ही निमित्तनैमित्तिक विधियाँ है, लेकिन किसी भी परद्रव्यमे यह सामर्थ्य नही कि किसी परके द्रव्यरूप, गुणरूप, पर्यायरूप कुछ तो कर दे, उस परिणमनमे सहयोग दे दे, उसके परिणमन मे कुछ अपना योगदान तो कर दे। नही कर पाते है। तो इसी तरह कुछ भी साध्य कर सकेगे तो केवल अपनेको साध सकेंगे, दूसरेको हम नही साध सकते।

प्रभुकी आराधनाका प्रयोजन अन्तरतत्त्वकी आराधना—प्रभुकी आराधना स्वयकी साधनाके उद्देश्यसे हुआ करती है कि क्या प्रभुको साधना है, प्रभुका प्रभुत्व करना है क्या, प्रभुको प्रसन्न बनाना है क्या ? अरे प्रभु तो एक प्रतिच्छन्द है, एक आदर्श है, प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पणको हम निरखते है और निरख करके पता पड गया कि मेरे सिरमे यह दाग लगा है या कलई लगी है, तो वह देखनेवाला उस कलई या अन्य किसी चीजके दागको छुटाता है या वह उस दर्पणको छुटाता है, क्योकि वह दाग दिख तो रहा है दर्पणमे और दिख रहा उसी जगह। तो जिस जगह दिख रहा है क्या वह अपनी कालिमा दर्पणमे छुटाता है ? लो यहाँ तो यह बडा बुद्धिमान बना हुआ है, कैसा ? कि जब वह दर्पणको देखता है तो वहाँ बालोको देख रहा है तो सम्हालता है वह अपने बालोको। अगर कोई मल लगा है तो साफ करेगा अपने देहको, अपने सिरपर हाथ फेरेगा। तो इसी तरह प्रभुका ध्यान करके, प्रभुके स्वरूपको देख करके हमे कालिमा विदित हुई। कहाँ विदित हुई ? विवेकी जनोको अपने आपमे विदित होती। किन्तु लौकिक जनोको होती तो हो चाहे उनको भी विदित, लेकिन जो ऊपरी ढगसे आराधना करनेवाला है उसको कही बाहर विदित हो रहा है। कही भी बाहर इन पदार्थोंमे मोह है, इन पदार्थोंमे राग है, इनमे अमुक है, इस तरह देख रहे हैं लोग, लेकिन अपनेको छोडकर बाहर उन दोषोको पोछनेकी कोई विधि, कोई काम बना सकेगा क्या ? अपने आपमे अपने दोषको पोछना पडेगा, दूर करना पडेगा। तो प्रभुकी आराधना तो अपने दोष दर्शन करके दोषोको दूर करनेके लिए है और अपने गुणदर्शन कराके उनको उपलब्ध करनेके लिए है। कर्तव्य यह है कि अपने दोषोको यहाँसे छोडें और गुणो का आलम्बन करे। तो इस प्रकार वही आत्मा साधन है, यही आत्मा साध्य है। किन्तु शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मामे साध्यसाधकका भेद ही नही है।

आत्मामें रागादि भावोंकी वास्तविकता या प्रतीतिमात्रता—इन दो प्रश्नविकल्पोंमें बीसवीं जिज्ञासा—अब २० वी जिज्ञासामे यह जाननेका यत्न किया जा रहा है *कि आत्मा* मे जो ये रागादिक भाव नजर आते है, ये क्या केवल प्रतीतिमात्र ही हो रहे है या वास्तवमे रागादिक भाव होते है। ऐसी जिज्ञासा होनेका आधार यह है कि जब आत्माके सहज शुद्ध स्वरूपका वर्णन सुनते है तो उस वर्णनको सुनकर यह धारणा बनती है कि आत्मा तो

सहज ज्ञानस्वरूप ही है। उसमे इन रागादिक विकारोका कोई प्रसंग नही है और ऐसा स्पष्ट शब्दोमे कहा भी गया है कि रागादिक विकार आत्माके स्वभावमे नही है, तो जो बात वस्तुमे होती है वह तो एक ही होती है। वहाँ फिर दूसरी बात न चलना चाहिए। ऐसी स्थितिमे रागादिक विकार यदि दिखे भी तो यो समझना चाहिए कि प्रतीतमात्र हुआ है, और उसके लिए दृष्टान्त भी यह मिल सकता है कि जैसे स्फटिकमणि शुद्ध स्वच्छ सफेद होती है। उसके पीछे यदि कोई लाल पीला कागज लगा दिया जाय तो उस स्फटिकमे भी लाल पीला रग नजर आता है, किन्तु वहाँ समझमे यह आ रहा है कि स्फटिक तो जैसा था वैसा ही है सफेद स्वच्छ, पर यह लाल जैसा प्रतीत हो रहा है। वहां यह विदित होता है कि यह लाल प्रतीत हो रहा है। यो ही शुद्ध ज्ञानस्वभाव आत्मामे यह प्रतीत होता है कि यह राग है, क्या इस तरह प्रतीयमान होता है अथवा वहाँ वास्तवमे है, जैसे दर्पणमे मुख का प्रतिबिम्ब हुआ तो दपणमे मुखका प्रतिबिम्ब साफ नजर आता है, क्या इस तरहसे रागादिक विकार आत्मामे है ? ये दो प्रकारके प्रश्नविकल्प इस जिज्ञासामे हुए है।

द्रव्यदृष्टिसे रागादिककी प्रतीतिमात्रता व पर्यायदृष्टिसे वस्तुगतता—अब उक्त प्रश्न विकल्पोका समाधान देखिये—रागादिक भाव आत्मामे क्या प्रतीत मात्र होते है ? इसका भाव यह बताया गया था कि जैसे स्फटिक मणिमे लाल पीली आदिक उपाधि प्रतीतमात्र होती है सो ठीक है। यदि द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे निहारा जाय तो वहाँ यही निर्णय होगा कि रागादिक विकार है ही नही। और होनेकी बात कोई लाये तो भी प्रतीतमात्र होता है, जिसको इन शब्दोमे कहा गया 'रागादिक विकार बाहर ही लोटते रहते हैं' उसका तात्पर्य यह है कि विकारका स्वभाव नही बन जाता और सहज स्वभावमे विकार नही पडा हुआ है, इस बातकी पुष्टि इस तरहसे होती है कि जो पहिले १३ वे परिच्छेदमे शक्तियोका वर्णन आया था तो वहाँ यह झाँकी मिली थी कि आत्माकी शक्ति आत्माको विपरीत बनानेके लिए नही हुआ करती है। शक्ति वास्तवमे वह होती है कि जिसको अपना काम करनेके लिए आप ही निमित्त बन जाय, आप ही उपादान हो, आपही निमित्त हो। इसका भाव यह है कि किसी अन्य द्रव्यकी निमित्तताकी प्रतीक्षा न हो। अन्य उपाधि जहाँ निमित्तभूत न हो रहा हो और फिर जो परिणमन हो, वास्तविक शक्ति तो उस कामकी कही जायगी। तो इस दृष्टिसे भी यह बात पुष्ट होती है कि आत्मामे रागादिक विकार नही है, प्रतीतमात्र होता है, किन्तु पर्यायदृष्टिसे निरखने पर तो यह निर्णय होता है कि आत्मामे जिस समय जो पर्याय होती है आत्मा उस पर्यायमय हो जाती है। क्रोधके समय क्रोधमय है, मान, माया लोभ आदिकके समय मान, माया, लोभ आदिकमय है। पर्याय कोई इसके एक अशमे किसी जगहमे प्रदेशमे या ऊपरके प्रदेशमे या प्रदेशपर पर्याय होती हो, ऐसी बात नही है। वह

द्रव्य ही पूरा परिणम रहा है। आकाररूपसे परिणम रहा, भावरूपसे परिणम रहा, जिस भावरूपसे परिणम रहा है उस भावमय वह आत्मा है और इस तरहसे एक ही क्षणमे यह आत्मा ज्ञानपरिणमनमय है, चारित्रपरिणमनमय है। जो जो भी परिणमन होते हो, भले बुरे उन सब परिणमनोमय है वह आत्मा। कही वे पर्यायें आत्मद्रव्यसे जुदी जगहमे प्रतीत होती हो, ऐसी बात नही है।

जिज्ञासूक्त दृष्टान्तमें व दार्ष्टान्तिमें प्रतीतिमात्रता व वास्तविकताका घटन—उक्त विषयमे जो दृष्टान्त दिया गया है जिज्ञासु द्वारा उसपर भी विचार कीजिए। पहिला दृष्टान्त यह था कि स्फटिकमणिमे लाल पीले आदिक रग फैले हुए है। उपाधि लगी हो तो वहाँ वह वास्तवमे नही है। तो इसके भी तो दोनो ही उत्तर है। जब स्फटिक मणिके स्वभाव को निरखते है तब यह विदित होता कि यह लाल पीली उपाधि वहाँ प्रतीत मात्र हो रही है। वह लाल पीली आदिक मय नही हो गयी है। किन्तु जब पर्यायदृष्टिसे विचार करते हैं तो उपाधिका सम्बन्ध होनेपर वह स्फटिक मणि भी उस लाल पीली उपाधि वाली हो गयी है। मगर वह लाल पीलापन औपाधिक है, नैमित्तिक है, इसलिए उपाधिके हटानेपर फिर वह रंग अलग हो जाता है, और उपाधिके लगानेपर फिर वह रग आ जाता है, इस तरह निमित्तकी उपाधि हटनेपर उस नैमित्तिकका अभाव निरखकर यह कहा गया है कि स्फटिकमे लाल, पीला आदिक रग नही हैं, किन्तु जिस समय उपाधि लगी है उस कालमे स्फटिकमणि एक लालरूप बन रही है, और उसका यह बनना इसके नैमित्तिक होनेके कारण दृष्टि चूंकि कुछ निमित्ततापर भी लगी हुई है अत यहाँ यह निर्णय करना कठिन बन रहा है कि उस कालमे तो वह उस रगमय है, इसी तरह द्रव्य-दृष्टिकी प्रधानता रखनेवाले ज्ञानी पुरुषके यह निर्णय बना है कि रागादिक विकार आत्मा मे नहीं है, ये आते हैं, नैमित्तिक भाव हैं और निमित्तके दूर होनेपर नष्ट हो जाते हैं, यह सब विदित हो रहा है, किन्तु उपाधिके सन्निधानके समयमे तो यह आत्मा रागमय, द्वेषमय आदिक अनेकमय हो ही रहा है। यो आत्मा द्रव्यदृष्टिसे निरखा जानेपर तो ऐसा विदित होता कि इसमे रागादिक प्रतीत भर होते हैं, वास्तवमे नही हैं और पर्यायदृष्टिसे निरखनेपर इस आत्माकी इस समय क्या अवस्था हो रही है ? वहाँ यह विदित होता है कि रागादिक भाव आत्मामे वास्तवमे है, वस्तुगत है, उस समयमे उस रूप वहाँ परिणमन है।

रागादिककी प्रतीति व वस्तुगतता इन दोनोंका निर्णय होनेपर आलम्ब्यदृष्टिका समीक्षण—उक्त निर्णयके बीच हमको अधिकतर किसकी ओर प्रमुखतया झुकना है ? तो सुनिये— पर्यायदृष्टिसे आत्मा क्रोधमय है, यह बात जान ली, किन्तु इसीका ही चिन्तन, इसी का ही लक्ष्य रखकर सिद्धि क्या होने की है ? वास्तविक बात है, अतएव परि-

ज्ञान कर लिया यह भी कुछ जरूरी था। हो गया परिचय, मगर रागादिकमय ही आत्मा है, इस प्रकारके चिन्तनसे, आश्रयसे, ध्यान बनाये रहनेसे आत्माकी क्या सिद्धि होती है ? जब इस बातपर दृष्टि देते है तो भले ही एक उससे लगी हुई दूसरी साइडका ध्यान लेकर कह दे कि इससे यह सिद्ध है कि जिसने यह माना कि आत्मा रागमय है तो उसको यह ध्यान होगा कि यह राग निमित्तसे नही आया, परवस्तुसे नही आया, लेकिन यह बिल्कुल अलग साइड है इस तरहकी बात जोडने की। और इस तरह जोडकर भी इतने मात्रसे तो सिद्धि नही बनती। उसके साथ यह भी ध्यान होता है आत्मामे स्वभावत राग नही है। निमित्त-नैमित्तिक भाव माननेका प्रयोजन क्या है ? उसका प्रयोजन यह है कि यह निर्णय हो जाय कि यह भाव नैमित्तिक है, आत्मामे स्वभावत नही पडा हुआ है। तो निमित्तनैमित्तिक भाव की चर्चा करनेका भी प्रयोजन यही है कि हम अविकार स्वभावका परिचय पा ले। लेकिन इतनी बातें तो अभी इस प्रश्नविकल्पके साथ चलायी न थी। तो यहाँ तो यह मीमांसा की जा रही है कि आत्मा रागमय है, इस तरहके चिन्तनसे यह अपनेमे उत्कर्ष क्या कर लेगा ? और जब पहिली बात विचारते है कि आत्मामे रागादिक विकार स्वभावत नही है, यह प्रतीत होता है तो इस दृष्टिमे इसके उत्कर्षका अवसर होता है। अत मुख्यतया हमारी दृष्टि होनी चाहिए द्रव्यदृष्टिकी, लेकिन एकान्त कही हो न जाय, जो कि लक्ष्यपर पहुचानेमे बाधक है एकान्त। उस एकान्तको मिटानेके लिए पर्यायदृष्टिसे जो बात होती है उसका परिज्ञान करना चाहिए। अन्यथा अर्थात् जो पर्यायदृष्टिकी बात बिल्कुल ही नही मानता है उसको शल्य रह सकेगी क्योकि पर्यायकी बात गुजर रही है, उसे मना तो किया नही जा सकता है। और मंतव्यमे उसे मना कर रखा है तो भले ही द्रव्यदृष्टिके एकान्तसे अद्वैतकी बात, ब्रह्मकी बात कही जाय, लेकिन यह भीतरकी शल्य जो ज्ञानविरुद्ध बात बना ली है उस शल्यसे वह आगे न बढ सकेगा। सो पर्यायदृष्टिसे हम उसका परिचय कर ले और उसके पश्चात् फिर हम द्रव्यदृष्टिका एक सत्य आग्रह बना ले वह लाभकारी बात है। तो हमको कर्तव्य यह है कि पर्यायार्थिकनयका विरोध न करके मध्यस्थ होकर द्रव्यदृष्टिका आलम्बन लेकर मोहको दूर करे, इन विकारोसे अपनेको विविक्त अनुभव करे, इससे आत्मसिद्धिका अवसर मिलता है।

मन और बुद्धिकी प्राकृतिकता या स्वाभाविकताकी जिज्ञासा—अब २१ वी जिज्ञासा मे यह जाना जा रहा है कि रागादिक विकार आत्मामे बताये गए है और रागादिक विकारो मे मन आदिक भी उपलक्षित हो जाता है, क्योकि मन और बुद्धि भी आत्माका स्वभाव नही है। तो रागादिक विकार जो विपरीत जैसे लग रहे है, कषाय आदिक जिनमे चेतने का कुछ सम्बन्ध नही विदित होता, उनकी बात तो बता दी, लेकिन उन विकारोकी तरह

जो मन और बुद्धि पाये जा रहे हैं वे प्राकृतिक है या स्वभाविक। यद्यपि प्राकृतिक और स्वाभाविक ये सब पर्यायवाची शब्द जैसे विदित हो रहे है। लोकव्यवहारके अनुसार जिसको कह देते है प्राकृतिक, उसीको कह देते हैं स्वाभाविक। इन दोनोंमें लोग अन्तर नही समझते। किन्तु शब्द दो है और भिन्न-भिन्न धातुओसे बने हुए हैं। तो इनमें अन्तर अवश्य है। और वह अन्तर क्या है उस जिज्ञासाके समाधानके साथ समझमे आ ही जायगा कि प्रकृति किस अर्थ को लेती है। यहाँ जिज्ञासुका प्राकृतिक और स्वाभाविक कहकर एक थोडासा अन्तर लिया हुआ ख्याल बना हुआ है—प्राकृतिक कुछ परिस्थितियोमे कुदरतन हो गया है, यह उसका भाव है और स्वाभाविक माने परिस्थितियोकी जहाँ कोई अपेक्षा नही है फिर कुदरतन हो गया है, कुछ ऐसा ही ख्याल लेकर जिज्ञासु की यह जिज्ञासा हुई है कि मन और बुद्धि प्राकृतिक हैं या स्वाभाविक ?

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें मन और बुद्धिकी प्राकृतिकताका समर्थन—अब उक्त जिज्ञासाके समाधानमे सुनो—मन और बुद्धि ये विकार है, पहिले तो यह निर्णय होना चाहिए सही। यद्यपि बुद्धि नाम ज्ञानका है और ज्ञान आत्माका सहज स्वभाव है, लेकिन बुद्धिका अर्थ ज्ञान करना एक व्यावहारिक ढंगसे है। वस्तुत बुद्धिका अर्थ जुदा है, ज्ञानका अर्थ जुदा है। जो विकल्पसहित जानकारी की जा रही हो, जिसमे इष्ट अनिष्ट आदिक वासना सस्कार भी साथ पडे हुए हो, इस तरह जो जानकारी की जा रही हो वह तो है बुद्धि और जहाँ इष्ट अनिष्ट आदिक वासनायें नही है ऐसा जो जानन चलता हो उसे कहते हैं ज्ञान। तो यहाँ उस ज्ञानके सम्बन्धमे बात नही कही जा रही, किन्तु बुद्धिके सम्बन्धमे कहा जा रहा है, तो बुद्धि विकार हुआ। इसमे विकारके लिए उपाधि बनी मोह रागद्वेष। यद्यपि बुद्धिका उदय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है और उस क्षयोपशमके कारण इसमे विकार नही आते। उसका काम तो एक जाननमात्र है। तो इस बुद्धिमे जो विकार आये है वे मोह रागद्वेषके सम्पर्कसे आये हैं, ऐसी वह बुद्धि और यही कहलाया भावमन। जिस मनमे यह विकल्प होता है, जो द्रव्य मनका एक आधार पाकर होता है वह हुआ मन। मन और बुद्धि कुछ हद तक एक कहलाते हैं और कुछ अंशोमे ये भिन्न-भिन्न कहलाते हैं। बुद्धिका सम्बन्ध एक जाननसे है और मनका सम्बन्ध रति अरति और कुछ प्रीति अप्रीति आदिकसे बना हुआ है। मन और बुद्धि इनमे मनका आश्रय निमित्त है। द्रव्यमन और बुद्धिका आश्रय है—पञ्चेन्द्रिय और मन। किसी बुद्धिमे आधार है मन और मनका आधार है वह एक द्रव्यमन। मन तो सर्व ससारियोमे न होकर सज्ञी जीवोमे ही होता है, बुद्धि सब ससारी जीवोमे है। इस तरह भी मन और बुद्धिमे अन्तर कुछ ज्ञान होता है। तो ऐसे मन और बुद्धिके सम्बन्धमे यह जिज्ञासा होती है कि यह प्राकृतिक है या स्वाभाविक ? इसका

समाधान यह है कि मन और बुद्धि आदिक विकार ये कर्मप्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होते है, इस कारण ये प्राकृतिक कहलाते है।

प्राकृतिकताका प्रमाणसम्मत अर्थ—प्राकृतिक क्या ? जो प्रकृतिका निमित्त पाकर उत्पन्न हो। वह प्रकृति क्या है ? यह द्रव्यकर्म। तो द्रव्यकर्म प्रकृतिके निमित्तसे मन और बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। इस कारण इसें प्राकृतिक कह देनेमें संशय नही रह सकता है। जो लोग प्राकृतिकका अर्थ एक स्वाभाविक या स्वयं कुदरतसे हो गया इस तरह मानते है तो वहाँ कुछ भी वह निरखता है। जैसे प्राकृतिक दृश्य, पहाड, नदी आदिक जो बहुत सुहावने लगते है, जिन्हे देखकर लोग कहते हैं कि यह तो प्राकृतिक दृश्य है। उसका भी यही अर्थ है कि कर्मप्रकृतिके उदयसे निर्मित यह सब रचना है। कितने सुन्दर रंगबिरंगे फूल पत्ते है, बड़े सुहावने ढंगसे पहाडकी रचना है, जहा झरने झर रहे है। ये सब बाते जो एक प्राकृतिक दृश्यके लिए लोग अन्तर्भूत करते है, वे सब प्राकृतिक है ही। अर्थात् कर्म प्रकृतिके उदयसे वहा एकेन्द्रिय जीवोको इस इस प्रकारका शरीर प्राप्त होता है। तो प्राकृतिकका अर्थ है कर्मप्रकृतिके निमित्तसे होने वाला भाव। तो ये मन और बुद्धि इस तरह प्राकृतिक है, किन्तु ये आत्माके सहजभाव नही है, नैमित्तिक भाव है और नैमित्तिक भावको पौद्गलिक कहा गया है, तो ये मन, बुद्धि, विचार तरग ये आत्मामे स्वाभाविक नही हैं, सहजभावसे स्वयं नही है। इस तरहसे ये विकार स्वाभाविक नही कहलाते। इसी कारणसे मन, बुद्धि, आदिक प्रकृतिके विकार माने गए है। जिस सिद्धान्तमे केवल दो तत्त्व माने गए है मूलमे प्रकृति और पुरुष। उसने भी इस बातकी घोषणा की है कि अहकार, बुद्धि, इन्द्रिय आदिक ये सब प्रकृतिसे उत्पन्न हुए है, तो "प्रकृतिसे उत्पन्न हुए है" यह बात शब्दसे तो ठीक बैठ गई, लेकिन वह प्रकृति क्या है ? प्रकृतिका स्वरूप किमात्मक है, यह निर्णयमे नही कर पाया। वह प्रकृति है यह कर्मप्रकृति। जीवमे रागद्वेषादिक भावोका निमित्त पाकर जो कर्मबन्धन है और उन कर्मोमे भिन्न-भिन्न प्रकृति पडती है, ये कर्म ज्ञान को न होने देगे। जब उदयमे आयेंगे तो ये कर्म शरीररचनाके कारण होगे इत्यादिक रूपसे वहा मौलिक आठ प्रकृतियाँ पडी हुई हैं और फिर उनमे भी कुछ कुछ अन्तरके साथ अनेक प्रकृतिया होनेसे १४८ प्रकृतिया हो जाती है और उनमे भी कुछ-कुछ अन्तरके साथ प्रकृतित्व निरखनेपर असंख्याते प्रकृतिया हो जाती है। ऐसी प्रकृतियोके निमित्तसे जो रचना हुई है उसको प्राकृतिक कहते है।

मन और बुद्धिकी प्राकृतिकताके निर्णयका उपसंहार—मन, बुद्धि आदिक ये भी प्रकृतिके निमित्तसे हुए है, अतएव प्राकृतिक है, लेकिन आत्माके सहजभावमे ये नहीं है, इस कारणसे ये स्वाभाविक नही है। कर्म प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होनेपर मन बुद्धि

ये जो कुछ हुए हैं ये आत्माकी शक्तिकी तरगें हैं, सो है वे तरंग, लेकिन ये आत्मामे जो तरग आये है ये भी पर्याययोग्यतासे आये हैं केवल आत्मामे इस प्रकारकी शक्तियाँ नही है कि उसको परनिमित्तकी अपेक्षा न रहे, स्वयं ही निमित्त वने और स्वय ही उपादान रहे और इस स्थितिमे यह चीज होती रहे, ऐसे नही है ये बुद्धि विचार आदिक। जव कि केवलज्ञान, केवलदर्शन आदिक शुद्ध परिणमन इनके लिए वाहरी कोई निमित्त नही है। इसलिए यह ही आत्मा निमित्त है, यह ही आत्मा उपादान है, यह आत्मा उपादान है। यह वात तो सर्वसम्मत है, केवलज्ञान आदिक शुद्ध परिणमनोका उपादान आत्मा है, लेकिन यही आत्मा निमित्त है, यह कथन "वाह्य निमित्त नही है," ऐसा स्पष्ट करनेके लिए ही कहा गया समझना चाहिए। अन्यथा एकत्वमे निमित्त कहनेकी आवश्यकता क्या है ? उपादान है। उसमे निरन्तर उत्पाद होनेकी सामर्थ्य है, इसलिए शुद्ध निर्मल निर्दोप होनेके कारण उस प्रकारके परिणमन निरन्तर चलते रहते है। यह कालद्रव्य निमित्त है, इस कथनका कुछ भी प्रसग नही है, क्योकि कालद्रव्य तो सभी द्रव्योके परिणमनमे सामान्य निमित्त है, निमित्तपनेमे विचार किया जाता है किसी विशिष्ट पदार्थका। तो आत्माके ज्ञानादिकरूप परिणमनमे कोई विशिष्ट पदार्थ निमित्तभूत नही है, इस कारणसे यही आत्मा निमित्त है, यही आत्मा उपादान है उन शुद्ध परिणमनोका और उन्हीकी शक्तियाँ वास्तविक शक्तियाँ मानी जायेंगी। तो इस आत्मब्रह्मकी शक्ति तो स्वभावत इस प्रकार है, पर अशुद्ध पर्यायमे उस ही शक्तिका वल पाकर विचार तरग आदिक रूप भी विकार उत्पन्न होता है। इसी कारणसे ये ब्रह्मके विकार, ब्रह्मकी पर्याय, ब्रह्मे आराम उन दार्शनिकोने माना है और इस दृष्टिसे है भी सत्य वात। लेकिन ये अनैमित्तिक भाव नही है। ये कर्मप्रकृतिका निमित्त पाकर उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, इस कारणसे इन मन, बुद्धि आदिक विकारोको भी स्वाभाविक न कहकर प्राकृतिक कहना चाहिए। प्राकृतिक कहनेसे निमित्तनैमित्तिकपनेका भी वोध होता है, और उससे विविक्त यह मैं अपने सहज स्वच्छ स्वभावमात्र हू, इस प्रकारका परिज्ञान भी होता है। तो इस जिज्ञासाका समाधान यह हुआ कि मन, बुद्धि आदिक भाव प्राकृतिक है, किन्तु स्वाभाविक नही हैं।

मन और बुद्धिकी आत्मासे भिन्नता व अभिन्नताविषयक बाइसवीं जिज्ञासा—२२वी जिज्ञासामे यह जाननेका यत्न होगा कि मन और बुद्धि आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न ? मन और बुद्धिके सम्बन्धमे दार्शनिकताके नाते अनेक दार्शनिकोंमे यह बात प्रसिद्ध है कि मन और बुद्धि ये भिन्न पदार्थ हैं। जैसे मनको जुदा पदार्थ द्रव्यमे माना ही गया है विशेषवादमे और बुद्धिको आत्मासे पृथक् प्रकृतिवादमे माना है और यहा भी जब कुछ विचार करते हैं, निहारते है तो लगता है कि इसके मन अब कहाँ रहा ? दूसरा मन कुछ कह रहा। तो ये अनेक मन विदित हो जाते है। देखो यह मन कल तो कुछ कह रहा था, आज कुछ कह रहा

है। तो ऐसे कारणोसे जिज्ञासुको यह जिज्ञासा बनी कि यह मन आत्मासे भिन्न-भिन्न है, इसी तरह बुद्धिकी बात है। अनेक दार्शनिकोने बुद्धिको, ज्ञानको आत्मासे पृथक् माना और यहाँ भी जब निरखते है तो बुद्धि कभी कम है, कभी अधिक। कभी वह बुद्धि मिट गई, नई बुद्धि बन गई, ऐसे जो उत्कर्ष अपकर्ष, सत्त्व, असत्त्व आदिक निरखते है तो ऐसा प्रतीत होता है जिज्ञासुको कि मानो आत्मा भिन्न है और ये मन, बुद्धि आदिक उससे भिन्न है। तो जुदा कहाँ रखा जाय ? जो भिन्न चीजे होती है उनका आधार भिन्न होता है। तो मन और बुद्धिका आधार भिन्न क्या है ? वह भी जब विदित नही होता तो इस स्थितिमे यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है।

मन और बुद्धिकी आत्मासे भिन्नता व अभिन्नताविषयक जिज्ञासाका समाधान— अब उक्त दो प्रश्नविकल्पोमे आयी हुई इस जिज्ञासाका समाधान करते हैं। इस जिज्ञासाके समाधानमे पहिले यह सोचना होगा कि मन और बुद्धि है क्या चीज ? मन और बुद्धि ये आत्माके आत्मस्वरूपसे विपरीत परिणमन है। मन कहते है विचार करनेको, चिन्तन करनेको। जो विचार मिला है वह मन है और जो जानकारी है वह बुद्धि है। ये दोनो आत्माकी तरग है, आत्मासे पृथक् नही है। तो आत्माके परिणमन तो है ये, पर आत्मस्वभावसे विपरीत परिणमन है। आत्मा ध्रुव है तो मन और बुद्धि अध्रुव है, तो अब इस दृष्टिसे देखा जाय कि जब विपरीत परिणमन है और ये प्राकृतिक है, कर्मप्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुए है अथवा प्रकृतिके क्षयोपशमसे हुए है। क्षयोपशममे भी उदय शामिल है और जहाँ केवल उदय है वहाँ भी उदय है तो ये प्रकृतिका निमित्त पाकर हुए है और अध्रुव है, तो ये आत्मासे भिन्न कहलाये। यो कथंचित् आत्मासे भिन्न है और कथचित् अभिन्न है। मन और बुद्धि इस आत्मब्रह्मकी तरगें है, इस कारणसे मन और बुद्धिके विलासके समयमे ब्रह्मसे अभिन्न कहलाया। तो यह कथचित् आत्मासे अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

वर्तमान प्राप्त मन और बुद्धिके सदुपयोगका अनुरोध— भैया ! जो वर्तमानमे मन और बुद्धि मिली है उस मिली हुई मन, बुद्धिके द्वारा हम अपने आपमे कोई ऐसा अपना विशुद्ध कार्य करे कि जिससे हमे सदाके लिए सकटोसे छूटनेका मौका मिले। ये नष्ट तो होगे ही। मन भी दूर होगा, बुद्धि भी दूर होगी। ये मिले हैं तो इनका हम दुरुपयोग न करे। दुरुपयोगका अर्थ है पञ्चेन्द्रियके विषयोमे मन और बुद्धिका लगाना अथवा किसी विषयमे किसीको अनर्थ करनेमे अपना मन और बुद्धि लगाना, ये सब मन बुद्धिके दुरुपयोग है। इससे आत्मकल्याणसे बहिर्मुख हो जाते है तब ऐसा सत्संगवास करना होता है और इस आत्मीय सत्संगमें अपने उपयोगको रमाये, यही है मन, बुद्धिका सदुपयोग। तो अध्रुव और अपने आपमे प्राप्त यदि यह तत्त्व मिला है तो हमे इस तत्त्वसे पूर्ण लाभ लेना चाहिए

और इस ध्रुव आत्माका आश्रय करके, उसमे ही दृष्टि रखकर, उसमे ही मग्न होकर अपने आपको पवित्र बना लेना चाहिए।

मन और बुद्धिकी चिदाभासताका निर्णय—अब २३ वी जिज्ञासामे उस ही मन, बुद्धिके सम्बन्धमे यह जानना है कि मन और बुद्धि चेतन हैं या अचेतन। जैसे अभी उक्त विवरण दिया है, उससे तो सिद्ध होता है कि यह चेतन है। जब इसमे ब्रह्मकी तरग है तो यह चेतन है और जब ये चैतन्य आत्माका साथ नही निभाते हैं, हुए और मिट गए तो उससे कुछ सदेह होता है कि ये चेतन न होगे तब ही तो ये चेतनसे अलग हट गए। तो ऐसी दुविधामे यह जिज्ञासा हुई है कि मन और बुद्धि चेतन हैं अथवा अचेतन ? समाधान इसका यह है कि चेतन कहेगे किसको ? चेतन कहेगे उसको कि जो सच्चिदानन्द ब्रह्मसे एकताको जोडे, बस वह है चेतन। चैतन्यभाव जो आत्माके साथ एकत्वको जोडे है वह चेतन ऐसा कौन है ? वह सहज ज्ञान दर्शन अथवा वह सहज स्वाभाविक परिणमन। ये आत्माके साथ एकताको जोडते है इस कारण ये चेतन है। लोकमे भी कहते हैं कि यदि कोई योग्य कार्य करे, विवेक पूर्ण रहे तो कहते है कि सचेतन बुद्धिमान नही। तो चेतन वह कहलायेगा जो इस चेतनके साथ एकताको जोडे। तो मन और बुद्धिके बारेमे सोचें कि क्या यह चेतनके साथ एकताको जोडता है ? चेतन है नित्य ध्रुव और मन बुद्धि हैं अध्रुव। चेतन है निर्विकल्प और मन, बुद्धिका स्वरूप है विकल्प। चेतन है स्वत सिद्ध। मन, बुद्धि है प्रकृति सिद्ध। तो जो एकताको नही जोड रहे हैं, स्वरूप निराला जिनका बन रहा है तो ऐसे मन और बुद्धिको चेतन नही कह सकते ? अच्छा चेतन तो नही कह सकते मन व बुद्धिको तब फिर यह बतलाओ कि अचेतन जो शेषके ५ पदार्थ हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इनमे से किसके साथ मन और बुद्धिने एकताको जोडा है ? क्या पुद्गलमे इनका एकत्व है मन और बुद्धिका ? नही है। अन्य धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्यमे भी नही है। तो लो अचेतनसे भी इसकी एकता नही है। अचेतन द्रव्यके ये परिणमन नही हैं, इस कारण इन्हे अचेतन भी नही कहा जा सकता। तब फिर क्या कहा जाना चाहिए ? कह दीजिए—इसको चिदाभास, चेतन नही, अचेतन नही, किन्तु झूठी चेतना। चेतन विवर्त है, इस कारण यह चिदाभास कहलाता है।

मन और बुद्धिमें उपयोगके एकत्वको न करनेका अनुरोध—उक्त विवरणसे हमे यह प्रकाश मिलता है कि हम अपने उपयोगके एकत्वको मन और बुद्धिमे न करें, मन और बुद्धिके बिना यद्यपि रह नही पा रहे, इससे काम भी ले रहे, पर सदा ऐसा सजग रहना चाहिए कि मन और बुद्धिमे निराला केवल सहज चैतन्यस्वरूप हूँ। यह चिदाभास है। जैसे कोई असली और नकली मिले हुए मोतियोमे से नकलीको कहते हैं कि यह आभास है

और आभास जिसे बताया है वह धोखे से खाली नही है। जैसे बिल्कुल अलग डेले पत्थर है, उनसे क्या धोखा आयगा, पर मोतियोंमे मोतियोकी शकल जैसी रहने वाली नकली मोती मिली हों तो धोखा वहा होगा। ठगा कोई कब जायेगा ? क्या बिल्कुल विपरीत स्वरूप वालेसे ठगा जायगा ? ठगा जायगा तो आभाससे। बिल्कुल पृथक् वस्तुसे न ठगा जायगा। तो ये मन बुद्धि चिदाभास हैं। जैसे लगता है कि यह ही मैं हू, तो इसके द्वारा ही ठगाये जाते है। ठगाये जाना यही है कि हम अपने अविकार चित्स्वरूपको अपने उपयोगमे नही ले पाते हैं, यह ही इसका ठगाया जाना कहलाया। पर अपने इस सहजस्वरूपको उपयोगमे नही ले पाते हैं। इसका कारण है कि मन और बुद्धि इनका लगाव रहता है, इस कारण इस अनुपम अमृतपानसे हम वचित रहा करते है। ससारके प्राणी इस मन बुद्धिके ही कारण तो जगतमे रुल रहे है, जिसके मन है उसके मन और बुद्धि दोनो है। जिसके मन नही है उसके बुद्धि तो है ही। एकेन्द्रिय जीवोसे लेकर इन सर्व ससारियोमे बुद्धि तो है, पर मन है संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोमे। जहा मन है वहा बुद्धिका और विशेष ढगसे विकास होता है और जहा मन नही है वहा इसका उसके अनुरूप कार्य होता है। सभी ससारी जीव इस मन और बुद्धिके चक्रमे फस गए है। इस चिदाभाससे निराला सहज ज्ञानज्योतिस्वरूप मैं हू। यह अनुभव नही हो पाया है यही तो कारण है कि जगतमे ऐसे बेहताश डोल रहे है।

आत्मतत्त्वकी सविकारता, निर्विकारता व अविकारताकी जिज्ञासाका समाधान—अब २४ वी जिज्ञासा पूछ रहे हैं कि आत्मा सविकार है या निर्विकार या अविकार ? सविकार का अर्थ है विकारसहित, विकारमय होना। आत्मामे विकार पडा है। निर्विकारका अर्थ है विकाररहित होना। आत्मामे से विकार निर्गत हो गये है, अब विकारोका लेश नही रहा है। और अविकारका अर्थ है कि विकारोका सत्त्व ही न था। उसका पहिलेसे ही अभाव है। इन तीनो स्थितियोमे से आत्माकी स्थिति क्या है ? क्या वह सविकार है या निर्विकार या अविकार ? जैसे कि पूछा गया था कि आत्मा कर्मबन्धनसे युक्त है या वियुक्त है या अयुक्त है। युक्तमे बन्धन पडा है, वियुक्तमे बन्धन दूर हो गया और अयुक्तमे बन्धन था ही नही। पहिलेसे ही ऐसा ही सत् बना हुआ है। ऐसे ही यहाँ पूछा जा रहा है कि आत्मा सविकार है या निर्विकार या अविकार। इसका समाधान दो दृष्टियोसे मिलेगा। निश्चय-दृष्टि और व्यवहारदृष्टिसे। निश्चयदृष्टिसे तो उत्तर होगा कि आत्मा अविकार है। यहाँ इस निश्चयका अर्थ है शुद्धनय। तो शुद्धनयसे ज्ञात हुआ कि आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है, उसमे विकार नही है। जैसे चौकीका क्या स्वरूप है ? मैल सहित होना चौकीका स्वरूप है या मैलरहित होना या अपने स्वरूपमात्र होना ? तो मैलसहित होना यह चौकीका स्वरूप

नही। मैलरहित होना—ऐसा कहनेमे भी चौकी निजकी बात नही आ पायी। चौकी है क्या चीज ? और चौकीका निज स्वरूप बताया गया तब चौकीका स्वरूप विदित होगा। ऐसे ही शुद्धनयसे आत्मा न विकारसहित है, न विकार रहित है किन्तु अविकार है, विकारका वहाँ नाम भी मत लगाओ। वह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, और व्यवहारनयसे चूंकि सभी पदार्थ पर्यायमय सदा रहा करते है, पर्यायशून्य कोई पदार्थ नही होता। आत्मा भी सत् है, वह भी पर्यायशून्य न हो सकेगा, किसी न किसी पर्यायमय होगा ही। तो उस पर्यायदृष्टिसे देखते है तो आत्मा अशुद्ध पर्यायदृष्टिसे सविकार है और शुद्ध पर्यायदृष्टिसे निर्विकार है, अथवा इन तीन प्रश्नोको निश्चयनयसे ही समाधानमे लिया जाय तो निश्चयनयके तीन भेद हो जायेगे—परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय। निश्चयनयका स्वरूप है स्वाश्रितो निश्चय —जो स्वके आश्रित हो, वैसा ही परिचय है उसे कहते है शुद्ध-निश्चयनय। तो एक ही आत्माको निरख करके पर्यायको बताया जाय, गुणको बताया जाय, स्वभावको बताया जाय। कुछ भी बताया जाय, दूसरे पदार्थका आश्रय लिए बिना बताया जाय तो वे सभी निश्चयनय कहलाते है। तो परमशुद्ध निश्चयनयसे तो यह आत्मा अविकार है, विकारका उसमे सहित रहितपना न नजर आयगा। न अविकार है, न निर्विकार है, न अविकार है, किन्तु शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध पर्यायसे आत्माको देखा जा रहा है तो वह निर्विकार आत्मा विदित हो रहा है और अशुद्ध निश्चयनयसे आत्मा सविकार है। यहाँ अशुद्ध पर्यायार्थिकनयमे आत्मा ही देखा जा रहा है। इस प्रकार इन तीन नयोकी दृष्टिसे आत्मा सविकार, निर्विकार और अविकार सिद्ध होता है।

आत्माकी सविकारता, निर्विकारता व अविकारतामें हेय उपेय उपाय तत्त्वका प्रतिपादन—आत्माका सविकारपना तो हेय है और निर्विकारपना उपादेय है और अविकारका आश्रय लेना उसका उपाय है। ये ससारकी अवस्थायें, ये दु खमय हैं, सो सभी जन जानते है कि जीवोको परेशानी, हैरानी क्या है ? अपनेमे विकारभावका लाना यह ही परेशानी है और वे विकार जिसके जितने खराब होते है, जितने अधिक बुरे होते हैं वे उतने ही भीतरमे सक्लिष्ट है, दु खी रहते हैं। तो सविकारपना हेय है और निर्विकार अवस्था मुक्त अवस्था उपादेय है। वह भी आत्मा है और हम आप भी आत्मा हैं। अब यही पर्याय दृष्टि से कितना अन्तर पडा हुआ है ? चीज एक है जैसा वह है वैसा मैं हूँ, अमूर्त हूँ। सब बातें तो समान मिल रही हैं लेकिन एक परिणमनका अन्तर आ गया। यह कितना महान् अन्तर आ गया कि वह तो निर्विकार है। उसे कुछ विकल्प नही और वहा कोई व्यक्तरूपसे यहाँ निरख भी नही पाता, इतना वह सम हो गया, जिसके बारेमे कुछ दार्शनिक कहते हैं कि जैसे बूंद समुद्रमे मिल गया तो बूंदका अस्तित्व न रहा, वे सिद्ध प्रभु ऐसी समतामे आ गए

कि उनका स्वरूप, उनका अस्तित्व यो जल्दी-जल्दी लोगोको विदित नही हो सकता। तब सोचिये तत्त्वनिर्णय और उस विनिश्चियमे अपने उपयोगको लगायेंगे तब ही जान पायेंगे और अनन्तोको जान भी गए। उससे उतना लाभ नही है जितना एक सिद्ध स्वरूपको जान लेनेमे है। अनन्त सिद्ध है, पृथक्-पृथक् ऐसे विराजमान है। कोई साढे तीन हाथकी अवगाहनाका है, कोई ५२५ धनुषकी अवगाहनाका है, कोई इसके बीचकी कितनी ही अवगाहना का है। एकमे एक समाये हुए है, सिद्धका वर्णन करते जाइये। उस व्यक्तिगत वर्णनसे वह स्वानुभवार्थी वह लाभ न ले पायगा जो कि सिद्ध शुद्ध चैतन्यस्वरूपके ध्यानसे लाभ ले लेगा। जहा व्यक्तियोपर दृष्टि नही, किन्तु एक शुद्ध ज्ञानमय स्वरूपपर दृष्टि हो, उस दृष्टिसे यह अपने आपमे उतर कर अपने आपको स्वानुभवका अधिकारी निकट कालमे बना लेता है। तो सविकार अवस्था तो हुई हेय, निर्विकल्प अवस्था हुई उपादेय और उपाय क्या हुआ सविकारको हटानेका। निर्विकारको पानेका उपाय है अविकार स्वभावका आलम्बन। देखिये—कितना सुगम काम है ? यह उपयोग सबका अपना-अपना अपनेमे है। यहा जान रहे है कि सब अपने आपमे बादशाह हैं। अब इससे हम जानकारीका काम अपने आपके स्वरूपके विपयमे ले तो यह कितनी सुगम बात है ? और इसका कितना ऊँचा परिणाम होगा कि यह सदाके लिए सबटोसे मुक्त हो जाय, केवल हो जाय। यह बात हो जायगी। केवलकी उपासनासे कैवल्य प्रकट होता है। कोई आत्माका कैवल्य तो चाहता है अर्थात् खाली आत्मा ही आत्मा रह जाय, यह अवस्था तो चाहता है और अन्दरमे देहादिक के लगाव बनाये है तो कैवल्य अवस्था कभी नही हो सकती। देहविविक्त सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र केवल अन्तस्तत्त्वका आलम्बन हो तो उसका इतना बडा प्रताप है कि भव-भव के कर्म निर्जीर्ण हो जायेंगे और इसका कैवल्य प्रकट हो जायगा। तो अविकार अवस्थाका आलम्बन सविकारको दूर करनेका व निर्विकारको पानेका उपाय है।

शब्दसंख्याके बराबर जिज्ञासाओंकी संभवता—अब इस परिच्छेद की समाप्तिके समय पहिले जो चर्चा आयी है उससे सम्बधित यह जानकारी करना है कि जैसे अभी २४ जिज्ञासाये कही गई हैं, इस तरहसे क्या और विकल्प द्वारा भी आत्माका परिचय किया जा सकता है ? और तो विचार किया जा सकता है तो कितने विकल्पो द्वारा ? जितने वाचक शब्द हो, सम्भव जितने प्रवाचक शब्द है उतने ही विकल्प बन सकते और उतने ही विकल्पो द्वारा आत्मतत्त्वका परिज्ञान किया जा सकता है। सिद्ध प्रभुकी मूर्ति बनाते है तो कैसे बनाते है ? १६ स्वर और ३३ व्यञ्जन और जो भी जिह्वामूलीय उपध्मानीय आ अनुस्वारादि है इन सबका यंत्र बनाया है, और उस यंत्रमे एक सिद्ध प्रभुकी प्रतिष्ठा करते है। अक्षरोसे सिद्धका क्या मतलब होता ? अरे प्रत्येक अक्षर सिद्ध प्रभुके वाचक है। स

अक्षरोसे सिद्ध प्रभुकी महिमा जानी जा सकती है। कोई भी विशेषण लगायेगे उसके पहिले कोई अक्षर तो है। कोई अकेला अक्षर वाचक है, कोई कुछ अक्षर मिलकर वाचक हैं। तो ऐसे ये मिलकर अक्षर सिद्धस्वरूपके वाचक हैं। तो सकल तो उनकी थी नही, केवल उनके जाननेके स्थान शब्द थे, तो उन शब्दो द्वारा मूर्तिकी प्रतिष्ठा की गई। जिसे कहते है शुद्ध जानना। तो जानना सम्बन्धवाचक शब्द है, इतने ही विकल्पके द्वारा आत्माका परिज्ञान किया जा सकता है। तो उनमेसे कोई भी विकल्प, मूल प्रस्तावकी दृष्टि जिसके बारेमे कुछ समझना है तो उसके भी तीन उत्तर होगे। एक जो प्रस्तुत वचन रखा वह एक और उसका प्रतिपक्षी एक और एक अनुभय। कोई भी विकल्प रखे, तीन प्रकारसे उनका उत्तर होगा, ऐसी नाना जो भी जिज्ञासाये हो उनका भी समाधान निश्चय और व्यवहारदृष्टिसे लगा लेना चाहिए।

शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपासनाका लाभ—इस परिच्छेदमे प्रारम्भमे यह जिज्ञासा की गई थी कि जिस शुद्ध आत्माके आश्रयसे मोक्षमार्ग चलता है उसका क्या स्वरूप है ? उस स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्वका भी परिज्ञान करनेसे लाभ क्या होगा ? किस शुद्ध आत्मत्वके ध्यानकी बात कही जा रही है ? जो सर्वगुणभेदोसे परे है, जो समस्त परिणमनोसे परे है और यह शुद्ध है, इस प्रकार के विकल्पसे भी जो परे है, ऐसा जो निज शुद्ध आत्मतत्त्व है, उसका ध्यान करनेसे उसका ज्ञानमात्र करनेसे निर्विकल्प समाधि प्रकट होती है।

साधु परमेष्ठीके स्वरूपमें बताया है ज्ञानध्यानतपोरक्त। साधु क्या होता है ? जो ज्ञानध्यान–तपश्चरणमे रत हो। सबसे मुख्य काम है ज्ञान। ऐसा ज्ञान नही जो लोकमे प्रचलित है, किन्तु एक जाननमात्र, ऐसा केवल जाननमात्र रहना यह सिद्धका उत्कृष्ट काम है और इस काममे न रह सके तो ध्यान करें, लेकिन ध्यान दूसरे नम्बरका काम है और ध्यानमे भी न आये तो तपश्चरण करें, लेकिन अनशन आदिक तपश्चरण करें, यह तीसरे क्रममे आता है। तो उस ज्ञानकी बात कह रहे है कि उस शुद्ध अन्तस्तत्त्वका ज्ञान हो तो निर्विकल्प समाधि होती है, जिसका फल ही सदाके लिए अनन्त आनन्द प्रकट होना है। इसी ध्येयसे हम आपका एक जीवनमे दृढ निर्णय हो। मेरेको काम है केवल तो एक अपने आपका जो शुद्ध सहज स्वरूप है उसकी ओर बारबार आना, उसे निरखना, उसका आश्रय करना, ध्यान करना। वहाँ उपयोगको रख करके अपनेको शान्त और तृप्त अनुभव करना। यही उपाय है सदाके लिए सकटोसे छुटकारा प्राप्त करने का।

॥ अध्यात्मसहस्री प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥